एम.ए. उत्तरार्द्ध
इतिहास, सप्तम् प्रश्नपत्र

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा

(OUTLINE OF INDIAN CULTURE)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY – BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. P.G. College, Beena (M.P.)
2. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Anjali Singh
   Director, Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
4. Dr. Mukesh Dixit
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)
5. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)
6. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Neha Mandal, Faculty, Department of History and Civilization, Gautam Buddha University, Greater Noida, U.P.
Units (1.2.2, 3.3-3.4, 4, 5)

Dr. Nirja Sharma, Assistant Professor, Department of Buddhist Studies, University of Delhi, Delhi
Units (1.0-1.1, 1.2-1.2.1, 1.3, 1.4-1.4.2, 1.4.3, 1.5-1.9, 2.0-2.1, 2.2, 2.2.1, 2.2.3-2.7, 3.0-3.1, 3.2-3.2.1, 3.2.2, 3.2.3, 3.5-3.9)

Dr. Aruna Sharma, Reader and Head, Dept. of History, Ginni Devi Modi Girls P.G. College, Ghaziabad, U.P.

Ms. Jyoti, Dept. of History, Ginni Devi Modi Girls P.G. College, Ghaziabad, U.P.

Unit (2.2.2)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 भारतीय संस्कृति : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं विवेचनाएं– संस्कृति : अर्थ–परिभाषाएं, व्यापकता एवं स्वरूपगत लक्षण, भारतीय संस्कृति की विविध विवेचनाएं; प्रागैतिहासिक एवं आद्य इतिहास– प्रागैतिहासिक काल, प्रागैतिहासिक अवस्थिति के स्वरूपगत तथ्य, प्राचीन एवं वैदिक युगीन अवस्थिति; ऐतिहासिक पृष्ठभूमि– महाजनपदों का अभ्युदय एवं विविध वंशों की व्यवस्था, मौर्यकालीन व्यवस्था, दिल्ली सल्तनतकालीन व्यवस्था	**इकाई 1 :** भारतीय संस्कृति : अर्थ एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि **(पृष्ठ 3–121)**
इकाई–2 धार्मिक धारणाएं एवं उनकी अवस्थिति– प्राचीन धार्मिक धारणाएं : वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्म, मध्यकालीन धार्मिक धारणाएं : भक्ति आंदोलन, सूफीवाद, आधुनिक धार्मिक धारणाएं : धर्मनिरपेक्षता–भौतिकतावाद बनाम अध्यात्मवाद	**इकाई 2** : धार्मिक धारणाएं और प्रयोग (स्वरूप) **(पृष्ठ 123–164)**
इकाई–3 समाज और इसकी शासन व्यवस्था– समाज, सामाजिक व्यवस्था : अर्थ, तत्व एवं सिद्धांत, समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था : कानून, शिक्षा एवं बल प्रयोग; सामाजिक–आर्थिक मूल्य और संस्थाएं– प्राचीन भारत में सामाजिक–आर्थिक मूल्य एवं संस्थाएं, मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत में सामाजिक आर्थिक मूल्य एवं संस्थाएं; राजनीतिक मूल्य और संस्थाएं– प्राचीन भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं, मध्यकालीन व आधुनिक भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं	**इकाई 3 : समाज और शासन प्रबंध (पृष्ठ 165–196)**
इकाई–4 भारतीय संस्कृति में साहित्य का स्वरूप; भारतीय संस्कृति में कला का स्वरूप	**इकाई 4 : साहित्य और कला (पृष्ठ 197–224)**
इकाई–5 भारतीय संस्कृति में दर्शन– भारतीय दर्शन की शाखायें, नास्तिक दर्शन; भारतीय संस्कृति में विज्ञान– प्राचीन परिदृश्य, आधुनिक परिदृश्य	**इकाई 5 : दर्शनशास्त्र और विज्ञान (पृष्ठ 225–236)**

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 भारतीय संस्कृति : अर्थ एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि **3–121**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय संस्कृति : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं विवेचनाएं
  1.2.1 संस्कृति : अर्थ–परिभाषाएं, व्यापकता एवं स्वरूपगत लक्षण
  1.2.2 भारतीय संस्कृति की विविध विवेचनाएं
1.3 प्रागैतिहासिक एवं आद्य इतिहास
  1.3.1 प्रागैतिहासिक काल
  1.3.2 प्रागैतिहासिक अवस्थिति के स्वरूपगत तथ्य
  1.3.3 प्राचीन एवं वैदिक युगीन अवस्थिति
1.4 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  1.4.1 महाजनपदों का अभ्युदय एवं विविध वंशों की व्यवस्था
  1.4.2 मौर्यकालीन व्यवस्था
  1.4.3 दिल्ली सल्तनतकालीन व्यवस्था
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 धार्मिक धारणाएं और प्रयोग (स्वरूप) **123–164**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 धार्मिक धारणाएं एवं उनकी अवस्थिति
  2.2.1 प्राचीन धार्मिक धारणाएं : वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्म
  2.2.2 मध्यकालीन धार्मिक धारणाएं : भक्ति आंदोलन, सूफीवाद
  2.2.3 आधुनिक धार्मिक धारणाएं : धर्मनिरपेक्षता–भौतिकतावाद बनाम अध्यात्मवाद
2.3 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.4 सारांश
2.5 मुख्य शब्दावली
2.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.7 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 समाज और शासन प्रबंध **165–196**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 समाज और इसकी शासन व्यवस्था
  3.2.1 समाज
  3.2.2 सामाजिक व्यवस्था : अर्थ, तत्व एवं सिद्धांत
  3.2.3 समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था : कानून, शिक्षा एवं बल प्रयोग

3.3 सामाजिक–आर्थिक मूल्य और संस्थाएं
3.3.1 प्राचीन भारत में सामाजिक–आर्थिक मूल्य एवं संस्थाएं
3.3.2 मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत में सामाजिक–आर्थिक मूल्य व संस्थाएं
3.4 राजनीतिक मूल्य और संस्थाएं
3.4.1 प्राचीन भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं
3.4.2 मध्यकालीन व आधुनिक भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 साहित्य और कला **197–224**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 भारतीय संस्कृति में साहित्य का स्वरूप
4.3 भारतीय संस्कृति में कला का स्वरूप
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 दर्शनशास्त्र और विज्ञान **225–236**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारतीय संस्कृति में दर्शन
5.2.1 भारतीय दर्शन की शाखायें
5.2.2 नास्तिक दर्शन
5.3 भारतीय संस्कृति में विज्ञान
5.3.1 प्राचीन परिदृश्य
5.3.2 आधुनिक परिदृश्य
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा' का लेखन विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम के अनुरूप किया गया है।

सीखे हुए व्यवहारों की संपूर्णता संस्कृति है। संस्कृति का यह सामान्य अर्थ है। संस्कृति की अवधारणा इतनी व्यापक है कि इसे समग्रतया परिभाषित करना असंभव है। मानव विज्ञानी मैलिनोव्स्की के शब्दों में कहें तो, "मानव जाति की समस्त सामाजिक विरासत या मानव की समस्त संचित सृष्टि का नाम संस्कृति है।" विचार, भावना, मूल्य, विश्वास, मान्यता, चेतना, ज्ञान, कर्म, धर्म, भोजन–वस्त्र–आवास, विज्ञान और प्रौद्योगिकी आदि सभी कुछ संस्कृति में शामिल है।

वैदिक युग में विकसित हुई भारतीय संस्कृति बहुआयामी है। इसके महान इतिहास व विलक्षण भूगोल का निर्माण सिंधु घाटी सभ्यता से अस्तित्व में आता है। विगत पांच सहस्राब्दियों से अधिक समय से रीति–रिवाज, भाषाएं–प्रथाएं और विविध विचारधाराओं संबंधी विविधताओं के बीच एकता की अनूठी मिसाल पेश करती है भारतीय संस्कृति।

इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति की रूपरेखा का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषय–विश्लेषण से पूर्व प्रत्येक अध्याय की विषय–वस्तु का परिचय एवं उद्देश्य स्पष्ट कर दिए गए हैं। विद्यार्थियों के स्व–मूल्यांकन हेतु प्रत्येक अध्याय के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' स्तंभ के तहत वैकल्पिक प्रश्न भी दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए समूचे पाठ्यक्रम को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। इन इकाइयों का विवरण निम्नलिखित है–

पहली इकाई में संस्कृति का स्वरूप, लक्षण एवं इसकी व्यापकता को स्पष्ट करते हुए भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरी इकाई धार्मिक धारणाओं एवं उनके स्वरूप पर आधारित है। इसमें प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक धार्मिक धारणाओं की विवेचना की गई है।

तीसरी इकाई समाज एवं शासन प्रबंध से हमें परिचित कराती है। इसमें समाज की अर्थवत्ता स्पष्ट करते हुए, सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाओं का रेखांकन भी इस इकाई में किया गया है।

चौथी इकाई साहित्य और कला पर आधारित है। इसमें भारतीय संस्कृति में साहित्य और कला का क्या स्वरूप है, यह विश्लेषित किया गया है।

पांचवीं इकाई में भारतीय संस्कृति में दर्शन एवं विज्ञान दोनों की अवस्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

भारतीय संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक है कि इसे किसी भी पुस्तक में समग्रतः समेट पाना संभव नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में पाठ्यक्रम निर्धारित सभी पहलुओं पर स्तरीय विश्लेषण सरल एवं सहज भाषा में किया गया है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक अध्येताओं का ज्ञानवर्धन एवं मार्गदर्शन करने में सहायक सिद्ध होगी।

टिप्पणी

इकाई 1 भारतीय संस्कृति : अर्थ एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय संस्कृति : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं विवेचनाएं
  1.2.1 संस्कृति : अर्थ–परिभाषाएं, व्यापकता एवं स्वरूपगत लक्षण
  1.2.2 भारतीय संस्कृति की विविध विवेचनाएं
1.3 प्रागैतिहासिक एवं आद्य इतिहास
  1.3.1 प्रागैतिहासिक काल
  1.3.2 प्रागैतिहासिक अवस्थिति के स्वरूपगत तथ्य
  1.3.3 प्राचीन एवं वैदिक युगीन अवस्थिति
1.4 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  1.4.1 महाजनपदों का अभ्युदय एवं विविध वंशों की व्यवस्था
  1.4.2 मौर्यकालीन व्यवस्था
  1.4.3 दिल्ली सल्तनतकालीन व्यवस्था
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

'संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति के जीवन के प्रतिमानों, व्यवहारों, अनेकानेक भौतिक एवं अभौतिक प्रतीकों, परंपराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों, मानवीय अंतःक्रियाओं और आविष्कारों को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुतः भारत विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति वाला देश है। अन्य देशों की संस्कृतियां तो समय की धारा के साथ–साथ लुप्त होती रहीं परंतु भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ कायम रही है। इसकी उदारता तथा समन्वयवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किंतु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में इतना अधिक संबंध है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है इसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। संस्कृति एक जटिल अवधारणा है जिसे एक ऐसी व्यवस्था माना जाता है जिसमें व्यवहार के ढंग भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परंपराएं, ज्ञान, विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं।

टिप्पणी

इस इकाई में हम संस्कृति का स्वरूप समझते हुए भारतीय संस्कृति की अर्थवत्ता, विशिष्टता एवं ऐतिहासिकता का अवलोकन करेंगे।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- संस्कृति के स्वरूपगत लक्षण एवं इसकी व्यापकता को समझ पाएंगे;
- भारतीय संस्कृति की विविध विवेचनाओं से अवगत हो पाएंगे;
- भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवलोकन कर पाएंगे।

1.2 भारतीय संस्कृति : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं विवेचनाएं

भारतीय संस्कृति की विवेचना एवं इसकी ऐतिहासिकता को समझने से पूर्व संस्कृति की अर्थवत्ता पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा।

1.2.1 संस्कृति : अर्थ–परिभाषाएं, व्यापकता एवं स्वरूपगत लक्षण

मनुष्य के व्यक्तित्व की दिशा को संस्कृति ही निश्चित करती है। हालांकि संस्कृति सार एवं निर्देशों को ही इंगित करती है। ये सार एवं निर्देश सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के रूप में प्रदर्शित होते हैं। मनुष्य का व्यवहार समाज की संस्कृति के द्वारा ही परिभाषित होता है। समाज की संस्कृति के अनुरूप ही उस समाज के सदस्यों एवं व्यक्तियों का व्यवहार भी होगा। भारतीय समाज में स्त्रियों को सम्मान देने की संस्कृति है जिस कारण व्यक्तियों को स्त्रियों को सम्मान, चाहे या अनचाहे सार्वजनिक रूप से देना ही होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यों के जीवन निर्वाह की पद्धति के रूप में संस्कृति को लिया जा सकता है। यह मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाने के लिए आवश्यक भी होती है। मनुष्य संस्कृति को अपने दैनिक जीवन के व्यवहार में ले आते हैं।

मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने के लिए, कुछ मूलभूत प्रक्रियाएं अवश्य ही करनी पड़ती हैं। इस संदर्भ में समाज में व्यक्ति, समाज एवं इसकी संस्कृति का अध्ययन करना आवश्यक है। मनुष्य का जन्म तो एक भौतिक शरीर के रूप में इस पृथ्वी पर होता है परंतु जन्म के समय वह एक प्राणी या स्थूल शरीर मात्र है जो पशुवत होता है। उसे यह नहीं पता होता है कि अपनी दैनिक क्रियाएं किस मान्यता के आधार पर संपादित करनी हैं। जन्म के पश्चात समाज में आने पर बच्चा अपने आस–पड़ोस में हो रही क्रियाओं को सीख कर ज्ञान प्राप्त करता है कि किस कार्य को किस प्रकार से करना सामाजिक क्रिया है अथवा उससे एक मान्यता प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को संस्कृति के द्वारा सभ्य एवं सामाजिक बनाया जाता है।

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषाएं

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा के शब्द से बना है। सम+कृ+क्ति = संस्कृति। संस्कृति को हम संस्कार का रूपांतरित शब्द मानते हैं। संस्कृति मनुष्य की अमूल्य निधि होती

टिप्पणी

है। संस्कृति एक पर्यावरण है, जिसमें रहकर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी बन जाता है, एवं प्रकृति को स्वयं के अनुकूल बनाने की क्षमता भी अर्जित करता है।

संस्कृति का अर्थ है– 'मनुष्य का समाजीकरण'। अतः मनुष्य को समाज के अनुसार ढालने की प्रक्रिया संस्कृति के अनुसार होती है। जब सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक एवं संस्कृतिमूलक कारकों की निर्णायक भूमिका होती है तो इसे सांस्कृतिक सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

संस्कृति के कारण ही मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त करता है अन्यथा यह पशुवत रह जाएगा। मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए ही संस्कृति का उपयोग किया जाता है। अर्थात व्यक्ति को व्यक्तिवत बनाने की प्रक्रिया में संस्कृति की अंतःक्रियाओं को अनिवार्य रूप से संपादित करना होता है।

लिंटन के अनुसार, "संस्कृति समाज के व्यक्तियों के जीवन जीने के मार्ग को प्रशस्त करके जीवन जीने में सहायता करती है। यह प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती रहती है।"

किम्बले यंग के अनुसार, "समाज में पारस्परिक अंतःक्रियाएं करने के लिए संस्कृति दिशा एवं सार प्रदान करने का कार्य करती है।"

रूथ बेनेडिक्ट ने संस्कृति को मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए कच्चा माल उपलब्ध करवाने वाला माना है।

लिंटन ने मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में संस्कृति की निम्नांकित मान्यताओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया है–

- बचपन में बालक जो सीखते हैं वे अनुभव जीवनपर्यंत उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते रहते हैं।
- प्रत्येक समाज की संस्कृति दूसरे समाजों से भिन्न होती है।
- समाज में अधिकांश व्यक्ति प्रारंभिक अनुभवों को समान रूप से अनुभव करते हैं।
- एक समान अनुभव, एक समान व्यक्तित्व को उत्पन्न करते हैं।
- समाज में बच्चों के पालन–पोषण की विधियां प्रत्येक समाज में भिन्न–भिन्न होती हैं।
- संस्कृति के अलग होने के कई कारण होते हैं– जैसे भौगोलिक, आर्थिक आदि।
- बाल्यकाल के अनुभव बालक के संभावित व्यक्तित्व को निर्देशित करते हैं।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि समाज में संस्कृति के अनुरूप ही इसके सदस्यों का व्यक्तित्व भी ढल जाता है।

क्लाइड क्लूकोन का कहना है कि– संस्कृति व्यक्ति द्वारा जीवन निर्वाह करने की एक पद्धति होती है। यह पद्धति मनुष्य अपने सहयोगी व्यक्तियों के साथ पारस्परिक रूप से साझा करते हैं।

संस्कृति के आधार पर मनुष्य यह सोच पाता है कि उसके लिए क्या उपयोगी है अथवा क्या उपयोगी नहीं है। समाज की इसी संस्कृति के आधार पर मनुष्य अपनी

टिप्पणी

जीवन पद्धति को अपनाकर जीवनयापन करते हैं। परंतु मनुष्य एवं पशु में अंतर यही होता है कि मनुष्य अपने व्यवहार का बुद्धि के बल पर उपयोग करता है जबकि पशु अपने मूल स्वभाव के आधार पर क्रियाएं करते हैं। मनुष्य एवं पशुओं में संवेदनाएं तो होती हैं पर मनुष्य अपनी संवेदनाओं के अनुसार सही–गलत का निर्णय करके ही व्यवहार करते हैं जबकि पशु अपने मूल व्यवहार के अनुसार ही क्रिया करते हैं।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार– "संस्कृति हमारे नित्य प्रतिदिन के रहन–सहन, साहित्य, धर्म, कला, मनोरंजन तथा आनंद में पाए जाने वाले विचारों के ढंग में हमारी प्राकृतिक अभिव्यक्ति है।"

संस्कृति की परिभाषा को निम्न प्रकार से सूत्रबद्ध किया जा सकता है–

(क) संस्कृति सोचने, अनुभव करने तथा विश्वास करने का एक तरीका है।

(ख) संस्कृति लोगों के जीने का एक संपूर्ण तरीका है।

(ग) संस्कृति व्यवहार का सारांश है।

(घ) संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है।

(ङ) संस्कृति सीखी हुई चीजों का एक भंडार है।

(च) संस्कृति सामाजिक धरोहर है जो कि व्यक्ति अपने समूह से प्राप्त करता है।

(छ) संस्कृति बार–बार घट रही समस्याओं के लिए मानकीकृत दिशाओं का एक समुच्चय है।

(ज) संस्कृति व्यवहार के मानकीय नियमितीकरण हेतु एक साधन है। उपर्युक्त अर्थों में संस्कृति को सामाजिक धरोहर के रूप में स्वीकार करना उचित है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। यह सीखा हुआ व्यवहार है। मनुष्य भौतिक, मानसिक जगत तथा प्राणिशास्त्र में जो कुछ पर्यावरण से सीखता है उसी को संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति में समस्त रीति–रिवाज, प्रथाएं, रूढ़ियां आदि आ जाती हैं, चाहे वे कल्याणकारी हों अथवा न हों।

'होबेल' की मान्यता है कि– 'वह संस्कृति ही है, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों से, एक समूह को दूसरे समूहों से और एक समाज को दूसरे समाजों से अलग करती है।'

व्यक्ति की आंतरिक व बाह्य क्रियाएं संस्कारों के अनुसार होती हैं। कल्चर शब्द लैटिन भाषा के शब्द से बना है जिसका अर्थ जोतना अथवा भूमि पर हल चलाना है। जो व्यक्ति परिष्कृत अथवा पढ़ा–लिखा था उसे सुसंस्कृत कहा जाता है।

संस्कृति एक ऐसी जटिल अवधारणा है जिसे ऐसी व्यवस्था माना जाता है जिसमें व्यवहार के ढंग भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परंपराएं, ज्ञान विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं। संस्कृति सदैव एक ऐसी वस्तु है जिसे अपनाया जा सके, जिसका उपयोग किया जा सके। जिस पर विश्वास हो, जिस पर अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो तथा जो अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संपूर्ण समूह के जीवन पर निर्भर करती है। टॉयलर के अनुसार– संस्कृति एक जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून प्रथा और ऐसी ही दूसरी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिसे मानव समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

टिप्पणी

संस्कृति का अभिप्राय निम्नलिखित बिंदुओं से अधिक स्पष्ट हो जाता है–

- सामान्यतः संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों की एक संपूर्णता है। संस्कृति की अवधारणा इतनी विस्तृत है कि उसे परिभाषित करना जटिल है। व्यक्ति द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को छोड़कर जितनी भी मानवीय परिस्थितियां हमें प्रभावित करती हैं, उन सभी की संपूर्णता को हम संस्कृति कहते हैं। अतः संस्कृति के इस घेरे का नाम 'सांस्कृतिक पर्यावरण' है।
- 'संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति जीवन के प्रतिमानों, व्यवहार, अनेकानेक भौतिक एवं अभौतिक प्रतीकों, परंपराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों, मानवीय अंतःक्रियाओं और आविष्कारों को सम्मिलित किया जाता है।
- हिंदू दर्शन के अनुसार, 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' तथा 'मोक्ष' विषयक मानवीय घटनाओं को 'संस्कृति' के अंतर्गत समाहित किया गया। मानव जीवन के दिन–प्रतिदिन के आचार–विचार, जीवन शैली तथा कार्य–व्यवहार को संस्कृति कहा जाता है।
- मानव समाज के धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक, नीति विषयक कार्य–कलापों, परंपरागत प्रथाओं, खान–पान, संस्कार इत्यादि के समन्वय को संस्कृति कहा जाता है। अनेक विद्वानों ने संस्कार के परिवर्तित रूप को ही संस्कृति स्वीकार किया है।

संस्कृति की व्यापकता

समाजशास्त्र में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। प्रसिद्ध मानव विज्ञानी 'मैलिनोव्स्की' के मत में–

मानव जाति की समस्त सामाजिक विरासत या मानव की समस्त संचित सृष्टि का ही नाम संस्कृति है। मानव के द्वारा निर्मित कृत्रिम जगत को ही संस्कृति की संज्ञा दे दी जाती है। इस कृत्रिम जगत को रचने की प्रक्रिया में संस्कृति के अंतर्गत विचार, भावना, मूल्य, विश्वास, मान्यता, चेतना, भाषा, ज्ञान, कर्म, धर्म आदि जैसे सभी अमूर्त तत्व स्वयंमेव शामिल हैं, जबकि दूसरी ओर संस्कृति में विज्ञान और प्रौद्योगिकी एवं श्रम से सृजित भोजन, वस्त्र, आवास और भौतिक जीवन को सुविधाजनक बनाने वाले सभी मूर्त–अमूर्त स्वरूप भी शामिल हैं। मानवविज्ञान संस्कृति के अमूर्त स्वरूपों को आध्यात्मिक संस्कृति कहता है। मूर्त स्वरूपों को भौतिक संस्कृति कहा जाता है। इन दोनों संस्कृतियों के संयुक्त विकास से मनुष्य सुसंस्कृत एवं सामाजिक बनता है।

रेडफील्ड के अनुसार–

"संस्कृति कला और वास्तुकला में स्पष्ट होने वाले परंपरागत ज्ञान का संगठित रूप होती है। यह परंपरा के द्वारा संरक्षित होकर मानव समूह की विशेषता बन जाती है।"

व्हाइट के अनुसार–

"संस्कृति एक प्रतीकात्मक, निरंतर, संचयी एवं प्रगतिशील प्रक्रिया है।"

ई.बी. टेलर के अनुसार–

"उन सभी वस्तुओं के समूह को जिनमें ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, नैतिकता कानून परंपराएं तथा वे अन्य सभी योग्यताएं सम्मिलित होती हैं, जिन्हें कोई मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते सीखता है, संस्कृति कहते हैं।"

टिप्पणी

टी.एस. इलियट के अनुसार–

"शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं के आस्वादन इत्यादि के अतिरिक्त वे सब राष्ट्रीय क्रियाएं एवं कार्यकलाप, जो उसे विशिष्टता प्रदान करते हैं, संस्कृति के अंग हैं।"

ओसवाल्ड स्पेनलर के अनुसार–

"सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता से किसी संस्कृति की बाहरी चरम एवं कृत्रिम अवस्था का बोध होता है। संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता उसकी कठोर स्थिरता होती है।"

बीरस्टीड के अनुसार–

"संस्कृति एक जटिल संपूर्णता है, जिसमें वे सभी बातें सम्मिलित हैं, जिन पर हम विचार करते हैं और समाज के एक सदस्य के रूप में अपने पास रखते हैं।"

ब्रानिस्ला मैलिनोव्स्की के अनुसार–

"संस्कृति एक सामाजिक विरासत होती है, जिसमें परंपरागत कला–कौशल, वस्तु–सामग्री, यांत्रिक कार्य–कलाप, आचार–विचार, प्रवृत्तियां तथा मूल्य समावेशित होते हैं।"

हर्सकोविट्स के अनुसार–

"संस्कृति समस्त सीखा हुआ व्यवहार है। वे चीजें जो मनुष्य के पास हैं, वे चीजें जो वे करते हैं और वह सब जो वे सोचते हैं, संस्कृति है।"

संस्कृति के लक्षण

संस्कृति के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. **संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार होता है**– मनुष्य समाज में रहकर जन्म से मृत्यु तक सीखता रहता है और समाज में अनुभव प्राप्त करता रहता है। यही आगे चलकर संस्कृति का रूप ले लेते हैं। संस्कृति सामूहिक होती है। समूह के सीखे हुए व्यवहारों को ही संस्कृति कहा जाता है।
2. **हस्तांतरणशीलता**– मानव द्वारा सीखा हुआ व्यवहार ही संस्कृति है, यह आने वाली पीढ़ियों को हस्तांतरित होता रहता है। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी भी होता है, वह इसी ज्ञान के आधार पर अपने सीखे हुए व्यवहार को आने वाली पीढ़ी को हस्तांतरित कर देता है और इस हस्तांतरण का आधार उस समूह के प्रतीक या चिह्न होते हैं, जो कि अत्यंत ही पवित्र समझे जाते हैं। इन प्रतीकों के प्रति समूह की गहरी श्रद्धा होती है। संस्कृति हजारों–लाखों वर्षों के बाद भी हस्तांतरणशीलता के कारण नष्ट नहीं होती है।
3. **सामाजिकता**– मनुष्य के द्वारा संस्कृति का निर्माण होता है और हर मनुष्य में संस्कृति के गुण पाए जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य संस्कृति के संबंध में प्रयत्नशील रहता है, किंतु संस्कृति मनुष्यगत नहीं होती, वह सामाजिक होती है। किसी मनुष्य विशेष के गुण संस्कृति नहीं हो सकते। संस्कृति सामाजिक एवं सामूहिक व्यावहारिक गुणों का नाम है। संस्कृति में सभी सामाजिक गुणों का समावेश होता है, जैसे– धर्म, प्रथा, परंपरा, रीति–रिवाज, रहन–सहन एवं कानून आदि।

टिप्पणी

4. **आदर्शात्मक**– संस्कृति समूह के सदस्यों के व्यवहारों का एक आदर्श रूप होती है। समूह का प्रत्येक सदस्य उसे अपना आदर्श समझता है। संस्कृति में सामाजिक विचार, व्यवहार, प्रतिमान एवं आदर्श प्रारूप होते हैं और इन्हीं के अनुसार कार्य करना श्रेष्ठ समझा जाता है। प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति को दूसरे समाजों की संस्कृति से श्रेष्ठ मानता है। इस श्रेष्ठता का आधार उसकी संस्कृति के आदर्श प्रतिरूप ही हैं।
5. **सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति**– हम जानते हैं कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है और इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो साधन या उपकरण अपनाए जाते हैं, वे साधन ही संस्कृति का रूप धारण कर लेते हैं। अनेक आवश्यकताएं ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति अन्य साधनों से न होकर संस्कृति के माध्यम से होती है। सामाजिक और प्राणिशास्त्रीय दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृति के द्वारा ही होती है।
6. **संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है**– मानव समाज परिवर्तनीय है और इसी के साथ संस्कृति में भी परिवर्तन होता रहता है। इन परिवर्तनों के बीच प्रत्येक संस्कृति को अपने पर्यावरण से अनुकूलन करना पड़ता है। इसके साथ ही, समय की मांग के अनुसार भी संस्कृति को परिवर्तित होना पड़ता है। यह परिवर्तन सतत चलता रहता है।
7. **संस्कृति में समाज के एकीकरण की क्षमता होती है**– संस्कृति के विभिन्न अंग मिलकर सामाजिक समग्रता का निर्माण करते हैं। संस्कृति के कुछ प्रतिमान स्थिर और दृढ़ होते हैं। प्रत्येक संस्कृति अपने अवयवों को एक सूत्र में बांधे रहती है, और साथ ही दूसरी संस्कृति के तत्वों को आत्मसात करती रहती है। चूंकि संस्कृति के तत्व एकीकृत रहते हैं अतः इनमें शीघ्र परिवर्तन नहीं हो पाता है।
8. **पृथकता या भिन्नता**– संस्कृति का निर्माण देश, काल और परिस्थिति के माध्यम से होता है। प्रत्येक देश के मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताएं अलग होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन भी अलग ही होते हैं। विभिन्न देशों के निवासियों की आवश्यकताएं अलग–अलग होती हैं, इस कारण से उनके आचार–विचार और व्यवहार भी अलग–अलग होते हैं। इसी कारण से एक समाज की संस्कृति दूसरे समाज की संस्कृति से पृथक होती है।
9. **अतिवैयक्तिक**– संस्कृति मनुष्यों के आचार–व्यवहार का परिणाम होती है इसीलिए संस्कृति मनुष्य की शक्ति के ऊपर होती है। यह सामूहिक व्यवहार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होता है। संस्कृति द्वारा मनुष्य के आचार–विचार, रहन–सहन, वेशभूषा प्रभावित होते हैं, जबकि अकेला मनुष्य संस्कृति के मानकों को बदल नहीं सकता है।

संस्कृति का निर्माण

विश्व की पुरातन एवं समृद्ध संस्कृति भारत की है। विश्व की अन्य संस्कृतियां तो समय की धारा के साथ–साथ लोप होती रहीं, परंतु भारत की संस्कृति आदिकाल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ अजर–अमर बनी हुई है। इसकी उदारता तथा

समन्वयवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किंतु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

टिप्पणी

संस्कृति का निर्माण जिन छोटी–बड़ी इकाइयों से होता है, उन्हीं को संस्कृति के निर्माणक तत्व या उपादान कहा जाता है।

होबेल के अनुसार– "एक संस्कृति–तत्व व्यवहार का रूप या इस व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है, जिसे सांस्कृतिक व्यवहार की सबसे छोटी इकाई माना जाता है।"

संस्कृति–तत्व के महत्व को बताते हुए थोबेन्क ने लिखा है–

"संस्कृति–तत्व उन ईंटों के समान हैं, जिनके द्वारा संपूर्ण समाज की संस्कृति का निर्माण होता है। भौतिक अभौतिक क्षेत्र में संस्कृति–तत्व उन सभी वस्तुओं, जिनका कार्यात्मक दृष्टिकोण से और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता है, संस्कृति–तत्व में परिवर्तन तथा गतिशीलता होती है। लेकिन केवल अकेला संस्कृति–तत्व मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति करने में सक्षम नहीं होता। जब अनेक संस्कृति–तत्व परस्पर उद्देश्यपूर्ण तरीके से संयुक्त हो जाते हैं, तब ही वे मनुष्य की किसी विशेष आवश्यकता को पूर्ण कर पाते हैं।"

संस्कृति की समग्रता

जब अनेक संस्कृति–तत्व व्यवस्थित रूप से संयुक्त होकर मनुष्य की किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, तब संस्कृति–तत्वों के इस संयुक्त रूप को संस्कृति की समग्रता कहते हैं।

होबेल के अनुसार– "मानव संस्कृति समग्रता पारस्परिक घनिष्ठ रूप से संबंधित संस्कृति–तत्वों का एक जाल है।"

सदरलैण्ड एवं वुडवर्ड के अनुसार– "मानव संस्कृति समग्रता अनेक संस्कृति–तत्वों की वह संपूर्णता है, जो अर्थपूर्ण संबंधों द्वारा परस्पर समावेष्टित रहते हैं।"

इस प्रकार संस्कृति की समग्रता तत्वों की एक कड़ी होती है। यह कड़ी अनेक सांस्कृतिक नियमों के अनुसार व्यवस्थित होती है। इसका निर्माण करने वाले सभी तत्व आपस में संबंधित होते हैं।

संस्कृति के प्रतिमान

हर्सकोविट्स के मतानुसार– "संस्कृति शब्दों का वह रूप, जो एक समाज के सदस्यों के व्यवहार–प्रतिमानों के माध्यम से व्यक्त होते हुए जीवन की विधि को एकरूपता, निरंतरता और विशिष्ट रूप देते हैं, संस्कृति के प्रतिमान कहलाते हैं।"

रूथ बेनेडिक्ट के अनुसार– "संस्कृति के अनेक उपविभागों से बनने वाले महत्वपूर्ण अंगों को ही संस्कृति के प्रतिमान कहते हैं।"

सदरलैण्ड एवं वुडवर्ड कहते हैं– "जब अनेक संस्कृति–समग्रता परस्पर संबंधित होकर एक विशेष संस्कृति का सामान्य रूप प्रस्तुत करने लगती है, तब इसी संबद्धता को हम संस्कृति के प्रतिमान कहते हैं।"

टिप्पणी

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि संस्कृति प्रतिमान अनेक संस्कृति समग्रों का एक व्यवस्थित संगठन है। उदाहरण के लिए, भारत में जाति प्रथा, संस्कार, कर्म सिद्धांत जैसे कुछ विशेष संस्कृति प्रतिमान हैं, जो एक बड़ी सीमा तक भारतीय संस्कृति के एक सामान्य रूप को प्रस्तुत करते हैं।

संस्कृति–क्षेत्र

क्लार्क विसलर के अनुसार– "संस्कृति–क्षेत्र का अर्थ उस भौगोलिक प्रदेश से है, जिसमें अनेक जनजातियां तुलनात्मक रूप से समान सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ स्वतंत्र रूप से निवास करती हैं।"

अर्थात प्रत्येक संस्कृति से संबंधित संस्कृति–समग्रों तथा संस्कृति–प्रतिमानों का एक निश्चित क्षेत्र एवं सीमा होती है। इसी सीमा क्षेत्र से उसका प्रसार एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में हो जाता है। जिस भौगोलिक क्षेत्र में लगभग समान सांस्कृतिक विशेषताएं विद्यमान होती हैं, उसको हम एक संस्कृति–क्षेत्र कहते हैं।

संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति को समाज का दर्पण एवं आधार के रूप में देखा जाता है। संस्कृति के द्वारा ही व्यक्ति एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। ऐसी स्थिति में संस्कृति एवं इसकी विशेषताओं एवं चरित्र का सम्यक ज्ञान, समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति की प्रकृति का ज्ञान होने पर हम यह जान सकते हैं कि समाज के विभिन्न अंगों में विभिन्नता के क्या कारण हैं अर्थात समाज में सांस्कृतिक विभिन्नता क्यों होती है। अतः हम कह सकते हैं कि विभिन्न समाजों की संस्कृतियों में विभिन्नता पाई जाती है। संस्कृति का चरित्र यह होता है कि वह समाज में एकजुटता एवं सामूहिक समूह भावना को बनाए रखने में योगदान करती है।

संस्कृति के द्वारा मनुष्य की पहचान होती है। संस्कृति की विभिन्न प्रकार की विशेषताएं अथवा चरित्र निम्नलिखित हैं–

1. संस्कृति मनुष्य के समाजीकरण की एक प्रक्रिया होती है।
2. संस्कृति में निरंतरता होती है।
3. संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलती रहती है।
4. समाज में अलग–अलग संस्कृतियां पाई जाती हैं।
5. समाज की पहचान उसके द्वारा अपनाई गई संस्कृति के आधार पर की जाती है।
6. अलग–अलग समाज की संस्कृतियों में पारस्परिक संघर्ष होता रहता है।
7. संस्कृति सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में कार्य करती है।
8. संस्कृति के द्वारा मनुष्य अपने पूर्वजों द्वारा सीखे गए ज्ञान का उपयोग, अपने जीवन को सरल एवं सुखमय बनाने के लिए करते हैं।
9. शिक्षा के कारण स्थापित सांस्कृतिक मान्यताओं में परिवर्तन होते रहते हैं।
10. प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति का पोषण एवं निर्वाह करना चाहता है।

टिप्पणी

11. संस्कृति एक सामूहिक प्रक्रिया है जिसको सामाजिक समूह अपने आचरण, व्यवहार एवं रहन–सहन में निर्वाहित करते हैं।
12. संस्कृति, ज्ञान के आधार पर स्थापित की गई मान्यताएं हैं जो मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बना कर रखने में सहायक होती हैं।
13. संस्कृति का प्रसार होता है।
14. संस्कृति अगर परिवर्तनशील एवं ग्राह्य हो तो इसका प्रसार बड़े पैमाने पर एवं वैश्विक हो सकता है।
15. समाज में वही संस्कृति अपना अस्तित्व बनाकर रख सकती है जो समस्त मानव समाज के सर्वथा हित एवं कल्याण में है।
16. जो संस्कृति बिना वैज्ञानिक आधार वाली एवं शोषण पर केंद्रित होती है उसका धीरे–धीरे विलोप हो जाता है।
17. उच्च वर्ग की संस्कृति का अनुमान निम्न जातियां करना चाहती हैं।

संस्कृति समाज में एकजुटता बनाकर रखती है एवं जो व्यक्ति एक ही संस्कृति से संबंधित होते हैं उनमें पारस्परिक मैत्रीपूर्ण क्रियाएं होती हैं।

उपरोक्त के साथ यह भी सत्य है कि संस्कृति की कुछ कमियां भी होती हैं। भारतीय समाज इसका एक विशेष उदाहरण है। भारत की संस्कृति में अनेक ऐसी मान्यताएं एवं प्रथाएं प्रचलन में रही हैं जो सभ्य समाज में स्वीकार्य नहीं हैं। इन सांस्कृतिक विशेषताओं एवं इन पर आधारित मान्यताओं का विज्ञान के विकास के साथ–ही पतन एवं विलोप होता चला गया। संस्कृति से संबंधित हमारी कतिपय मान्यताएं रही हैं–

- बाल विवाह।
- सती प्रथा।
- स्त्रियों में पर्दा प्रथा।
- छूआछूत एवं अस्पृश्यता।
- अंधविश्वासों पर आधारित प्रथाएं– भूत–प्रेत आदि में विश्वास।
- बहुपत्नी विवाह।
- विधवा विवाह निषेध।
- भूदासों की परंपरा।
- रजवाड़े।
- दलितों का मंदिरों में वर्जित प्रवेश।
- जातिगत व्यावसायीकरण।
- जनजातीय एवं वन्य समाज।
- जादू–टोना।
- कुलीन समुदायों का समाज पर सर्वथा वर्चस्व।
- धर्मभीरुता।
- जड़ता।

टिप्पणी

संस्कृति समाज का समाजीकरण करती है इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है एवं इसके द्वारा समाज में निरंकुशता समाप्त होकर नागरिक कल्याण की भावना निहित होती है। संस्कृति की विशेषता इसी में है कि यह समाज को सामाजिक जीवंतता प्रदान करे, मनुष्य को पशु भाव से मुक्ति दिलाए। संस्कृति के कारण ही मनुष्य समाज में अपना आचरण निर्धारित करता है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें मानवीय मूल्य एवं संवेदनाओं को सदैव प्राथमिकता दी गयी है। भारतीय संस्कृति का उदय ही धार्मिक आधार पर हुआ है। भारतीय प्राचीन मानवीय व्यवस्था में यही संस्कृति आरूढ़ रही कि समस्त विश्व का कल्याण हो, प्राणियों में सौहार्द्र एवं प्रेम की भावना प्रबल हो। इस संस्कृति के वाहक भारतीय दर्शनशास्त्र एवं वेद–पुराण भी हैं। वसुधैव कुटुंबकम की संस्कृति भारतीय समाज की ही परिकल्पना है जिसमें मनुष्यों को यही शिक्षा दी जाती रही है कि समस्त विश्व के प्राणियों को इस प्रकार से प्रेम करो जैसे आप स्वयं से एवं अपने परिवार के सदस्यों के साथ करते हैं।

संस्कृति के प्रकार

सोरोकिन के अनुसार संस्कृति के तीन स्वरूप निम्नलिखित हैं–

1. भावात्मक संस्कृति

मनुष्य के विचार, भावना, नैतिकता, सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का भावात्मक विकास भावात्मक संस्कृति के ही कारण होता है।

भावात्मक संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य को भौतिक सुख के स्थान पर भावनाओं से जुड़े हुए सुख को प्रदान करवाना है। इस संस्कृति की विशेषता यह है कि इससे मनुष्य को यह शिक्षा दी जाती है कि भौतिक सुख तो क्षणिक होता है परंतु भावनाओं के साथ जुड़ा हुआ सुख निरंतर एवं स्थायी प्रकृति का होता है। इस संस्कृति का निर्धारक तत्व आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता में मनुष्य को भौतिकता से दूर रहने की शिक्षा दी जाती है। भावात्मक संस्कृति का लक्ष्य, मनुष्य को परमानंद या परमात्मा या परमशक्ति के साथ एकाकार करवा देना है। वास्तव में देखा जाए तो भारतीय आध्यात्मिक दर्शनशास्त्र का भी यही उद्देश्य है जिसमें मनुष्य को एक नाशवान या नश्वर जीव की संज्ञा दी गई है। जब मनुष्य है ही नाशवान तो फिर भौतिक सुख का क्या प्रयोजन? इसलिए आध्यात्मिकता मानव को यही ज्ञान देती है कि किसी ऐसे सुख की कल्पना की जाए जो कालातीत है, निरातीत हो अर्थात जिसकी कोई समयबद्ध सीमा नहीं है। भावात्मक संस्कृतिमूलक ज्ञान का प्रयोजन मनुष्य को ईश्वरीय शक्ति में आस्था रखने के बारे में सचेत करना होता है। यह संस्कृति इस तथ्य पर विश्वास करती है कि सत्य वही है जिसे मानव आत्मा सहर्ष स्वीकार कर ले। इसी प्रकार ज्ञान भी वही होता है जिससे ईश्वर का बोध हो। कानून भी ऐसा होना चाहिए जो कि मनुष्य के नैतिक आदर्शों से पूर्ण हो। दर्शनशास्त्र एवं कला, साहित्य ईश्वर तक पहुंचाने में सहायक सांस्कृतिक तत्व हैं। इस संस्कृति की ठोस एवं प्रबल मान्यता यही है कि यह ईश्वर के परम सत्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्गों का उल्लेख करके उन पर चलने के उपर्युक्त मार्ग भी सुझाती है। कहा भी गया है कि– 'जिन खोजा तिन पाईया'।

टिप्पणी

भावनाओं एवं भावों का संबंध मन एवं हृदय से है, इस कारण इस मनोवैज्ञानिक अवधारणा को ध्यान में रखते हुए इस संस्कृति का कायाकल्प, समयांतर में हुआ। मानव में इच्छाएं उत्पन्न करने के स्रोत मन एवं हृदय हैं। इसी कारण यह संस्कृति मन पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल देती है। भारत के प्राचीन समाज में व्यक्तियों को यही शिक्षा दी जाती थी कि मानसिक शांति ही परम शांति एवं परमानंद की स्थिति है। अतः मन को सांसारिकता एवं भौतिकता से दूर रहने की सीख दी जाती थी। भारत के प्राचीन समय में राम राज्य की कल्पना का भी संभवतः यही आधार था कि उस समय की सामाजिक शिक्षा आदर्श एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित थी। संस्कृति के निर्वहन के लिए मनुष्यों को उन सभी प्रकार के प्रपंचों से दूर रहने की शिक्षा दी जाती थी जो उन्हें सांसारिकता एवं भौतिकता के मायाजाल में फंसाने का कार्य करती थी। परंतु यह आवश्यक भी नहीं कि समाज के सभी व्यक्ति एक जैसा समान आचरण करें। व्यक्ति का आचरण एवं व्यवहार तो मनुष्य की मूल प्रवृत्ति के द्वारा ही निर्धारित होता है। तथापि संस्कृति आधारित इस प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा ने समाज पर बहुत महत्वपूर्ण–नियंत्रण स्थापित करके रखा। अशोक महान एवं सिकंदर जैसे राजाओं का हृदय परिवर्तन भी इसी विचारधारा का फल है वरना कौन जानता है कि इन राजाओं की महत्वाकांक्षा के कारण समाज एवं सभ्यता की क्या स्थिति होती?

2. संवेदनात्मक संस्कृति

सोरोकिन ने 1973–41 के मध्य 'समाज एवं सामाजिक गतिशीलता' नामक पुस्तक के चार खंड प्रकाशित किए जिसमें उन्होंने संस्कृति एवं सांस्कृतिक परिवर्तन पर बहुत गहरा वैज्ञानिक शोध कार्य किया। संभवतः इसी कारण उन्होंने 1946 में परमार्थवाद को अपना अध्ययन क्षेत्र बना लिया एवं मनुष्य की पुनर्रचना के संबंध में लिखने लगे।

सोरोकिन ने संवेदनात्मक संस्कृति को भौतिकवादी संस्कृति की श्रेणी में रखकर अपने तथ्य एवं तर्क प्रस्तुत किए।

सोरोकिन एवं लुंडेन के अनुसार– "संवेदनात्मक संस्कृति में सत्य, वास्तविकता एवं मूल्य इंद्रियजनक या भौतिक आधार पर होते हैं। इस संस्कृति में यह मान्यता है कि मानव द्वारा ज्ञानेंद्रियों के द्वारा अनुभव गए वास्तविक मूल्यों एवं वास्तविकता से बढ़कर कोई अन्य सत्य नहीं है।" (पी.ए. सोरोकिन एवं डब्ल्यू. लुडेन, 'पावर एंड मोरालिटीः हूशैल गार्ड द गार्जियनस', पेज–110)

संवेदनात्मक या संवेदनाओं पर आधारित संस्कृति में आध्यात्मवाद को रुकावट माना जाता है। संवेदनात्मक संस्कृति के प्रमुख उपादान निम्नलिखित हैं–

- विकास पर आधारित विज्ञान
- विधि एवं सूत्र
- कला एवं साहित्य
- विचार एवं आचार
- सामाजिक आदर्श
- वास्तविकता पर आधारित यथार्थवादी आचरण।

संवेदनात्मक संस्कृति में मानव आवश्यकताओं को भौतिक साधनों के द्वारा पूर्ण किया जाता है, अर्थात् स्थूल शरीर के द्वारा ही मनुष्य अपने संवेदों को महसूस कर

टिप्पणी

सके। स्थूल शरीर के संवेदनशील अंग जैसे नाक से सूंघना, त्वचा से स्पर्श करना, जिह्वा से चखकर, नेत्रों से देखकर एवं कानों से सुनकर यथार्थ का वास्तविक बोध कर पाए। मनुष्य की संवेदनाएं मानव शरीर से संबंधित होती हैं। जब मनुष्य अपने स्थूल शरीर से विश्व की भौतिक वस्तुओं का बोध करता है उसे ही वास्तव में सुख एवं आनंद समझता है। इस प्रकार की संस्कृति में मनुष्य यही सोचकर सीखते एवं शिक्षा ग्रहण करते हैं जिससे भौतिक एवं वास्तविक आधार पर जीवन यापन किया जाए। तदनुसार भौतिक आवश्यकताएं भी भौतिक वस्तुओं के द्वारा ही अर्जित की जाती हैं। मनुष्य भौतिकवादी सोच एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आजीवन संसाधन एवं सुविधाएं जुटाते रहते हैं, संचय करते हैं एवं उपभोग करते हैं। जब मनुष्य इस प्रकार की भौतिक आवश्यकता पर आधारित जीवन पद्धति अपनाते हैं तो उनकी पूरी शिक्षण व्यवस्था एवं ज्ञानार्जन भी इसी आधार पर निर्मित होता है। हमारा वर्तमान पूंजीवादी समाज इसी अवधारणा की संस्कृति की पद्धति में जीवनयापन कर रहा है।

व्यक्ति को इसका आभास करवाया जाता है कि यह संसार भौतिक है एवं इस संसार में कुछ भी पारलौकिक नहीं है। इसलिए व्यक्तियों में व्यक्तिवाद एवं स्वार्थ की भावना का आधिक्य हो जाता है। व्यक्ति समाज में व्यक्ति केंद्रित होकर रहते हैं। समाज में यह संस्कृति हावी होती है कि पहले स्वयं का स्वार्थ पूरा करो फिर दूसरों के बारे में सोचना चाहिए। आधुनिक नगरीय सामाजिक व्यवस्था में यही देखने को मिलता है तो उन लोगों की भावनात्मक सोच एवं भावनाओं को ठेस पहुंचती है। इस समय भावनात्मक संस्कृति के आधार पर पले बढ़े व्यक्तियों को अपार मानसिक कष्ट होता है। इसी कारण से हम देखते हैं कि आज की युवा पीढी तो भौतिकवादी संस्कृति को अपना कर अपना जीवनयापन कर रही है एवं भौतिकता के आधार पर अपने जीवन स्तर में परिवर्तन भी कर लेती है, वहीं पर जब युवा पीढ़ी का संपर्क अपने बाबा–दादी से होता है, जो भारत की परंपरागत जीवन शैली एवं संस्कृति के वाहक रहे हैं, तो पुरानी पीढ़ी अवाक रह जाती है। तब बुजुर्गों की भावनाओं को ठेस पहुंचती है और वे कहते हैं कि आजकल की पीढ़ी निरंकुश, नास्तिक एवं संस्कृतिविहीन हो गई है। हमने अपने बच्चों को तो धार्मिक एवं भावनात्मक आधार पर शिक्षा एंव नैतिक ज्ञान दिया था परंतु हमारी संतान तो नाकारा निकल गई और पाश्चात्य संस्कृति एवं आधुनिकता को अपना रही है। परंतु पुरानी पीढ़ी के लोग यदि यह समझ लेते कि यह दोष इस युवा पीढ़ी का नहीं है वरन् समय एवं सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्य प्रक्रिया का है, तो वे उसके साथ एक अनुकूल संबंध विकसित कर सकते थे।

भौतिकवादी समाज के अंदर कानून व्यवस्था भी वैधानिक हो जाती है अर्थात समाज का नियंत्रण प्रत्यक्ष रूप से भौतिक एवं व्यवहारगत हो जाता है। यदि समाज में किन्हीं दो व्यक्तियों के मध्य कोई विवाद है तो उसे सामूहिकता एवं सामूहिक बीच–बचाव के द्वारा हल करने के प्रयास नहीं किए जाते वरन् दोनों पक्ष तुरंत कानून एवं पुलिस का आश्रय लेते हैं। सरकार ने भी ऐसी संस्थाएं बना दी हैं जो इस भौतिकवादी समाज के ही अनुरूप हों। हमें यह सिखाया जाता है कि कोई विवाद या झगड़ा या दुर्घटना घटित हो तो उसकी सूचना तुरंत ही पुलिस कंट्रोल रूम को दी जाए या '100' नंबर डायल करो पुलिस तुरंत कार्यवाही सुनिश्चित करेगी।

टिप्पणी

3. आदर्शात्मक संस्कृति

समाज में एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी के साथ संघर्ष देखने को मिलता है। जैसा कि हमने पहले देखा कि दादी–दादा अपने नाती–पातों के व्यवहार से आहत होते हैं एवं इसका उत्तरदायित्व आज की गिरती हुई संस्कृति एवं आधुनिकता पर डालते हैं, परंतु वास्तविकता यह है कि इन दोनों व्यक्तियों की सांस्कृतिक शिक्षण प्रणाली में संस्थागत भिन्नता होती है। दादा–दादी ने सरकारी विद्यालयों में गुरु–शिष्यों की परंपरा के अवशेषों के माध्यम से शिक्षा कार्य संपन्न किया जहां पर शिक्षक को गुरु का स्थान प्राप्त था एवं पूरा समाज उन्हें सम्मान देता था। 'मास्टर साहब' का पूरे समाज में अद्‌भुत सम्मान था। यह 'मास्टर साहब अपने छात्रों को शिक्षा के साथ–साथ नैतिक मूल्यों, आचरण, उच्च विचार एवं धार्मिक संस्कृति पर आधारित हर प्रकार का ज्ञान देने का प्रयास करते थे। ये शिक्षक छात्रों को उचित शारीरिक दंड भी देते थे। छात्र एवं अभिभावक को किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं होती थी। दोनों पक्षों की इस पर समझ थी कि 'गुरुजी' जो भी करेंगे छात्र हित में ही करेंगे। पंरतु आज स्थिति पूर्णतया भिन्न है। बच्चे कान्वेंट स्कूलों में भारी–भारी बैग टांगकर जाते हैं एवं 'मैडम' एवं 'सर' से कोचिंग पढ़ते हैं। यह टीचर बच्चों को विषय का अध्ययन करवाते हैं, उन्हें बच्चों की नैतिकता एवं व्यावहारिकता से कोई सरोकार नहीं होता। अंतर पीढ़ी का यह संघर्ष संस्कृति की भिन्नता के कारण से होता है।

सोरोकिन का विचार यह है कि कोई ऐसी व्यवस्था भी विद्यमान है जो भावात्मक और संवेदनात्मक संस्कृतियों के बीच की संस्कृति हो। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सोरोकिन ने आदर्शात्मक संस्कृति की व्यवस्था का उल्लेख किया है। यह व्यवस्था दो विपरीत संस्कृतियों के मध्य समन्वय स्थापित करने में सहायक भूमिका का निर्वाह करती है। जब किसी एक बिंदु पर मतैक्य नहीं होता तो हम ऐसा प्रयास करते हैं कि दो विपरीत अवधारणाओं में से मध्यस्थ–भूमिका का चयन कर लेते हैं। यही समन्वय एवं सामंजस्य होता है। हमें पता है कि मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार के समायोजन स्थितियों के अनुसार करने ही पड़ते हैं। उदाहरण के लिए आज की भारतीय संस्कृति एक मिश्रित प्रकार की संस्कृति है। जिस प्रकार से भारतीय भाषा में हिंदी का स्थान खिचड़ी–स्वरूपा हो गया है, ठीक उसी प्रकार से भारतीय संस्कृति भी मिश्रित हो गई है। यह कहना कि कौन–सी संस्कृति भारतीय है एवं कौन–सी विदेशी है, मुश्किल है। उदाहरण के लिए आज का लगभग संपूर्ण युवावर्ग विदेशी परिधान पहनता है एवं हेयर स्टाइल रखता है। भारतीय संस्कृति में शुद्ध एवं सात्विक भोजन की परंपरा थी। भारतीय संस्कृति में भोजन करने एवं परोसने के विशेष विधान थे। परंतु समय चक्र के परिवर्तन के साथ भारतीय भोजन की संस्कृति भी मिश्रित हो चली है। अब समाज में भोजन का कोई नियम समय एवं स्थान निश्चित नहीं है।

उपरोक्त उदाहरण से सोरोकिन की आदर्शात्मक संस्कृति की अवधारणा की पुष्टि भी हो जाती है और संस्कृतियों के आदान–प्रदान एवं प्रसार की अव्यवस्था भी स्पष्ट हो जाती है। सोरोकिन ने व्यवहार में उस संस्कृति का उल्लेख किया है जो कि भावात्मक एवं संवेदनात्मक संस्कृति के मध्य एक असंतुलित योग को प्रकट करती है। अर्थात यह एक बेमेल बंधन होता है जो एक स्पष्ट विभाजक रेखा द्वारा देखा

टिप्पणी

जा सकता है। यदि संस्कृतियों में संतुलन उचित रूप से हो जाए तो ऐसी संस्कृति को मिश्रित नहीं वरन आदर्शात्मक संस्कृति कहा जाएगा। आप देखते हैं कि शहरी जीवन में व्यक्तियों को रहन–सहन, खान–पान, महिलाओं के प्रति सोच, शिक्षा के प्रति जागरूकता एवं अपने अन्य अधिकारों के बारे में पता है। इसी के साथ शहरी लोग अपने पैतृक स्थानों को भी नहीं भूलते वर्ष में जब भी कोई तीज त्योहार आता है उसे धूमधाम से मनाते हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र की राजधानी मुम्बई, भारत की राजधानी दिल्ली, कर्नाटक की राजधानी बेंगलूरू में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति पर आधारित जीवनशैली पर जीवन जीने वाले उच्चवर्ग, मध्यमवर्ग हैं। वहां पर गणेश उत्सव, दुर्गा पूजा, राम लीला एवं दशहरे का पारंपरिक भारतीयपन अभी भी बना हुआ है। यह एक वास्तविक आदर्शात्मक संस्कृति की अद्‌भुत मिसाल प्रस्तुत करती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी संस्कृति पूर्णतः विलुप्त नहीं होती और न ही पूर्ण रूप से हावी होती है। अगर ऐसा होता तो आधुनिकता के समय में भारतीय त्योहारों का महत्व समाप्त हो जाता।

यहां यह स्पष्ट करना भी अनिवार्य है कि जिस संस्कृति में मानव का हित नहीं होगा या आंशिक हितार्थ होगा एवं कुछ अवैज्ञानिक आधार होंगे तो वह संस्कृति क्षय को प्राप्त हो जाएगी जैसे कि कुछ स्वार्थी समूह अपने एवं अपने समूह के हितों के लिए समाज में कुछ भ्रांतियां फैला कर लोगों की भावनाओं का शोषण करते हैं। परंतु समय एवं शिक्षा के परिवर्तन के कारण इन भ्रांतियों का लोगों को ज्ञान हो जाता है। उस स्थिति में समाज इन भ्रांतियों को त्याग देता है। अनेक समाजों में जादू–टोना, ताबीज एवं मंत्रादि के प्रभाव से बीमारियां ठीक करना एक सामान्य संस्कृति का अंग है। परंतु शिक्षा के प्रसार एवं वैज्ञानिक आविष्कारों ने इन भ्रांतियों को गलत सिद्ध कर दिया। शहरी एवं शिक्षित समाज अब झूठे जादू–टोने, तांत्रिकों के चंगुल में नहीं फंसता। भारत गांवों का देश है एवं भारत की पहचान गांवों से ही होती है। अभी भी ग्रामीण समाज की शिक्षा का स्तर अत्यंत अवैज्ञानिक है जिस कारण से अंधविश्वासों पर आधारित अनेक बातें अक्सर सुनने में आती रहती हैं। इसका कारण लोगों में इन अवैज्ञानिक क्रियाओं की व्यावहारिकता है।

सोरोकिन ने इन्हीं उतार–चढ़ावों के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या की है। उनका कथन है कि–

"विकास की चरम सीमा के पश्चात भी, विकास की गति थमती नहीं है, वरन और बेहतर की तरफ अग्रसर रहती है।"

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर निम्नलिखित बिंदु उभरकर सामने आते हैं–

- सोरोकिन ने परिवर्तन की स्वाभाविकता की व्याख्या की है।
- परिवर्तन के स्रोत के रूप में सोरोकिन ने अंतःस्थ परिवर्तन का सिद्धांत चिह्नित किया है। इसके अनुसार उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि परिवर्तन का स्रोत प्राकृतिक है।
- परिवर्तन की समस्त शक्ति स्वयं पदार्थ अर्थात भौतिक वस्तुओं के अंदर ही निहित रहती है।
- समाज एवं संस्कृति के अंदर विकास की अनन्य क्षमताएं निहित होती हैं।

टिप्पणी

मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव है जन्म लेना, युवा होना एवं वृद्धावस्था के पश्चात मृत्यु को प्राप्त हो जाना। इसी तर्ज पर सोरोकिन ने संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को भी देखा है, अर्थात् किसी संस्कृति का उदय होता है, उत्थान होता है और अंत में पतन भी हो जाता है।

- मनुष्य के बाह्य स्वभाव संस्कृति को प्रभावित करते रहते हैं जो कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति से संबंधित होते हैं।
- संस्कृति में उतार–चढ़ाव होते रहना एक वास्तविक एवं यथार्थ घटनाक्रम है।

सोरोकिन के विचार मार्क्स, एंजेल्स के प्राकृतिक एवं भौतिक द्वंद्वात्मकता के सिद्धांतों से मेल खाते हैं। परंतु सोरोकिन के विचारों एवं अध्ययनों को लेकर अनेक समाजशास्त्रियों ने अनेक प्रश्न भी उठाए हैं एवं उनके मॉडल की कमियों को भी प्रस्तुत किया है। इन वैज्ञानिकों की निम्नांकित आलोचनाएं हैं–

- ऐतिहासिक घटनाओं में उनके वास्तविक ऐतिहासिक संदर्भ के साथ कृत्रिमता का समावेश किया गया है। परंतु घटनाक्रम का समय परिवर्तित कर देने से घटना का न होना सिद्ध नहीं होता है अतः सोरोकिन ने कृत्रिमता के आरोप को खंडित कर दिया।
- परिवर्तन के स्रोत के रूप में सोरोकिन ने अंतःस्थ परिवर्तन का सिद्धांत बतलाया है। इस सिद्धांत में बताया कि परिवर्तन संस्कृति का प्राकृतिक गुण होता है एवं संस्कृति में निहित शक्तियां ही परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। परंतु सोरोकिन इन शक्तियों को सूक्ष्मता से परिभाषित करने में असफल रहे।
- सोरोकिन द्वारा पश्चिमी संस्कृति के बारे में दिए गए कथनों पर गंभीर आपत्तियां हैं।

यह कहा जाता है कि सोरोकिन भौतिकवादी पश्चिमी संस्कृति के समर्थक नहीं थे। इसलिए सोरोकिन के तर्कों को मनुष्य की भावनाओं को समझने में असमर्थ बताया गया है। यदि मनुष्य में से संवेदनहीनता, भावहीनता एवं पारस्परिक सहयोग एवं परोपकार की भावनाएं एवं आचरण ही समाप्त हो जाएं तो मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा ही क्यों जाएगा? वह तो साधारण रूप से एक पशु, मशीन या रोबोट जैसा हो जाएगा।

सभ्यता और संस्कृति में अंतर

सभ्यता और संस्कृति में निम्नलिखित अंतर पाए जाते हैं–

- मानव सभ्यता का संबंध जीवनयापन एवं भौतिक सुख–सुविधाओं की बाहरी वस्तुओं से है, जबकि संस्कृति का संबंध जीवनयापन की आंतरिक या भावनात्मक वस्तुओं से होता है।
- सभ्यता को मापा जा सकता है, किंतु संस्कृति की माप नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए यह बताना आसान है कि कच्चा मांस खाने की अपेक्षा पक्का खाना अधिक लाभदायक है, किंतु इसका सही–सही प्रमाण प्रस्तुत करना कठिन है कि पश्चिमी संस्कृति की अपेक्षा भारतीय संस्कृति श्रेष्ठ है अथवा नहीं। इसके लिए कोई निर्धारित मापदंड नहीं हो सकता है। दोनों ही अपने स्थान पर सही हैं।

टिप्पणी

- सभ्यता की उन्नति अल्पकाल में होती है, जबकि संस्कृति दीर्घकालिक सभ्यता का परिणाम होती है।
- सभ्यता का प्रसार तेजी से होता है, परंतु संस्कृति का प्रसार धीरे–धीरे एवं निरंतर होता रहता है।
- सांस्कृतिक वस्तुएं प्रतियोगिता रहित होती हैं, किंतु सभ्यता का आधार प्रतियोगिता है। दो आविष्कारों में प्रतियोगिता होती है, परंतु सामान्य रूप से आध्यात्मिकता में प्रतियोगिता नहीं होती है।
- सभ्यता एक साधन है, जबकि संस्कृति एक साध्य है। साध्य का अर्थ अंतिम लक्ष्य से है, जिसमें आंतरिक संतुष्टि होती है और इस संतुष्टि की प्राप्ति के लिए जो विधि अपनाई जाती है, उसे साधन कहा जाता है।
- समाजशास्त्री काम्टे ने सभ्यता और संस्कृति के अंतर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, "सभ्यता एक बाह्य व्यवहार की वस्तु है, परंतु संस्कृति में मानव नैतिकता की आवश्यकता होती है तथा यह आंतरिक मानव व्यवहार की वस्तु होती है"।
- जिसबर्ट ने कहा है कि "सभ्यता यह बताती है कि 'मानव के पास क्या है', और संस्कृति यह बताती है कि, 'मानव क्या हैं'।"
- समय के साथ सभ्यता में सुधार किया जा सकता है, किंतु संस्कृति में सुधार नहीं किया जा सकता है। कोई भी साधारण मनुष्य आविष्कारों में सुधार कर सकता है, किंतु प्रतिष्ठित कवि और कलाकार की कविता व कलाकृति में साधारण मनुष्य सुधार नहीं कर सकता।
- मानव की संस्कृति में गहराई होती है, जबकि सभ्यता में गहराई का अभाव होता है। गाड़ी या कोई मशीन कोई भी चला सकता है, किंतु संस्कृति की गहराई तक सभी मनुष्य नहीं पहुंच सकते।
- समाजशास्त्री ग्रीन ने सभ्यता एवं संस्कृति के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है कि, "कोई संस्कृति तब ही सभ्यता बनती है, जबकि उसके पास एक लिखित भाषा, दर्शन, विशेष श्रम–विभाजन, एक जटिल विधि और राजनीतिक प्रणाली हो।"
- गिलिन व गिलिन के अनुसार, "सभ्यता संस्कृति का अधिक जटिल तथा विकसित रूप है।"

संस्कृति का मानव जीवन पर प्रभाव

अभौतिक संस्कृति का भौतिक संस्कृति के सामने आगे बढ़ने का प्रयास सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। जब हम दूसरी संस्कृतियों के तत्वों से परिचित होते हैं तो उनकी नवीनता एवं उपयोगिता से प्रभावित होकर उन्हें अपनाने का प्रयास करते हैं। इसी से सामाजिक परिवर्तन होता है। दूसरी संस्कृति के तत्व अपनाने के प्रयास से हम अपनी मूल संस्कृति के प्रतिमानों को भी बनाए रखना चाहते हैं। यह द्वैधवृत्ति सामाजिक परिवर्तन का कारण मानी जाती है। सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में यह अधिक संबंध है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर

टिप्पणी

ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है इसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। ऐसा नहीं है कि प्राकृतिक पर्यावरण का सामाजिक पर्यावरण से प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं है। प्रत्येक समाज में संस्कृति के दोनों अंग विद्यमान हैं। भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से नियंत्रित करती है।

संस्कृति और सांस्कृतिक कारकों की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका को इनके सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले निम्नलिखित प्रमुख प्रभावों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **प्रौद्योगिकीय विकास पर प्रभाव**– संस्कृति प्रौद्योगिक विकास की दिशा तथा गति निर्धारित करती है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से घेर लिया है। विकसित समाजों में तो इन आविष्कारों की सहायता से संपूर्ण मानव जीवन नियंत्रित होता है। अनुकूल सांस्कृतिक पर्यावरण प्रौद्योगिकी विकास में सहायक होता है।
2. **आर्थिक जीवन पर प्रभाव**– संस्कृति व्यक्तियों के आर्थिक विकास में सहायक होती है। दूसरी ओर आधुनिक युग में आर्थिक संस्थाएं भी मानव जीवन को एक सीमा तक प्रभावित करती हैं। मार्क्स, वेब्लन आदि विचारकों का मत है कि आर्थिक संस्थाएं व्यक्ति को ही नहीं संपूर्ण समाज को प्रभावित करती हैं।
3. **राजनैतिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव**– संस्कृति राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं को भी प्रभावित करती है। किसी देश में किस प्रकार का शासनतंत्र पाया जाएगा यह सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्भर करता है। दूसरी ओर राजनीतिक संस्थाएं भी व्यक्ति के जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं।
4. **सामाजिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव**– संस्कृति सामाजिक संरचना, संगठन तथा संस्थाओं को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, परिवार तथा विवाह का क्या रूप होगा? यह सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों पर आधारित है। इस कारण परिवार तथा विवाह का स्वरूप प्रत्येक समाज में एक जैसा नहीं है। किस देश में किस तरह की सामाजिक संस्थाएं पाई जाएंगी? यह सब सांस्कृतिक पर्यावरण निर्धारित करता है।
5. **व्यक्तित्व पर प्रभाव**– व्यक्तित्व तथा संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी समाज की संस्कृति द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति की समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति का ही समावेश होता है। व्यक्ति उन्हीं बातों का अनुकरण करता है जो उसके समाज में प्रचलित होती हैं। प्रथाओं, लोकाचारों, परंपराओं एवं त्योहारों आदि का भी व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव पड़ता है।
6. **धार्मिक जीवन पर प्रभाव**– संस्कृति व्यक्तियों के धार्मिक जीवन को भी प्रभावित करती है। धार्मिक संस्थाओं का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। धर्म द्वारा व्यक्ति का संपूर्ण जीवन एवं व्यवहार निर्दिष्ट होता है। मैक्स वेबर जैसे विचारकों का कथन है कि धर्म संपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक ढांचे को

बनाता है। धर्म स्वयं सांस्कृतिक पर्यावरण पर आधारित है तथा निरंतर इससे प्रभावित होता है।

7. **समाजीकरण पर प्रभाव**– संस्कृति का व्यक्ति के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जब बच्चा जन्म लेता है तब वह पशु के समान होता है। धीरे–धीरे परिवार, पड़ोस, स्कूल आदि से वह सामाजिक गुण सीखता है। व्यक्ति का समाजीकरण कैसे होगा यह सांस्कृतिक पर्यावरण की मान्यताओं पर निर्भर करता है। बच्चा निरंतर समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति से प्रभावित होता है। यही कारण है कि एक भारतीय, फ्रांसीसी तथा अमेरिकी बच्चे में अलग–अलग गुण विकसित हुए मिलते हैं। इन दोनों के सामाजिक जीवन में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है जिसका कारण केवल सांस्कृतिक पर्यावरण ही है।

टिप्पणी

संस्कृति में धर्म, कला, विज्ञान, विश्वास, रीति–रिवाज, रहन–सहन तथा मानव द्वारा निर्मित सभी वस्तुएं सम्मिलित की जाती हैं। भौगोलिक पर्यावरण के विपरीत सांस्कृतिक पर्यावरण निर्मित होता है। प्रत्येक समाज की अपनी सामूहिक जीवन प्रणाली होती है। संस्कृति में परंपराओं जनरीतियों एवं लोकचारों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन्हीं सभी से किसी देश की सांस्कृतिक विरासत का पता चलता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति परंपराओं, जनरीतियों एवं लोकाचारों का वृत्तांतरण पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता रहता है।

संस्कृति की सामाजिक भूमिका एवं महत्ता

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जानकारी नहीं, बल्कि तकनीकी कौशल का अधिग्रहण है जो कि आधुनिक समाज में महत्वपूर्ण है। हमें परोपकार की भावना से जिम्मेदार नागरिक बनना होगा। एक व्यापक शिक्षा प्रणाली, एक नैतिक आधार और सामाजिक जिम्मेदारी को मजबूत आधार प्रदान करने में सहायक होती है जिससे कि समाज में युवा पीढ़ी को आकार देने में मदद मिलती है। संस्कृति और शिक्षा अविभाज्य और एक–दूसरे के पूरक हैं। शिक्षा, जीवन में सांस्कृतिक मूल्यों को उपयोगी बनाने के लिए सहायक है, जबकि संस्कृति शिक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अभिप्रेरणा पाई जाती है। विद्यालय जाना, पढ़ाई करना, व्यवसाय करना, भोजन करना, संगीत सुनना, सिनेमा देखना, खेल–खेलना आदि सभी कार्यों के पीछे कहीं न कहीं कोई न कोई अभिप्रेरणा विद्यमान रहती है। उदाहरण के लिए विद्यालय जाने के पीछे शिक्षा ग्रहण करके जीवन में सफलता हासिल करना एक अभिप्रेरणा है। इसी प्रकार मनुष्य का व्यवहार हमेशा ही कुछ प्रेरकों या तत्वों द्वारा नियंत्रित और दिशानिर्देशित होता है तथा ये प्रेरक तत्व आंतरिक होते हैं।

इस प्रकार समाजीकरण व्यक्ति को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बना कर समाज की क्रियाओं में भाग लेने में समर्थ बनाता है। समाजीकरण की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति की परिस्थिति व सामाजिक भूमिकाएं बदलती रहती हैं और उनके अनुरूप व्यवहार के लिए उसे आचरण तथा व्यवहार के नये प्रतिमान सीखने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बचपन में जहां बच्चा सामाजीकरण के माध्यम से माता–पिता, संबंधियों व बुजुर्गों से व्यवहार करना सीखता

टिप्पणी

है, वहीं युवावस्था में उसे नये सिरे से दफ्तर में अपने सहयोगियों, वरिष्ठों, पड़ोसियों आदि से व्यवहार के तौर–तरीकों को सीखना पड़ता है। समाजीकरण को विभिन्न विचारकों और समाजशास्त्रियों ने सिद्धांतों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है जिनमें जी.एच. मीड, चार्ल्स कूले, इमाइल दुर्खीम प्रमुख हैं। मजबूत सांस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करके शिक्षा से छात्रों को समाज को समझने में मदद मिलेगी और वे विकास के संदर्भ में संस्कृति के महत्व को स्वीकार कर सकेंगे।

सांस्कृतिक क्षमता के प्रसार में योगदान

जिन शिक्षकों में सांस्कृतिक क्षमता होती है, वे जानने, देखने और जीवन जीने के लिए बहुत से सांस्कृतिक तरीकों का सम्मान करते हैं, विविधता के लाभों से खुश रहते हैं और उनमें समाज के अंतर को समझने की क्षमता होती है। यह हर रोज की कार्यप्रथा में स्पष्ट होता है जब शिक्षक परिवारों और समुदायों के साथ एक दो–तरफा प्रक्रिया से अपनी स्वयं की सांस्कृतिक क्षमता विकसित करने के लिए अनवरत प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हैं।

शिक्षक को संस्कृति और परिवार के संदर्भ में बच्चों की सफलता के केंद्र के रूप में देखा जाता है। शिक्षक बच्चों की सांस्कृतिक क्षमता को बढ़ावा देने के लिए भी प्रयत्न करते हैं।

सांस्कृतिक क्षमता सांस्कृतिक मतभेदों के बारे में जागरूकता से कहीं अधिक बढ़कर होती है। यह विभिन्न संस्कृतियों के लोगों को समझने के साथ संवाद करने और प्रभावी रूप से उनके साथ बातचीत करने की क्षमता है। सांस्कृतिक क्षमता में निम्नलिखित शामिल हैं–

- संसार के प्रति अपने स्वयं के दृष्टिकोण के बारे में जागरूक होना।
- सांस्कृतिक मतभेदों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोणों का विकास करना।
- विभिन्न सांस्कृतिक प्रथाओं और संसार के दृष्टिकोणों का ज्ञान प्राप्त करना।
- विभिन्न संस्कृतियों के आर–पार संचार और परस्पर व्यवहार की कुशलताओं का विकास करना।

भावनात्मक एकता का माध्यम

विश्व समाज भिन्न–भिन्न राष्ट्रों, भूखंडों, धर्मों, वर्णों और जातियों में विभक्त है। हर राष्ट्र और समाज की अपनी भाषिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पहचान होती है। राष्ट्र की पहचान उसकी अपनी राष्ट्रभाषा से होती है। इस विभाजित मानव समुदाय को भावात्मक और भावनात्मक धरातल पर जोड़कर उनके मध्य बनी हुई विषमता की खाई को पाटना ही भारत की संस्कृति का प्रधान लक्ष्य है।

राष्ट्रीय एकात्मकता

राष्ट्रीय एकात्मकता आज की अनिवार्य आवश्यकता है। भारत जैसे बहुभाषी देश के लिए संस्कृति अत्यंत प्रभावी और उपयोगी माध्यम है जिससे कि देश में व्याप्त भाषिक विभेद को दूरकर जनसामान्य में परस्पर एक दूसरे की भाषा और संस्कृति के प्रति सद्भावना जागृत की जा सके। भारत आज भाषिक और सांस्कृतिक विखंडन

टिप्पणी

की प्रक्रिया से गुजर रहा है जिसका एक प्रमुख कारण वैश्वीकरण (बाजारवाद या भूमंडलीकरण) की प्रक्रिया से उत्पन्न सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास है। संस्कृति जैसे सशक्त और कारगर माध्यम की आवश्यकता सबसे अधिक भारत को ही है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समूचे विश्व को इसकी आवश्यकता है।

वैश्वीकरण का परिदृश्य

आज विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियां तेजी से बदल रही हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के महाविनाश के बाद भी विश्व में स्थायी रूप से शांति स्थापित नहीं हो सकी। आज भी महाशक्तियों के बीच परस्पर वर्चस्व की होड़ लगी है। अमेरिका, चीन और रूस जैसे सामरिक बल से लैस देश समस्त विश्व पर अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं। इसी के परिणाम स्वरूप इन देशों ने समस्त विश्व की आर्थिक व्यवस्था को अपने वश में करने के लिए वैश्वीकरण का एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसके अनुसार राष्ट्रों की संस्कृतियां, व्यापार, बाजार, भाषाएं, संचार–माध्यम, शिक्षा–व्यवस्था आदि में एकरूपता लाने के प्रयास होने लगे। वैश्वीकरण की सोच ने उत्तर–आधुनिक सोच को जन्म दिया। आज सारा विश्व एक वृहत बाजार में तब्दील हो गया है। मनुष्य की प्राथमिकता केवल धनोपार्जन ही हो गयी है। आज संपन्न देश अपने उत्पाद बेचने के लिए बाजार ढूंढ रहे हैं। आज का वैश्वीकरण भारतीय संस्कृति की वसुधैव कुटुंबकम की विचारधारा से नितांत भिन्न है।

भारतीय विचारधारा, शताब्दियों से समस्त मानव समाज को भावनात्मक रूप से एकता के सूत्र में बांधने का संदेश देती है। भारतीय मनीषा मानवीय धरातल पर असमानताओं को दूर कर सारे विश्व में सुख, शांति और समृद्धि के प्रचार व प्रसार के लिए तत्पर रही। आज के वैश्वीकरण की सोच ने मनुष्य को स्वार्थी और आत्मकेंद्रित बना दिया जिससे समाज में नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास बहुत तेजी से हुआ। आज विश्व में प्रौद्योगिकी, विज्ञान, जनसंचार, व्यापार, वाणिज्य और प्रबंधन का क्षेत्र सबसे अधिक विकासशील है। निगमित व्यापार और प्रबंधन प्रणालियों ने एक नई नव–धनाढ्य सभ्यता को विकसित किया है। संचार क्रांति ने मनुष्यों को उपग्रहों के माध्यम से जोड़ दिया है। भौगोलिक दूरियां समाप्त हो गई हैं, लेकिन भावात्मक और भावनात्मक दूरियां बढ़ गईं, लोग अति व्यावहारिक हो गए हैं। इस भाषिक विभेद और भिन्नता को दूर करने का एक मात्र उपाय है, वास्तविक सत्य पर आधारित संस्कृति। अतः संचार क्रांति का प्राणतत्व मानवीय मूल्यों में ही है।

संस्कृति और बाजारवाद

भारत में वैश्वीकरण की बाजारवादी नीति के अंतर्गत बड़ी तेजी से आर्थिक विकास हो रहा है। व्यापार एवं वाणिज्य का सबसे बड़ा क्षेत्र भारत है जहां इन उत्पादों की सर्वाधिक मांग पैदा की जा रही है। भारत जैसे बहुभाषी देश में विदेशी और स्वदेशी उत्पादों की बिक्री केवल किसी उत्पाद के माध्यम से नहीं की जा सकती, वरन् संस्कृति के माध्यम होती है। बाजार में किसी उत्पाद को खपाने के लिए लोगों में संस्कृति के रूप में विज्ञापन प्रणाली के द्वारा उस उत्पाद का प्रचार किया जाता है। यह प्रचार–सामग्री अनेक भाषाओं में पेशेवर विज्ञापन विशेषज्ञ तैयार करते हैं। विज्ञापन का बाजार संस्कृति एवं उसकी उपयोगिता पर ही आधारित होता है।

टिप्पणी

संस्कृति और मीडिया

आज का युग संचार क्रांति का युग है। संचार के माध्यम मानव जीवन पर हावी हो गए हैं। टीवी, इंटरनेट, समाचार–पत्र, पत्र–पत्रिकाएं, फिल्म आदि आधुनिक मानव जीवन के अनिवार्य अंग बन गए हैं। विश्व में आज हर देश और हर समाज में इनका प्रवेश हो गया है। आज समाचार और संदेश चौबीसों घंटे प्राप्त होते हैं। टीवी के चैनल और रेडियो के कार्यक्रम चौबीसो घंटे चलते हैं। समाचार–पत्र के एकाधिक संस्करण हर रोज निकाले जाते हैं। संस्कृति के प्रसार में मीडिया का कुछ योगदान रहा है परंतु इसकी दोहरी मानसिकता से संस्कृति का लाभ कम परंतु विज्ञापन के बाजार का कुछ अधिक ही होता है।

शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में संस्कृति का महत्व

संस्कृति की सबसे अधिक उपयोगिता वैश्वीकृत परिदृश्य में शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में है। शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान और विज्ञान की सामग्री अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर विश्व के सभी देश और शिक्षण संस्थाएं आपस में बांटती हैं। यह आदान–प्रदान संस्कृति के माध्यम से ही होता है। अनुसंधान के परिणामों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आपस में संस्कृति के द्वारा ही साझा करते हैं।

राष्ट्र के निर्माण में संस्कृति का महत्व

किसी भी राष्ट्र का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास उस देश की शिक्षा, संस्कृति पर निर्भर करता है। शिक्षा के अनेक आयाम हैं जो राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हैं। भारत में शिक्षा–व्यवस्था को संचालित करने वाली प्रबंधन इकाई के रूप में प्रशासन नाम की नई चीज जुड़ने से शिक्षा ने व्यावसायिक रूप ले लिया है। शिक्षण को आधुनिक घटना के रूप में देखा जा रहा है। इतिहास में भारत में ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु होते थे, अब शिक्षक हैं। शिक्षक और गुरु में भिन्नता है। गुरु के लिए शिक्षण व्यवसाय नहीं बल्कि आनंद था। शिक्षक अतीत से प्राप्त सूचना या जानकारी को आगे बढ़ाता है, जबकि गुरु ज्ञान प्रदान करता है। सूचना एवं ज्ञान में भिन्नता है। शिक्षा विकास की कुंजी है। विश्वास जैसे आवश्यक गुणों के जरिए लोगों को अनुप्राणित कर सकती है। विकसित एवं विकासशील दोनों वर्ग के देशों में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका समझी गई है। भारत में राष्ट्रीय शिक्षा–नीति को लेकर समय–समय पर बहस होती रही है।

देश के शिक्षण संस्थान प्रतिवर्ष बेरोजगार नौजवानों की फौज तैयार करते जा रहे हैं, परिणामस्वरूप मानव समाज आत्मकेंद्रित और स्वार्थकेंद्रित होता जा रहा है। आज देश की राजनीति में काम और योग्यता का मूल्यांकन न होकर धन का वर्चस्व हो रहा है।

पूंजीवाद से मानवीय संवेदनाएं ध्वस्त हो रही हैं और हमारा शिक्षक समाज इस भयावह परिस्थिति को निरीह और असहाय प्राणी बनकर मूकदर्शक की भांति देखने को विवश हैं।

आज का शिक्षक शिक्षण छोड़कर अन्य समस्त सरकारी योजनाओं व गतिविधियों में संलग्न है। वह प्राथमिक स्तर का हो अथवा विश्वविद्यालयीन, उनसे लोकसभा, विधानसभा सहित अन्य स्थानीय चुनाव, जनगणना, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री अथवा अन्य

टिप्पणी

इस श्रेणी के नेताओं के आगमन पर सड़क किनारे बच्चों की प्रदर्शनी लगवाने के अतिरिक्त अन्य सरकारी कार्य संपन्न करवाए जाते हैं। देश की शिक्षा–व्यवस्था एवं शिक्षकों की मौजूदा चिंतनीय दशा के लिए हमारी राष्ट्रीय और प्रादेशिक सरकारें सीधे तौर पर जिम्मेदार हैं, जिन्होंने शिक्षक समाज को अपने हितों की पूर्ति का साधन बना लिया है। शिक्षा वह है, जो जीवन की समस्याओं को हल करे, जिसमें ज्ञान और काम का योग है। सुख और दुख की भांति मनुष्य ज्ञान को भी दूसरों के साथ बांट लेना चाहता है। जो वह स्वयं जानता है उसे दूसरों तक पहुंचाना चाहता है और जो दूसरे जानते हैं उसे स्वयं जानना चाहता है। सांस्कृतिक मानकीकरण की अभिव्यक्ति को अलग–अलग संदर्भों में अलग–अलग तरीके से महसूस किया जा सकता है। प्रायः उन्हें पश्चिमी या लोकप्रिय सांस्कृतिक व्यवहारों के दायरे से निकाल कर स्थानीय पारंपरिक संस्कृति को पुनर्सृजित किया जा सकता है।

संस्कृति एवं स्वजातीयता

संस्कृति के अन्तर्गत स्वजातीयता (Ethnocentrism) एक ऐसी अवधारणा है जिसमें कोई जाति स्वयं को, अन्य जातियों से बेहतर समझती है। इसे नृजातियता, सजातियता आदि भी कहा जाता है। स्वजातीयता शब्द का उदय जातीय शब्द से बनाया गया है– Ethnic = जातीय तथा Ethnicity = जातीयता। शब्द का अर्थ समझ लेने पर स्वजातीयता का आशय इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि स्वाजतियता एक ऐसा सिद्धांत है जिसके अंतर्गत, जातीयता से संबंधित अध्ययन किया जाता है। हिंदी में इसका अर्थ 'प्रजाति केंद्रित' के रूप में लिया जाता है, अर्थात् यह मनुष्य की वह प्रवृत्ति है जिसमें कि वह अपनी स्वयं की प्रजाति को अन्य से श्रेष्ठ समझते हुए इसका पक्ष लेता है तथा अपनी संस्कृति का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए श्वेत वर्ण के व्यक्ति सदियों से स्वयं को श्याम वर्ण के व्यक्तियों से श्रेष्ठ समझते आए हैं एवं अपनी श्वेत वर्ण की प्रजाति को ही सर्वश्रेष्ठ स्थापित करते रहे हैं। स्वयं को श्रेष्ठ करने की यही प्रवृत्ति या अवधारणा को समाजशास्त्रीय अध्ययन विषयवस्तु में प्रजाति केंद्रित कहा जाता है।

समाज में अनेक प्रकार के जातीय समूह या जातीयता या नृजातीयता के समूह प्रत्येक समाज में लंबे समय से विद्यमान रहे हैं। नृजातीय समूहों के व्यक्ति स्वयं को, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, वर्णात्मक जाति या क्षेत्र के आधार पर पहचान बनाते हैं। अन्य सामाजिक समूहों के उलट, स्वजातीयता एक ऐसा समूह होता है जो कि वंशानुगत के आधार (विरासत) पर जन्म लेता है। स्वजातियता की संस्कृति जाति विशेष या क्षेत्र विशेष तक भी सीमित हो सकती है परन्तु अन्य समाज या जातियां इनकी संस्कृति से कुछ हद तक प्रभावित अवश्य होती हैं।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद

सांस्कृतिक सापेक्षवाद को समझने से पूर्व, 'सापेक्षवाद' का अर्थ मालूम होना अनिवार्य हो जाता है। सापेक्षवाद (Relativism) एक ऐसा सिद्धांत या अवधारणा है जो यह मानता है कि "कुछ भी सत्य नहीं है" अर्थात किसी भी तथ्य या विचार को 'पूर्ण सत्य' नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत सापेक्षवादियों का यह भी विचार होता है कि "जो भी हम देखते या फिर समझ पाते हैं वह सब कुछ किसी न किसी वस्तु के संदर्भ या सापेक्ष में ही देखते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम किसी सीधी रेखा की

सत्यता की जांच करते हैं तो किसी अन्य वस्तु के ही सापेक्ष कर पाते हैं इस प्रकार हम कहते हैं कि कोई रेखा सीधी है अथवा नहीं। इस रेखा का सीधा होना पहली रेखा के सापेक्ष ही है।

टिप्पणी

पूर्ण सत्य या परम सत्य को इस आधार पर अस्वीकृत करते हुए सापेक्षवादी सांस्कृतिक सापेक्षवाद को भी तार्किकता के साथ जोड़ते हैं। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि सापेक्षवादियों का सांस्कृतिक सापेक्षवाद तार्किक परिणाम होता है। कोई व्यक्ति तर्क के आधार पर यह कह सकता है–

- अमुक संस्कृति बुरी है।
- अमुक संस्कृति अच्छी है।
- अमुक संस्कृति कभी अस्तित्व में नहीं थी।
- मेरी संस्कृति ही पुरातन एवं सत्य पर आधारित है।
- मेरी संस्कृति ही विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है।
- दूसरे लोगों या समाज ने हमारी संस्कृति की नकल की है।
- आपकी संस्कृति हमारी ही देन है।
- भारत ही संपूर्ण विश्व का योग गुरु है।

उपरोक्त प्रकार के अनेक अन्य तर्क भी दिये जा सकते हैं परंतु इन सभी की सत्यता प्रमाणित करना अत्यंत कठिन एवं जटिल कार्य होगा। इससे भी कठिन कार्य तार्किकता का उत्तर ढूंढ़ना। तर्क के आधार पर दिये गए व्यक्तियों के आधार पर कभी भी सत्य को स्थापित नहीं किया जा सकता है वरन् मानसिक संतुष्टि प्राप्त की जा सकती है कि हमने अपने अहम एवं ज्ञान का पांडित्य प्रदर्शित करके तर्क या कुतर्क के आधार पर अपनी बात को सापेक्षतः बड़ा सिद्ध कर लिया है, परंतु ऐसा तो सभी संस्कृतियों के लोग करते ही हैं एवं सांस्कृतिक गतिरोध एवं विचलन को बढ़ावा देते हैं।

संस्कृति एवं व्यक्तित्व

संस्कृति का विस्तृत अध्ययन इस अध्याय में दिया जा चुका है। अब संस्कृति में व्यक्तित्व का पारस्परिक संबंध एवं इसकी अवधारणा को स्पष्ट करते हैं।

'व्यक्तित्व' व्यक्ति का समग्र रूप से शारीरिक, मानसिक एवं समाजीकृत, जीवन का संगठन व्यक्तित्व कहलाता है। व्यक्तित्व का अर्थ बाहरी शारीरिक बनावट से नहीं होता वरन् उस मनुष्य के गुण एवं संस्कारों के साथ भी जोड़ कर देखा जाता है। (के. यंग, 'हेन्डबुक ऑफ सोशल सायकोलॉजी', 1957)

व्यक्तित्व को, किसी व्यक्ति की आदतों, लक्षणों मनोवृत्तियों एवं विचारों के प्रतिमानित संग्रह के रूप में परिभाषित करते हैं। ये बाह्य रूप से तो भूमिका एवं स्थितियों के रूप में संगठित होते हैं परंतु आंतरिक रूप से उद्देश्यों, प्रेरणाओं एवं आत्म के विभिन्न पहलुओं से संबंधित होते हैं।

जी.डब्लयू. ऑलपोर्ट के शब्दों में, ''व्यक्ति के आदर, उन मनो–शारीरिक व्यवस्थाओं का गतिशील संगठन जो कि वातावरण के प्रति होने वाले उसके अपूर्व अनुकूलनों का निर्धारण करते हैं उन्हें व्यक्तित्व कहा जाता है।''

टिप्पणी

व्यक्तित्व के निम्नांकित कारक निर्धारित करते हैं–

1. शरीर रचना
2. संस्कृति
3. समाज

व्यक्तित्व एवं सांस्कृतिक संबंध

जॉन गिलिन ने संस्कृति एवं व्यक्तित्व के संबंधों को निम्न तथ्यों के द्वारा संबंधित किया है–

1. जन्म के पश्चात शिशु, मानव निर्मित पर्यावरण में आ जाता है, जिसमें जीवित एवं अजीवित सभी प्रकार की वस्तुएं होती हैं। इन सबका पारस्परिक संबंध संस्कृति के द्वारा ही निर्धारित होता है।
2. संस्कृति मनुष्य को एक विपरीत ढंग से कार्य करने को प्रेरणा देती है एवं समाज के दबाव एवं बाध्यतापूर्वक उनका पालन करना ही पड़ता है। यदि कोई मुस्लिम औरत पर्दा नहीं लेना चाहती परंतु उसका समाज उसे ऐसा करने से रोकता है।
3. संस्कृति मनुष्य को अच्छी या बुरी आदतें अपनाने या छोड़ने की प्रेरणा भी देती है।

लिन्टन ने व्यक्तित्व एवं संस्कृति में दो प्रभाव बतलाए हैं–

1. प्रत्येक संस्कृति यह निश्चित करती है कि शिशुओं एवं वयस्कों पर किस प्रकार के प्रभाव पड़ने चाहिए।
2. इस प्रकार के प्रभाव जो कि मनुष्य द्वारा स्वयं ही अपने सामान्य व्यवहारों के माध्यम से संस्कृति के अनुसार पड़ते हैं।

रूथ बेनेडिक्ट ने व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभाव के बारे में कहा है कि "शिशु जिस प्रकार की प्रथाओं में जन्म लेता है ये प्रथाएं जन्म से ही शिशु के अनुभव एवं व्यवहारों को बनाती है अर्थात् जब शिशु बोलना सीख जाता है तो अपनी संस्कृति का छोटा प्राणी बन जाता है। धीरे–धीरे शिशु व्यस्क बनकर संस्कृति के ही अनुरूप अपना व्यक्तित्व बना लेते हैं।"

व्यक्तित्व की विशेषताएं एवं संस्कृति

संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव जानने के लिए हमें व्यक्तित्व के निम्नलिखित विशेष गुणों का अवलोकन करना होगा–

- सामाजिक जवाबदेही या भावना।
- पीड़ा सहने की क्षमता।
- यौन नैतिकता।
- व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक लक्षण।
- असमान्य व्यवहार।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण में संस्कृति की निर्णायक भूमिका होती है परंतु व्यक्तित्व निर्माण का एकमात्र कारक संस्कृति नहीं हो सकती है। अनेक बार, मानव व्यक्तित्व, संस्कृति का लेशमात्र अंश भी नहीं होता है।

टिप्पणी

1.2.2 भारतीय संस्कृति की विविध विवेचनाएं

भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। विश्व में प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक भारतीय संस्कृति विश्व विख्यात है। भारतीय उपमहाद्वीप में हड़प्पा जैसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध नगर रहे हैं। भारतीय संस्कृति प्राचीन समय से विश्व के दूसरे प्राचीन सभ्यताओं के साथ आदान–प्रदान करती आई है। इसी कारण भारत की विविधता अतुल्य है। प्राचीन काल से ही विश्व के दूसरे हिस्सों से आने वाले व्यापारी, ज्ञानी एवं जहाजियों में से कई ने भारत को ही अपना घर बना लिया। इससे भारतीय उपमहाद्वीप में संस्कृतियों का एक अनूठा मेल बना। भारत का भौगोलिक विस्तार और यहां मिलने वाले लोगों की भाषाएं एवं जीने के तरीके विशिष्ट हैं। यहां हर क्षेत्र एवं उसमें रहने वाले लोगों में विविधता के साथ अनेक समानतायें भी दिखाई देती हैं, जो यहां के लोगों ने सदियों से साथ रहकर प्राप्त किया है।

'अनेकता में एकता' ही भारतीयता का मूल सूत्र है। यहां अनगिनत भाषायें एवं बोलियों का प्रयोग होता है। यहां के रहने वाले लोग विभिन्न रंग–रूप, जाति एवं धर्म के होने के बावजूद एक 'भारत' का नागरिक होने की पहचान रखते हैं।

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से प्राप्त पुरातात्विक एवं लिखित स्रोतों के माध्यम से हमें भारतीय संस्कृति की नींव का पता चलता है। मध्यकालीन भारत में भी लिखित स्रोतों की कमी नहीं है। संस्कृत, प्राकृत, पाली, तमिल आदि भाषाओं के धार्मिक एवं सामान्य ग्रंथ हमें भारतीय समाज एवं संस्कृति के विषय में बताते हैं। मध्यकाल में अरबी–फारसी एवं संस्कृत, अवधि भाषाओं में लिखित साहित्य से हमें भारतीय संस्कृति का पता चलता है। आधुनिक काल की अंग्रेजी एवं विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य हमें भारतीय संस्कृति के विषय में बताता है।

भारतीय संस्कृति पर टिप्पणी एवं विवाद मुख्यतः आधुनिक काल में अंग्रेजों के भारतीय संस्कृति के विषय में लिखे जाने से प्रारंभ होता है। अंग्रेजी विद्वानों के भारतीय संस्कृति के आकलन विभिन्न दृष्टिकोण वाले थे। कुछ विद्वान भारतीय संस्कृति की ओर उदार भाव रखते थे एवं उसे प्रभावित भी थे। ऐसे विद्वान भारत के संस्कृति के विषय में सकारात्मक अनुभवों के बारे में लिखते थे। दूसरी तरफ कुछ अंग्रेजी मूल के विद्वान व लेखक पाश्चात्य प्रभाव से अभिभूत होकर भारत के विषय में नकारात्मक बात कहते थे। इसका जवाब देने के लिए भारतीय मूल के विद्वानों ने अलग–अलग तरह से भारतीय संस्कृति के विषय में लिखा है।

प्राच्यवादी विद्वान (Orientalist Scholars) एशिया की संस्कृति को महत्व देते थे एवं मानते थे कि भारत जैसे एशियाई देशों को उनकी परंपराओं और प्रथा के अनुसार ही चलाया जाना चाहिए।

इसके विपरीत आंग्लवादी (Anglicist) विद्वान मानते हैं कि भारत की संस्कृति एवं मान्यतायें पाश्चात्य मान्यताओं से निम्न स्तर के हैं एवं उन्हें विदेशी रीति–रिवाजों से चलाया जाना चाहिए।

टिप्पणी

भारतीय संस्कृति में उपलब्ध विभिन्न धर्म, जाति एवं इलाकों के विविध कला–कौशल, इतिहास, नृत्य, संगीत और परंपराओं से संपन्न धरोहर को ध्यान में न रखकर Analicist विद्वान एशियाई संस्कृति को पिछड़ा हुआ समझते थे। इस तरह की सोच वाले प्रशासनिक अधिकारी 18वीं व 19वीं शताब्दी में भारत के संस्कारों को नजरअंदाज करके अंग्रेजी तरीके से शासन चलाना चाहते थे। भारतीय धार्मिक एवं जातीय परंपराओं के अनुसार शादी–विवाह, शिक्षा आदि पर हस्तक्षेप देखकर भारतीयों ने अंग्रेजों की इन नीतियों का विरोध किया।

अंग्रेजी मूल के विद्वानों और इतिहासकारों ने समसामयिक परिदृश्य का प्रयोग कर भारत की कई सांस्कृतिक परतों की खोज की। हड़प्पा संस्कृति, अजंता–एलोरा की गुफायें एवं ब्राह्मी भाषा की खोज आदि का श्रेय अंग्रेजी मूल के विद्वानों को जाता है।

थोमस डेनियल और विलियम होड्ज जैसे चित्रकारों ने भारतीय स्थापत्य कला की बारीकियों को अपने चित्रों में उतारा है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी सर विलियम जोन्स ने भारत के सांस्कृतिक चरित्र को एक नई पहचान प्रदान की है। जोन्स ने स्वयं संस्कृत भाषा सीखी और पहली बार संस्कृत भाषा में छुपे हमारे धार्मिक एवं दार्शनिक धरोहर को विश्व के समक्ष रखा। 1784 ई. में ब्रिटिश गवर्नर जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स की सहायता से जोन्स ने एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। एशियाटिक सोसाइटी के दूसरे बहुमुखी प्रतिभा से जुड़े व्यक्ति जेम्स प्रिन्सेप ने अपने मेहनत से ब्राह्मी लिपि की खोज की एवं भाषा के माध्यम से मौर्यकालीन इतिहास को समझने में मदद मिली। इस लिपि के माध्यम से ही हमें सम्राट अशोक के बौद्ध जीवन में परिवर्तन का पता चलता है।

बौद्ध धर्म के संस्थापक के बारे में कोई ठोस जानकारी उपलब्ध नहीं थी। 1790 के दशक में एक अंग्रेज विद्वान को बर्मा में रहने के दौरान यह पता चला कि बुद्ध (जो कि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक थे) बिहार के थे।

इस प्रकार बुद्ध के भारतीय मूल की जानकारी प्राप्त हुई एवं उससे प्रेरित खोज के माध्यम से स्तूप आदि के अवशेषों का पता लगा। 1819 में सांची की खोज भी एक अंग्रेजी सेना के अफसर ने की। भारतीय पुरातत्व विभाग के अलेक्जैंडर कनिंघम ने बाद में स्तूपों की खोज की।

भारत के सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता जिसकी खोज ने भारतीय उपमहाद्वीप को दुनिया के प्राचीनतम सभ्यताओं के बीच लाकर खड़ा कर दिया है। सिंधु घाटी सभ्यता की खोज भी अंग्रेजी अफसरों के लगन से ही हो पाई। बाद में कई भारतीय मूल के अफसरों ने अलग–अलग शहरों एवं इस सभ्यता से जुड़े अनेक स्थानों की खोज की।

भारतीय संस्कृति से लगाव रखने वाले अंग्रेजी विद्वानों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की खोज ही नहीं की बल्कि वर्तमान से काफी करीबी कुछ स्थापत्य कला, चित्रकारी एवं कलाकारी को पहचाने से लेकर बचाने का कार्य भी उन्होंने किया है। लाल किला से लेकर दीवान–ए–खास एवं दीवान–ए–आम, मोती मस्जिद और ताज महल को बचाने और संस्कृतिक धरोधर के रूप में संजोये जाने में अंग्रेजों की एक बड़ी भूमिका है।

मैक्यूले जैसे अंग्रेजी मूल के विद्वान ने भारत की सांस्कृतिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि पूर्व की अरबी–फारसी सभ्यता को मिलाकर पाश्चात्य सभ्यता

टिप्पणी

में पायी जाने वाली एक अलमारी अच्छी किताबें भी भारतीय संस्कृति का मुकाबला नहीं कर सकतीं। मैक्यूले भारत एवं अन्य, पूर्वी सभ्यताओं के बारे में भिन्न राय रखते थे।

भारतीय परंपराओं में कई प्राचीन मान्यतायें रूढ़िवादी भी थीं, जो महिलाओं एवं नीची जाति के मनुष्यों को कमतर समझती थीं। भारत की परंपरागत पृष्ठभूमि में बाल विवाह, सती प्रथा का होना, विधवा का पुनर्विवाह का वर्जित होना, जाति प्रथा आदि ऐसी बुराइयां थीं जिसके बारे में लिखकर अंग्रेजी लेखक भारतीय संस्कृति का संपूर्ण चित्र इसी में प्रस्तुत करना चाहते थे। भारत में महिलाओं की दुर्दशा के विषय में लिखकर वे भारत के समाज में पाश्चात्य हस्तक्षेप को सही ठहराना चाहते थे। इस पर कई विभिन्न प्रतिक्रियायें भारतीयों द्वारा दी गईं। राजा राममोहन राय ने भारत की कुरीतियों के विपक्ष में अपनी आवाज बुलंद की और भारत के ही अन्य प्राचीन सांस्कृतिक पूंजी जैसे कि वेदों का ज्ञान, दार्शनिकता आदि को भारत के मूल आधार के रूप में प्रस्तुत किया।

भारतीय सांस्कृतिक धरोहर में मुख्य इकाई परिवार है, जिसके अस्तित्व के सबूत हमें वैदिक काल से प्राप्त होते हैं। वैदिक काल में गांवों के लोगों को मुख्य रूप से कुल व परिवार के तहत पहचाना जाता था। तब से लेकर आज तक भारत की पारिवारिक इकाई को विश्वभर में जाना जाता है। संयुक्त परिवारों की संस्कृति हमारे भारतवर्ष की एक अनूठी पहचान है, परंतु अब आधुनिकता एवं वक्त के साथ ही संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवारों ने ले ली है। गांधी जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक एवं नेता ने देश के बहुमुखी विकास के लिए गांवों पर जोर दिया है। भारत में गांवों की अनूठी संस्कृति को लेकर गांधी ने कहा था कि भारतीय समाज के बहुमुखी विकास हेतु गांवों का विकास अत्यंत महत्वपूर्ण है।

महाकवि रविन्द्रनाथ टैगोर ने भी गांव के महत्व पर जोर दिया है। टैगोर ने गांव के पुनर्निर्माण के तरीकों और महत्व पर अपने निबंध 'स्वदेशी समाज' में जोर दिया। टैगोर और गांधी– दोनों ही महान व्यक्तियों ने भारत के ग्राम एवं भारत की धार्मिक एवं जातीय विविधता की महत्ता पर जोर दिया है। भारतीय संस्कृति की विविधता, सहिष्णुता और भौगोलिक विस्तार को अलग–अलग विद्वानों ने निम्नलिखित शब्दों में पेश किया है–

डॉ. व्हाइटहेड मानते हैं कि भारतीय संस्कृति मानसिक प्रयास, सौंदर्य और मानवता की अनुभूति है।

प्रसिद्ध हिंदी भाषा के कवि रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। यह एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी तरह से व्याप्त हुआ है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इस स्तर का निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग–युगान्तर में होता है।

श्री अरविंदो घोष भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति के बीच अंतर दर्शाते हुए कहते हैं कि भारतीय संस्कृति की 'आत्मीयता' (Sprituality) वह विशेषता है जो उसे दुनिया की दूसरी संस्कृति से अलग करती है।

टिप्पणी

डॉ. सम्पूर्णानन्द मानते हैं कि मानव का प्रत्येक विचार, प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं है, पर जिन कामों में किसी देश–विशेष के समस्त समाज व देश का विशाल भव्य प्रसाद निर्मित होता है, वह संस्कृति है।

गिलिन मानते हैं कि प्रत्येक समूह एवं समाज में ऐसे व्यवहार के ऐसे प्रतिमान होते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते हैं तथा बच्चों को सिखलाये जाते हैं, जिनमें निरंतर परिवर्तन की संभावना रहती है।

ग्रीन मानते हैं कि संस्कृति ज्ञान, व्यवहार, विश्वास की उन आदर्श पद्धतियों तथा ज्ञान व व्यवहार से उत्पन्न हुए साधनों की व्यवस्था को जो कि समय के साथ परिवर्तित होती है, कहते हैं जो सामाजिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती हैं।

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह है कि वह अत्यंत प्राचीन है और हमें इसके विशेष तथ्य सिंधु घाटी सभ्यता के काल से मिलने लगते हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में सिंधु घाटी सभ्यता के अवशेष भारत को विश्व इतिहास के नक्शे में सर्वप्रथम नगर वाले इलाकों के साथ स्थापित कर करते हैं। सिंधु घाटी सभ्यता में हमें विकसित नगर के अवशेष, मृदभांड, नालियों के अवशेष एवं अन्य अनेक तरह के अवशेष प्राप्त होते हैं, जो हमें विश्व के प्राचीनतम सभ्यताओं से हो रहे समसामयिक लेन–देन के विषय में भी बताते हैं।

सिंधु घाटी सभ्यता के अवशेष हमें सिंध, बलूचिस्तान जो कि वर्तमान में पाकिस्तान में स्थित है से लेकर राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, गुजरात आदि राज्यों से प्राप्त होते हैं।

सिंधु घाटी सभ्यता में प्राप्त मातृदेवी की प्रतिमायें, नृत्य करती लड़की की प्रतिमा, आदि से हमें सिंधु घाटी के विभिन्न पहलुओं का पता लगता है। सिंधु घाटी में प्राप्त लिपि को समझा नहीं गया है और इसी कारण से सिंधु घाटी सभ्यता और संस्कृति के बारे में जो कुछ भी हमें पता है, मुख्यतः मूर्तियों, भांडों और भौतिक खोजों से ही पता चला है। सिंधु घाटी से प्राप्त टेराकोटा सील में हमें शिव के रूप जैसा एक अंकन प्राप्त हुआ है, जो शिव के पूजन के शुरुआती दौर के रूप में देखा गया है। यह अंकन शिव का ही है जो बाद में मुख्य देवता स्वरूप पूजे जाते हैं।

सिंधु घाटी सभ्यता भारतीय इतिहास की मुख्य प्राचीन कड़ी मानी जा सकती है। उसके बाद वैदिक काल को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माना गया है। वैदिक काल को दो भागों में बांटा गया है, पूर्व वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल। पूर्व वैदिक काल का मुख्य ग्रंथ ऋग्वेद है, जिससे इतिहासकारों को 1500 ई.पू. से लेकर 1000 ई.पू. की जानकारी प्राप्त होती है। उत्तर वैदिक काल की सामाजिक स्थिति के विषय में हमें उत्तर वैदिक ग्रंथों से पता चलता है। ऋग्वेद के कुछ हिस्से और सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद और दूसरे वेदांत ग्रंथों से हमें उत्तर वैदिक कला एवं संस्कृति का पता चलता है।

वैदिक युग के साहित्य से उस समय के परिवार का महत्व, परिवार में साथ निवास कर रहे लोग, परिवार के स्वामी, महिलाओं की स्थिति आदि का पता चलता है। वैदिक युग में लिखे गये मंत्रों में वैदिक समाज के विषय में वर्णन किया गया है।

टिप्पणी

वैदिक युग के बाद हमें भारतीय सामाजिक स्थिति में बदलाव देखने को मिलता है, जो हमें बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के उदय के विषय में बताता है। छठवीं शताब्दी ई. पू. (6th Century B.C.) को दूसरा नगरीकरण का युग भी कहा जाता है। भारतीय समाज में संस्कृत में लिखे गये ग्रंथों को पढ़ने की अनुमति केवल ब्राह्मण पुरुषों को ही थी। जातिवादी समाज के कारण दूसरे जातियों और वर्ग के लोगों को ग्रंथ पढ़ने एवं धार्मिक अनुष्ठानों में शामिल नहीं किया जाता था। इतिहासकार मानते हैं कि यही कारण था कि लोग जैन एवं बुद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुये।

इसके बाद की कड़ी में मौर्यकालीन संस्कृति का महत्व है, जो कि प्राचीन भारत के मुख्य कुलों का दस्तावेज माना जाता है। मौर्यकाल के लिखित स्रोत एवं पुरातत्व द्वारा खोजे गये स्थापत्य स्रोत हमें मौर्यकालीन रीतियों एवं उनके धार्मिक जीवन से जुड़े तथ्यों के बारे में बताते हैं। मौर्यकालीन ग्रंथ हमें राज्य के बारे में, राजा एवं मंत्रियों के बारे में व राजनीति एवं राजपाठ के विषय में भी विस्तृत रूप से बताते हैं।

भारतीय पुरातत्व विभाग को गन्धार एवं मथुरा की कला के माध्यम से भी सामाजिक स्थिति का पता चला है। बुद्ध की प्रतिमाओं का इंडो–ग्रीक अवतार, यज्ञ–यक्षिणियों की सुंदर मूर्तियां आदि हमें कला के क्षेत्र में यवन से हो रहे आदान–प्रदान के बारे में बताती हैं।

इसके उपरांत हमें गुप्तकाल के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो धार्मिक चेतना में हो रहे परिवर्तन व सामाजिक एवं राज्य की स्थिति में बदलाव को दर्शाते हैं। गुप्त युग को भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने 'स्वर्ण युग' की उपाधि दी है, जबकि बाद के इतिहासकार 'स्वर्ण युग' की उपाधि को राजनीतिक कारणों से ओत–प्रोत मानते हुए, इसे ठुकराते हैं।

इसके साथ ही मध्यकालीन अवधि की शुरुआत होती है। मध्यकाल में दिल्ली सल्तनत की स्थापना एवं मध्य एशियाई इलाकों से आये लोगों का राजपाठ पर नियंत्रण हमारे सामाजिक गठन में एक नया तत्व डालता है। इसी के साथ इस्लामी धर्म की भारतीय उपमहाद्वीप में पुख्ता तौर पर उपस्थिति दर्ज होती है। दिल्ली सल्तनत में लिखे गये ग्रंथ एवं स्थापत्य कला उस समय के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती है।

दिल्ली में सुल्तानों का नेतृत्व था एवं उपमहाद्वीप के दूसरे हिस्सों में हिंदू राजाओं का व अन्य धर्म–अनुयायियों के उपस्थित होने के सबूत मिलते हैं। मध्यकालीन संस्कृति का एक बड़ा हिस्सा भक्तिवाद एवं सूफीवाद की परंपराओं से युक्त दिखता है। भारत के विभिन्न हिस्सों से प्राप्त भक्तिवाद एवं सूफीवाद के ग्रंथ हमें ऐसे भारतीय समाज के विषय में महत्वपूर्ण तथ्य बताते हैं।

दिल्ली सल्तनत के बाद मुगलकालीन समय में हमें भारतीय स्थापत्य कला एवं संस्कृति के अनूठे नमूने मिलते हैं। ताज–महल एक ऐसी विश्व प्रसिद्ध इमारत है, जिससे स्थापना मुगलकाल में की गई।

यहां प्रस्तुत की गई विवेचनाएं भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की विविधता की एक झलक मात्र हैं। मोटे तौर पर प्राप्त वस्तुओं, ग्रंथों एवं कला के माध्यम से भारत के सांस्कृतिक इतिहास को पिरोने की कोशिश की जाती रही है परंतु हमें साथ ही

यह भी समझना होगा कि भारतीय सांस्कृतिक इतिहास बहुत जटिल है। मुख्य केंद्रों में हो रहे सामाजिक और आर्थिक बदलाव के अलावा उपमहाद्वीप के दूसरे हिस्सों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे।

टिप्पणी

मुगल शासन के कमजोर पड़ने पर विभिन्न यूरोपीय कंपनियों ने अपने पांव भारत में पसारे हैं। उपमहाद्वीप के शासकवर्ग एवं यूरोपीय व्यापारियों के बीच अनेक लड़ाइयों के बाद भारत का राजनीतिक नियंत्रण ब्रिटिश के हाथ में चला जाता है। ब्रिटिश शासकों के अंतर्गत भारतीय संस्कृति एवं कला में कुछ नये अध्याय जोड़े जाते हैं। धार्मिक रूप से अब समाज में एक नये धर्म ईसाईवाद का प्रवेश होता है। आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा, कला एवं विषयों का प्रचार–प्रसार होता है। मुद्रण के साथ विचारों को कागज पर उतारा जाता है एवं विचारों का आदान–प्रदान हो पाता है। भारतीय साहित्य, कला एवं संस्कृति के विभिन्न पहलू इस काल में फलते–फूलते एवं अनुकूलित होते हैं।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका रखने वाले 'भारतीय सिनेमा' की शुरुआत भी इसी युग में होती है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. संस्कृति को प्रतीकात्मक, निरंतर, संचयी एवं प्रगतिशील प्रक्रिया कहकर किसने परिभाषित किया है?

   (क) इलियट (ख) रेडफील्ड

   (ग) व्हाइट (घ) डॉ. संपूर्णानंद

2. संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव जानने के लिए व्यक्तित्व के किन गुणों का अवलोकन आवश्यक है?

   (क) सामाजिकता की भावना (ख) यौन नैतिकता

   (ग) पीड़ा सहने की क्षमता (घ) पूर्वोक्त सभी

1.3 प्रागैतिहासिक एवं आद्य इतिहास

मानव सभ्यता का इतिहास वस्तुतः मानव के विकास का इतिहास है। हमारी पृथ्वी और सृष्टि की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति–विकास के विषय में दो प्रकार के मत हैं। प्रथम धार्मिक और दार्शनिक मत तथा द्वितीय वैज्ञानिक मत। विभिन्न धर्मों में दर्शनशास्त्रों ने सृष्टि के आविर्भाव के संबंध में अपने–अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है दूसरा मत विज्ञान का है। भूगर्भ विज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राणि विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान आदि ने भी अपने–अपने विभिन्न साधनों, अन्वेषणों, परीक्षणों और खोज के बाद सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में नवीन तथ्य रखे हैं।

हमारी पृथ्वी की उत्पत्ति लगभग 4–5 अरब वर्ष पूर्व मानी जा सकती है। पृथ्वी की उत्पत्ति 15 अरब वर्ष पूर्व बिगबैंग थ्योरी के अंतर्गत हुई। इस सिद्धांत के अनुसार, 15 अरब वर्ष पूर्व एक महाविस्फोट हुआ। जिससे अनेक टुकड़े बने जो कालांतर में मंदाकिनी ग्रहों एवं उपग्रहों में परिवर्तित हो गए। यद्यपि पृथ्वी की उत्पत्ति 4–5 अरब

वर्ष पूर्व ही हो गई थी परंतु जीव का विकास लगभग 72 करोड़ वर्ष पूर्व ही हुआ था। तब से आज तक मानव प्रजाति व पृथ्वी पर पाई जाने वाली प्रत्येक प्रजाति अपने सुधारवादी रूप में विद्यमान है।

टिप्पणी

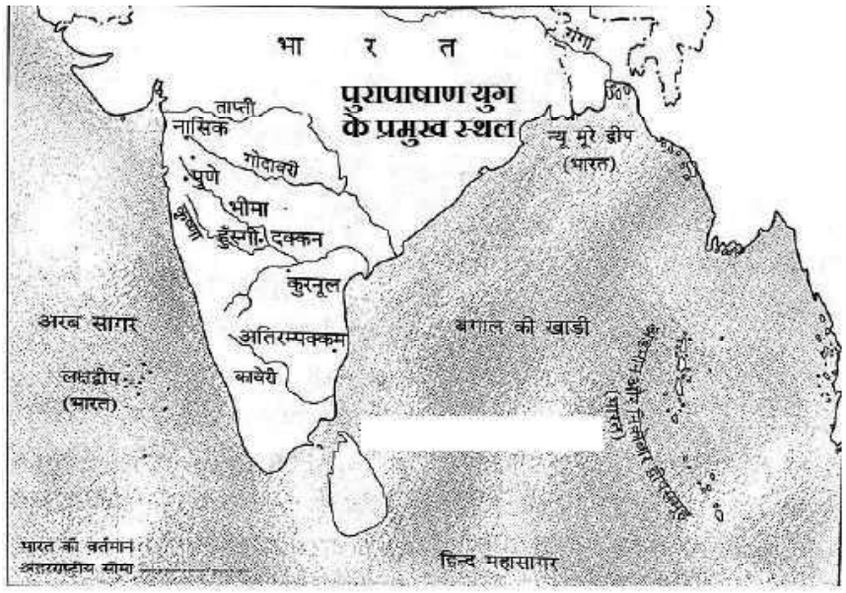

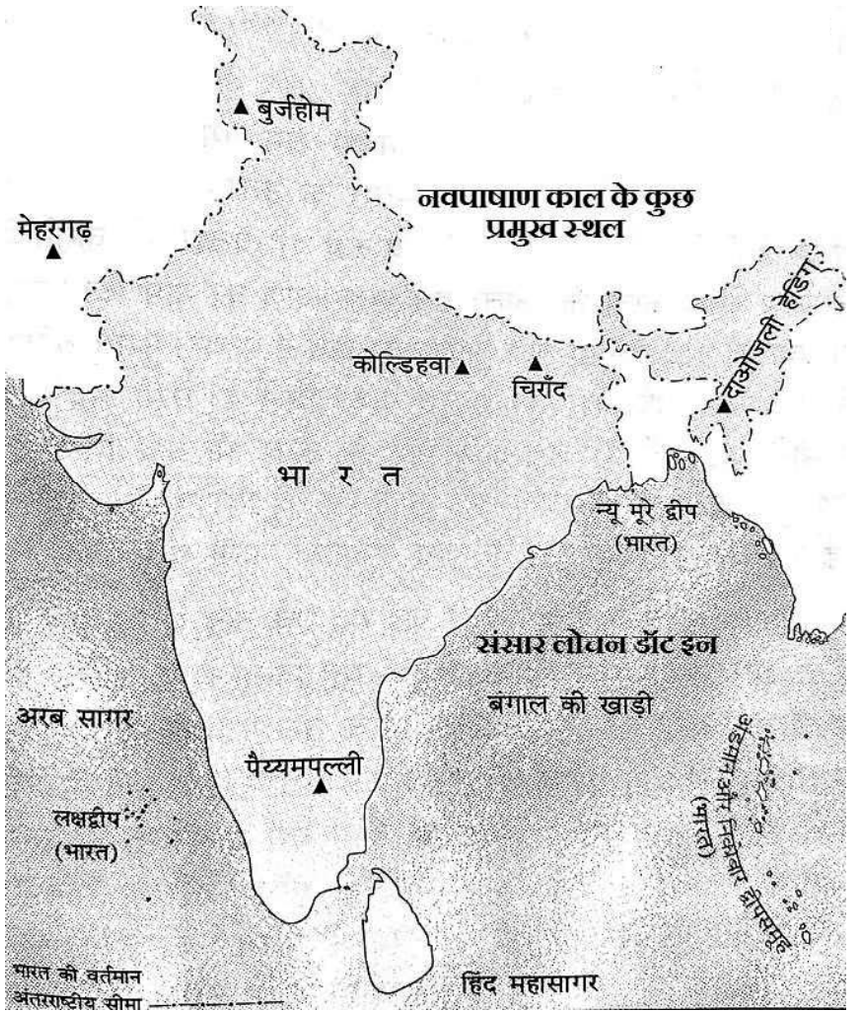

टिप्पणी

1.3.1 प्रागैतिहासिक काल

हमारी पृथ्वी भू–वैज्ञानिक दृष्टि से महाकल्पों में विभाजित है। प्रत्येक महाकल्प अनेक कालों में तथा प्रत्येक काल अनेक युगों में विभाजित है। भू–वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी का वर्तमान में जो महाकल्प चल रहा है वह नूतनजीव महाकल्प है।

हक्सले ने मैनस पेलेस इन नेचर में बंदर व मानव में अत्यधिक समानता प्रकट की है। वैज्ञानिक जब मानव जीवाश्मों का तुलनात्मक विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि मानव, बंदर व कपि के पूर्वज एक ही थे। लिनियस ने ही प्रथम बार आधुनिक मानव को होमोसेपियंस (बुद्धिमान प्राणी) कहा। 'होमोसेपियन' बनने से पहले मानव रामापिथेकस, आस्ट्रेलोपिथेकस, अफ्रीकंस, होमोइरेक्टस, निएंडरथल, क्रोमैगनन आदि अवस्था से गुजरा। लगभग 3–5–2 करोड़ वर्ष पूर्व लगभग 4 फुट का कपि घने जंगल के बाहर आया। जलवायु परिवर्तन के साथ–साथ इस कपि में भी परिवर्तन आने शुरू हो गए। इस बीच कपियों की दो शाखाएं बनीं। पहली शाखा जो जंगल में रही वह रामापिथेकस कहलाई तथा जो शाखा मैदानों की ओर आई, आस्ट्रेलोपिथेकस कहलाई। आस्ट्रेलोपिथेकस कपि को आधुनिक मानव का सही पूर्वज मान सकते हैं। यह आस्ट्रेलोपिथेकस पूर्व अत्यंत नूतन काल में, पिथेक्रैथ्रोपस (इरेक्टस) मध्य अत्यंत नूतन काल में तथा निएंडरथल मानव उत्तर अत्यंत नूतन काल में आया। निएंडरथल मानव को हम ऐसा पहला मानव मान सकते हैं जिसने हिम प्रदेशों तथा समशीतोष्ण प्रदेश में अपने को अनुकूल बनाया। होमोसेपियंस (प्रज्ञ मानव) लगभग 30,000 वर्ष पूर्व धरती पर आया, इसे हम अन्य नाम, जैसे चांसलेड व ग्रीमाल्डी से जानते हैं।

मानव ने अपने शारीरिक विकास को जलवायु परिवर्तन के साथ आगे बढ़ाया। मानव ने जलवायु परिवर्तन के साथ ही साथ सांस्कृतिक विकास भी किया। एक लाख वर्ष पूर्व से लेकर लगभग 2000 ई.पू. तक मनुष्य ने अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी सिद्ध करते हुए अपनी सभ्यता व संस्कृति का विकास कियाऋ जैसे–हड़प्पा सभ्यता, मेसोपोटामिया की सभ्यता, चीन की सभ्यता। अग्रलिखित तालिका के माध्यम से हम मानव का क्रमिक सांस्कृतिक विकास जान सकते हैं–

मानव का सांस्कृतिक विकास

काल	समय	मानव	सांस्कृतिक विकास
पुरापाषाण काल (हिमयुग की समाप्ति 30,000 वर्ष पूर्व)	1 लाख से 10,000 ई.पू.	होमोइरेक्टस जावा मानव	गुफाओं में निवास, पत्थर के भद्दे बेडौल, औजार हड्डी के उपकरण।
मध्य पाषाण काल	10,000-4000 वर्ष ई.पू.	मेसोलिथिक मानव	भोजन को पकाकर खाना। अधिक उन्नत उपकरण (मेक्रोलिथ या सूक्ष्म उपकरण) भाले, हारपून, धनुषबाण, पशुपालन, भाषा का विकास, कलात्मक, आभूषण आदि।
नवपाषाण काल (ताम्रपाषाण या ताम्रयुग)	4000 वर्ष ई.पू. के बाद (भौगोलिक दशाओं के अनुसार)	नियोलिथिक	इस काल में विश्व में अनेक सभ्यताएं पनपीं। मानव ने कृषि करना सीखा, पहिए का आविष्कार किया, जस्ता, सीसा, टिन, कांसा, सोना, चांदी आदि धातु का प्रयोग करना सीखा।

टिप्पणी

मानव ने अपना विकास अधिकांशतः मध्य पाषाण काल से कुछ पहले ही शुरू कर दिया था। इस समय तक होमोसेपियंस ने अपने को पृथ्वी की सर्वाधिक अनुकूल मानव प्रजाति के रूप में विकसित कर लिया था। इस मानव का विकास कैस्पियन सागर के नजदीक तक माना जाता है। यहां से होमोसेपियंस तीन दिशाओं में बढ़ा जैसे–पहली शाखा, यूरोप, दक्षिण–पश्चिम एशिया, दूसरी शाखा जिसने अफ्रीका, मलेशिया व दक्षिण भारत में नीग्रो प्रजाति को जन्म दिया तथा तीसरी शाखा मंगोल प्रजाति के रूप में सामने आई जो साइबेरिया, चीन आदि स्थानों पर फैली। अपने भौगोलिक फैलाव के साथ ही साथ होमोसेपियंस ने अपनी खानाबदोश (यायावर) संस्कृति को समाप्त किया तथा तकनीकी के विकास के साथ उसने स्थायी निवास शुरू कर दिया। 10,000–8000 ई.पू. तक मानव ने संगठित जीवन शुरू कर दिया। इसी समय उसने कृषि की शुरुआत की जिससे कालांतर में कृषि समुदायों, कस्बों, नगरों, प्रांतों व राष्ट्रों का गठन हुआ।

भारत में मानव विकास

पृथ्वी पर मानव लगभग 50–60 लाख वर्ष पूर्व में आया, यह प्रजाति आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकन्स कहलाई। भारत में मानव समप्राणी की पहली शाखा 1–20 करोड़ 90 लाख वर्ष पुरानी है। भारत में मानव के पाये जाने का साक्ष्य लगभग 10–5 लाख वर्ष का है। इस समय मानव होमोइरेक्टस से निएंडरथल मानव बनने की प्रक्रिया में था। निम्न पुरापाषाण कालीन स्थल हथनौरा (नर्मदा घाटी) से होमो इरेक्टस का एक कंकाल पाया गया है, जिसे नर्मदा मानव की संज्ञा दी गई है। इस काल का यह अकेला भारतीय जीवाश्म है।

भारत की जनसंख्या में प्रजातीय तत्वों की अलग–अलग पहचान करना अत्यंत दुष्कर कार्य है क्योंकि हजारों वर्ष से यह भारत भूमि विदेशियों की शरणस्थली बनी रही। भारत में आने के बाद अधिकांशतः विदेशी भारतीय ही हो गए, इस कारण इनका भारत की मूल–प्रजाति से सुंदर मिश्रण हो गया। रिजले वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार पर भारत की जनसंख्या का प्रजातीय विभेदीकरण किया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दी पीपुल्स ऑफ इंडिया' में शरीर मापन प्रणाली के आधार पर अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त बी–एस– गुहा, हैडन आदि अनेक विद्वानों ने अलग–अलग मत प्रस्तुत किए हैं।

प्रागैतिहासिक काल की मानव सभ्यता

लगभग 80 करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे थे। मनुष्य अपने प्रारंभिक जीवन में पशुवत था। इस पशुवत जीवन से ऊपर उठने के लिए उसे सहस्रों वर्ष लगे। मनुष्य के सहस्रों वर्ष के इस विकास का लिपिबद्ध और क्रमागत प्रामाणिक इतिहास प्राप्त नहीं है। इसीलिए मानव सभ्यता के इस युग को इतिहासकारों ने प्रागैतिहासिक युग की संज्ञा दी है। इस विशाल युग में मनुष्य मुख्यतया अपने जीवन यापन के लिए, जीवन रक्षा के लिए जिन पदार्थों के बने हुए हथियारों, औजारों और अन्य उपकरणों का प्रयोग करता था उन्हीं के नाम पर इस विशाल युग का नामकरण किया गया है। इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल की मानव सभ्यता की अपनी अलग पहचान दिखाई देती है।

टिप्पणी

पुरापाषाण काल (आदिकाल)

इस युग के मनुष्यों के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है। इस ज्ञान अल्पता का कारण यह है कि इस युग के मनुष्यों के अस्त्र–शस्त्र और औजार प्राप्त नहीं होते। हम मात्र कल्पना के आधार पर अनुमान ही लगा सकते हैं। भूगर्भविद्या विशारदों का अनुमान है कि ये लोग पशुओं से मिलती–जुलती प्रवृत्ति से तो युक्त थे ही दैनिक जीवन में भी ये पशुओं की भांति वृक्षों की सघन छाया में रहते थे। धूप से अपनी रक्षा करते थे। वर्षा से शरीर की रक्षा करने के लिए वे गिरी कंदराओं की शरण लेते थे। आखेट द्वारा प्राप्त मांस ही उनका भोजन था। पाषाण युग 1960 ई. से पहले उत्तर पाषाण की जानकारी के अभाव में पुरापाषाण काल को दो भागों में निम्न पुरापाषाण काल तथा मध्य पुरापाषाण काल में विभाजित किया जाता है। रॉबर्ट पुट पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 1823 ई. में भारत में पुरापाषाण कालीन औजारों की खोज की। 1935 ई. में मेल कैंब्रिज दल के नेतृत्वकर्ता पैटरसन व डी– टेरा ने भारत में पुरापाषाण काल के अध्ययन को गति प्रदान की। कालांतर में अनेक अनुसंधानों के द्वारा भारत के पुरापाषाण काल को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये हैं– निम्न पुरापाषाण काल (Lower Poledlithic age 2,50,000 – 1,00,000 ई.पू.), मध्य पुरापाषाण काल (Middle Poledlithic age 1,00,000 – 40,000 ई.पू.), उत्तर पुरापाषाण काल (Latter Poledlithic age 40,000 – 10,000 ई.पू.)।

निम्न पुरापाषाण काल

मानव धरती पर प्लाइस्टोसीन (अत्यंत नूतन) युग के आरंभ में अफ्रीका में आया। भारत में मानव का प्राचीनतम अवशेष द्वितीय हिमावर्त्तन (2,50,000 वर्ष ई.पू.) में आया। यद्यपि हाल ही में महाराष्ट्र के बोरी नामक स्थान से 15 लाख वर्ष पुराने मानव की उपस्थिति के संकेत मिले हैं। पूर्व पाषाण कालीन मानव का जीवन नितांत बर्बर था। उसका जीवन पशुओं से अधिक भिन्न न था। पशुओं की भांति उसे भी जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता था। वह पूर्णतया प्रकृतिजीवी था। वह कृषि से अपरिचित था। अतः सहज रूप में उत्पन्न होने वाले फलफूल और कंदमूल, आखेट में मारे गए पशुओं और सरिताओं तथा झीलों के तटों पर पकड़ी गई मछलियों से ही अपनी उदरपूर्ति करता था। अनेक स्थलों पर मनुष्य की पाषाण सामग्री और पशुओं के अस्थिपंजर साथ–साथ मिले हैं। पूर्वपाषाण कालीन मानव यद्यपि पशुओं से परिचित था। इस युग का मानव भोजन एकत्र करने वाला था, न कि भोजन उत्पन्न करने वाला। कृषि कर्म और पशुपालन के अभाव में मनुष्य की खाद्य सामग्री सीमित हो गई थी। उस समय जनसंख्या अत्यधिक कम थी इसीलिए प्रकृतिजन्य फल–फूल और कंदमूल तथा शिकार से उपलब्ध मांस, मछली उसके जीवनयापन के पर्याय रहे होंगे। अधिकांश विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष के पूर्व पाषाणकाल में मनुष्य अग्नि उत्पन्न करना भी नहीं जानता होगा इसलिए मांस आदि कच्चा ही खाता होगा।

उस युग के मनुष्य के समक्ष सर्वाधिक जटिल समस्या निवास की थी। सर्वप्रथम उसने सघन वृक्षों की शाखाओं का सहारा लिया होगा परंतु उन्हें अति सुरक्षित न देखकर उसने नदियों के किनारों व पर्वत की कंदराओं की शरण ली। उस युग का मनुष्य शिकारी समूह का एक सदस्य ही था। हिंसक पशुओं के आखेट से उसके आस–पास के क्षेत्र में उनकी संख्या में कमी आने से मानव जीवन अधिक सुरक्षित

टिप्पणी

होता गया। मारे गए पशुओं के मांस से मनुष्य को एक अतिरिक्त खाद्य मिल गया। मृत पशुओं के चमड़े से वस्त्र और अस्थि से हथियार–औजार बनाए जाने लगे। आखेट से उसकी शारीरिक शक्ति का विकास भी होता गया और आखेट उसके मनोरंजन का एक साधन भी बन गया। आखेट के लिए उसे हथियारों की आवश्यकता प्रतीत हुई अतः सर्वप्रथम उसने वृक्षों की शाखाओं तथा मजबूत लाठीनुमा लकड़ियों का भी प्रयोग किया होगा परंतु इनकी सहायता से बड़े और हिसक पशुओं का शिकार करने में जब उसे कठिनाई का अनुभव हुआ तो उसे सुदृढ़ और अधिक नुकीले साधन की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी और इसी कमी को पूरा करने के लिए उसने पाषाण का सहारा लिया। प्रारंभ में उसने इधर–उधर बिखरे बड़े–बड़े पत्थरों का प्रयोग किया कालांतर में पाषाण खंडों से निर्मित हथियारों और औजारों का प्रयोग किया होगा। हथियारों के रूप में पाषाण का प्रयोग आदि मानव के जीवन की एक क्रांतिकारी घटना है। निम्न पुरापाषाण काल के प्रारंभिक पाषाणनिर्मित हथियार और औजार भद्दे भौंडे थे परंतु धीरे–धीरे इनमें सुडौलता आती गई। हथियारों और औजारों की सहायता से वह पशुओं का शिकार करता, उनके मांस को काटता, उनकी खाल से वस्त्र तथा हड्डियों से औजार बनाता था। पेड़ों की छाल तथा पत्तों का प्रयोग करता था। छाल को वे कमर में लपेटते और पत्तों की मालाएं बनाकर कमर में लटका लेते होंगे।

निम्न पुरापाषाण संस्कृति का उदय अभिनूतन (Pleistocene) युग में हुआ था। अभिनूतन युग (20 लाख वर्ष पूर्व) एक भूवैज्ञानिक काल है, जिसमें बर्फ युग अपने अंतिम चरण में था। इस युग में धरती बर्फ से ढकी हुई थी। निम्न पुरापाषाण युग के पत्थर के औजारों के वर्गीकरण के संबंध में भारत के पुरातत्ववेत्ताओं के बीच मतभेद हैं–

- कुछ विद्वान धारदार ब्लेड और लक्षणी वाले काल को 'उत्तर पुरापाषाण' कहते हैं।
- कुछ विद्वान उत्तर पुरापाषाण को यूरोपीय पुरापाषाण संस्कृति से जोड़ते हैं।

पर अब उत्तर पुरापाषाण का प्रयोग भारतीय संदर्भ में भी होता है।

निम्न पुरापाषाण युग के औजार

पर्यावरण और जलवायु में हुए परिवर्तन और मनुष्य द्वारा बनाए गए पत्थर के औजारों की प्रकृति के आधार पर पुरापाषाण संस्कृति को तीन चरणों में बांटा गया है–

प्रथम, निचले पुरापाषाण चरण के औजारों में मुख्यतः हाथ की कुल्हाड़ी, तक्षणी, काटने के औजार आदि हैं। द्वितीय, मध्य पुरापाषाण युगीन युग काटने के औजारों पर आधारित था। तृतीय, उत्तर पुरापाषाण युगीन युग की विशेषता थी–तक्षणी और खुरचनी।

इस काल के कुछ औजारों और उनके उपयोगों का विवरण निम्नलिखित है–

- हाथ की कुल्हाड़ी–इसका मूठ चौड़ा और आगे का हिस्सा पतला होता है। इसका उपयोग काटने या खोपने के लिए होता होगा।
- चीरने का औजार–इसमें दुहरी धार होती है। इसका उपयोग पेड़ों को काटने और चीरने के लिए होता था।

टिप्पणी

- काटने का औजार–एक बड़ा स्थूल औजार जिसमें एक तरफ धार होती है और उसका उपयोग काटने के लिए किया जाता है।

  यह भी चौपर के समान एक बड़ा स्थूल औजार है पर इसमें दुहरी धार होती है, और इसमें कई पट्टे होते हैं। इसका उपयोग किसी भी चीज को काटने के लिए होता था, पर अधिक नुकीली धार वाला होने से यह चौपर से अधिक कारगर होता था।

- पत्तर–यह एक प्रकार का औजार है, जिसे पत्थर को तोड़कर बनाया जाता है। पत्तर की सतह पर सकारात्मक समाघात और इसके सारभाग में एक नकारात्मक समाघात होता है। जिस स्थान पर पत्थर के हथौड़े से चोट की जाती है उसे समाघात स्थल कहते हैं। इस चोट से जो गोल, हल्का उत्तल हिस्सा कट कर निकलता है उसे सकारात्मक समाघात कहते हैं। इस चोट के परिणामस्वरूप सारभाग का जो हिस्सा अवतल हो जाता है उसे नकारात्मक समाघात कहते हैं। पत्तर बनाने की कुछ तकनीक हैं–फ्री फ्रलेकिग तकनीक, स्टेप फ्रलेकिग तकनीक, ब्लॉक ऑन ब्लॉक तकनीक, द्विध्रुवीय तकनीक आदि।

- खुरचनी–इसमें एक पत्तर या ब्लेड होता है और इसका किनारा धारदार होता है। इसका उपयोग पेड़ की खाल या जानवरों का चमड़ा उतारने में किया जाता होगा।

- तक्षणी–यह भी पत्तर या ब्लेड के समान ही होता है, पर इसका किनारा दो तलों के मिलने से बनता है। तक्षणी के काम वाले हिस्से की लंबाई 2–3 से.मी. से अधिक नहीं होती है। इसका उपयोग मुलायम पत्थरों, क्रोड़ों या गुफाओं की दीवारों पर नक्काशी के लिए होता है।

निम्न पुरापाषाण युग की बस्तियां

निम्न पुरापाषाण युग में शिकारी संग्रहकर्ताओं द्वारा प्रयुक्त औजार पुरातत्ववेत्ताओं को किन–किन क्षेत्रों में मिले हैं। इन औजारों के क्षेत्रीय फैलाव के बारे में पता चलने पर न केवल हमें शिकारी संग्रहकर्ताओं के निवास स्थलों का पता चलेगा, बल्कि उस पर्यावरण की भी जानकारी मिलेगी, जिसमें वे रहते थे। विभिन्न क्षेत्र निम्नांकित हैं–

1– कश्मीर घाटी दक्षिण–पश्चिम में पीर जंगल–पहाड़ियों और उत्तर–पूर्व में हिमालय से घिरी है। कश्मीर में लिद्दर नदी के किनारे पहलगांव से हाथ की कुल्हाड़ी प्राप्त हुई थी। किंतु निम्न पुरापाषाण युग में औजार कश्मीर में ज्यादा नहीं मिलते क्योंकि हिमानी युग में कश्मीर में अत्यधिक ठंड होती थी। पोतवार क्षेत्र (आज का पश्चिमी पंजाब और पाकिस्तान) पीर पंजल और नमक पर्वत शृंखला के बीच में पड़ता है। इस इलाके में विवर्तनिक बदलाव आया था और इस क्रम में सिंधु और सोहन नदियों की उत्पत्ति हुई थी। सोहन घाटी में हाथ की कुल्हाड़ी और काटने के औजार मिले हैं। ये औजार अडियाल, बलवाल और चौंटरा जैसी महत्वपूर्ण निम्न पुरापाषाणीय बस्तियों में पाए गए हैं। व्यास, बाण गंगा और सिरसा नदियों के किनारे भी पुरापाषाण युग के औजार पाए गए हैं।

2– लूनी नदी (राजस्थान) के आसपास के क्षेत्र में कई पुरापाषाण युगीन बस्तियां पाई गई हैं। लूनी नदी का उद्‌गम अरावली क्षेत्र में हुआ था। चित्तौड़गढ़

टिप्पणी

(गंभीर नदी घाटी) कोटा (चंबल नदी घाटी) और नगरई (बेराच नदी घाटी) में पुरापाषाण युग के औजार पाए गए हैं। मेवाड़ की वगांव और कंदमली नदियों के आसपास भी मध्य पुरापाषाण युगीन बस्तियां पाई गई हैं। इन इलाकों से कई प्रकार की खुरचनी, बेधक औजार और नुकीले औजार भी पाए गए हैं।

3– गुजरात में साबरमती, माही और उनकी सहायक नदियों के आसपास पुरापाषाण युग के अनेक औजार पाए गए हैं। साबरमती नदी अरावली से निकल कर खंभात की खाड़ी में जा गिरती है। ओरसंग घाटी के नजदीक भंडारपुर में भी मध्य पुरापाषाण युग के औजार पाए गए हैं। सौराष्ट्र में भादार नदी के आसपास पुरापाषाण युग के अनेक औजार मिले हैं। जैसे हाथ की कुल्हाड़ियां, खुरचनी, काटने के औजार, नुकीले औजार, बेधक औजार आदि। कच्छ क्षेत्र में भी निम्न पुरापाषाण युग के अनेक औजार मिले हैं जैसे–खुरचनी, हाथ की कुल्हाड़ी और काटने के औजार।

4– नर्मदा नदी मैकॉल पर्वत शृंखला से निकलती है और खंभात की खाड़ी में जाकर मिल जाती है। नर्मदा के समतलों में निम्न पुरापाषाण युग के अनेक औजार मिले हैंऋ जैसे–हाथ की कुल्हाडियां और चीरने के औजार। विंध्य क्षेत्र में अवस्थित भीमबेतका (भोपाल के निकट) में पहले एश्यूलियन संस्कृति के औजार उपयोग में लाए जाते थे कितु वहां बाद में मध्य पुरापाषाण युगीन संस्कृति का आगमन हुआ।

5– ताप्ती, गोदावरी, भीमा और कृष्णा नदियों के आसपास भी कई इस युग की बस्तियां पाई गई हैं। इस युग की बस्तियों की अवस्थिति का संबंध पर्यावरण संबंधी बदलाव से भी है– जैसे भू–स्खलन, मिट्टी की प्रकृति आदि। ताप्ती की तलहटी में काफी गहराई तक रेगुर काली मिट्टी पाई जाती है। भीमा और कृष्णा नदियों के ऊपरी हिस्से के आसपास के क्षेत्रों में कम पुरापाषाणीय बस्तियां पाई गई हैं। महाराष्ट्र में नवासा के नजदीक चिरकी में हाथ की कुल्हाड़ियां, काटने के औजार, बेधक औजार, खुरचनी और मिट्टी तोड़ने के औजार पाए गए हैं। महाराष्ट्र में गोरेगांव, चंदौली और शिकारपुर इस युग की अन्य प्रमुख बस्तियां हैं।

6– पूर्वी भारत में रासे नदी (सिंहभूम, बिहार) में भी हाथ की कुल्हाडियां, काटने के औजार, पत्तर आदि अनेक पुरापाषाण युग के औजार पाए गए हैं। सिंहभूम में भी बहुत–सी पुरापाषाण युग की बस्तियां मिली हैं। इन बस्तियों में मुख्यतः हाथ की कुल्हाड़ियां और काटने के औजार पाए गए हैं। दामोदर और सुवर्णरेखा नदियों की घाटी से भी निम्न पुरापाषाण युग के औजारों के पाए जाने की सूचना मिली है। यहां भी पुरापाषाणीय संस्कृति की अवस्थिति स्थलाकृतिक विशेषताओं से प्रभावित हुई है। उड़ीसा में वैतरनी, ब्राह्मणी और महानदी के डेल्टा क्षेत्र में भी निम्न पुरापाषाण युग के कुछ औजार पाए गए हैं। उड़ीसा में मयूरभंज में बुहार बलंग घाटी में प्रारंभिक और मध्य पुरापाषाण युग के कई औजार पाए गए हैं जैसे–हाथ की कुल्हाड़ियां, खुरचनी, नुकीले औजार और पत्तर।

7– माल प्रभा, घाट प्रभा और कृष्णा की सहायक नदियों के आसपास पुरापाषाण युग की कई बस्तियां पाई गई हैं। घाट प्रभा नदी घाटी में एश्यूलियन हाथ की

टिप्पणी

कुल्हाड़ियां काफी संख्या में पाई गई हैं। अंगवाडी और बागलकोट घाट प्रभा नदी के पास स्थित दो प्रमुख बस्तियां हैं जहां प्रारंभिक और मध्य पुरापाषाण युग के औजार पाए गए हैं। तमिलनाडु में पलर, पेरियारे और कावेरी में भी पुरापाषाण युग के अनेक औजार पाए गए हैं। अतिरमपक्कम और गुडिस्त्रयम में प्रारंभिक और मध्य पुरापाषाण युगीन औजार पाए गए हैं जैसे हाथ की कुल्हाड़ियां, खुरचनी, पत्तर, ब्लेड आदि।

जीवन यापन के तरीके

निम्न पुरापाषाण युग की बस्तियों में भारतीय और विदेशी मूल के जानवरों के अवशेष काफी मात्रा में पाए गए हैं। नर वानर, जिराफ, कस्तूरी मृग, बकरी, भैंसा, गाय और सूअर स्वदेशी मूल के पशु प्रतीत होते हैं। ऊंट और घोड़े से उत्तरी अमेरिका के संबंध का पता चलता है। दरियाई घोड़ा और हाथी मध्य अफ्रीका से भारत आए थे। ये हिमालय की पूर्वी और पश्चिमी सीमा से होकर आए होंगे। अधिकांश जानवर भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा से होकर आये। उस समय अफ्रीका और भारत के बीच काफी आदान–प्रदान होता था।

इस युग के मनुष्य भोजन के लिए किन स्रोतों पर निर्भर करते थे? इस बारे में जानकारी जानवरों के अवशेषों से मिलती है। इन अवशेषों से पता चलता है कि लोग शिकारी और संग्रहकर्ता अवस्था में थे। एक इलाके में रहने वाले मनुष्यों और पशुओं की संख्या के बीच संतुलन रहा होगा। उस समय के लोगों ने आसपास पाए जाने वाले पशुओं और पेड़ों का भोजन के रूप में उपयोग किया होगा। मनुष्य छोटे और मध्यम आकार के जानवरों, विशेषतः खुरों वाले पशुओं का शिकार करता होगा। साथ ही वह हिरण, गैंडे और हाथी का भी शिकार करता होगा। इस काल में किसी खास प्रकार की शिकारी प्रवृत्ति का पता नहीं चलता है। कहीं–कहीं कुछ विशेष प्रकार के जानवरों के अवशेष बहुतायत में पाए गए, लेकिन इसका कारण यह है कि उस इलाके में उन विशेष जानवरों की बहुतायत संख्या थी और उनका शिकार करना आसान था। ऐसा लगता है कि शिकारी संग्रहकर्ताओं द्वारा पशुओं और पेड़ों को भोजन के रूप में इस्तेमाल करना काफी हद तक शुष्क–आर्द्र ऋतु चक्र पर आधारित था। पुरापाषाण युग के लोग मुख्य रूप से बैल, गाय, नीलगाय, भैंसा, चिकारा, हिरण, बारहसिंगे, सांभर, जंगली सूअर, कई तरह के पक्षियों, कछुओं, मछलियों, मधु और फलदायक पौधों के फलों मूल, बीज और पत्तों को भोजन के रूप में इस्तेमाल करते थे।

यह कहा जाता है कि आज के वर्तमान शिकारी संग्रहकर्ताओं द्वारा शिकार किए जाने वाले जानवरों से अधिक महत्व शिकारी संग्रहकर्ताओं द्वारा संग्रहित भोजन का है। संग्रहित भोजन के अवशेष शिकार के अवशेषों की तुलना में अधिक समय तक सुरक्षित रहते हैं। पुरापाषाण युग के लोगों की खाने–पीने की आदतों के बारे में पता लगाना मुश्किल है। ये लोग किस प्रकार के पौधों या फलों का भोजन के रूप में इस्तेमाल करते थे इस बारे में हमें उस प्रकार की जानकारी उपलब्ध नहीं है जैसी कि आजकल के शिकारी संग्रहकर्ता समूहों के बारे में उपलब्ध है। यह मुमकिन है कि पुरापाषाण युग के लोग पशुओं के साथ–साथ फल–फूल को भी भोजन के रूप में इस्तेमाल करते होंगे।

टिप्पणी

पत्थर पर की गई चित्रकारी और खुदाई से भी हमें पुरापाषाण युग के लोगों के रहन–सहन और सामाजिक जीवन के बारे में पता चलता है। सबसे पुरानी चित्रकारी उत्तर पुरापाषाण युग की है। विंध्य क्षेत्र में स्थित भीमबेटका में विभिन्न कालों की चित्रकारी देखने को मिलती है। प्रथम काल में उत्तर पुरापाषाण युग की चित्रकारी में हरे और गहरे लाल रंग का उपयोग हुआ है। इन चित्रों में भैंसे, हाथी, बाघ, गैंडे और सूअर के चित्र प्रमुख हैं। ये चित्र काफी बड़े हैं और कुछ की लंबाई 2 से 3 मीटर तक है। पुरापाषाण युग के लोगों के शिकारी जीवन की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के जानवरों के कितने और किन रूपों में चित्र मिले हैं, इसका बारीकी से अध्ययन करना होगा। खुदाई और चित्रकारी से पता चलता है कि शिकार ही जीवन यापन का मुख्य साधन था। इन चित्रों में बनी शारीरिक संरचना के आधार पर पुरुष और स्त्री में सरलता से भेद किया जा सकता है। इन चित्रों से यह भी पता चलता है कि पुरापाषाण युग के लोग छोटे–छोटे समूहों में रहते थे और उनका निर्वाह पशुओं और पेड़–पौधों पर निर्भर था।

विद्वानों का अनुमान है कि पूर्व पाषाणकालीन मनुष्य में किसी प्रकार की धार्मिक भावना का उदय नहीं हो पाया था। इस समय का मानव किसी धातु से परिचित नहीं था और न वह उस समय मिट्टी के बर्तन बनाना ही सीख पाया था। उसका जीवन एक प्रकार से खानाबदोशों की तरह था। जिस क्षेत्र में खाद्य सामग्री का अभाव उत्पन्न हो जाता था, वह उसे छोड़कर अन्य क्षेत्र की ओर पलायन कर जाता था। आदिमानव पशु के समान ही था। अतः उसमें सामाजिक रिश्तों की भावना उत्पन्न नहीं हो पाई थी। जीवन के लिए संघर्ष इतना कठिन और निर्मम था कि एक–दो–चार लोगों का अलग रहना असंभव था। अतः वे लोग समूह बनाकर रहते होंगे। इस युग का मानव कितना भी बर्बर क्यों न रहा हो, यह मानना पड़ेगा कि वह सभ्यता के मार्ग पर एक कदम आगे बढ़ चुका था। हिसक पशुओं का आखेट एक व्यक्ति के द्वारा नहीं वरन अनेक व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न के द्वारा होता था। उनके इस सामूहिक कार्य ने उनके मस्तिष्क में संगठन और सहयोग की भावना को जन्म दिया होगा। प्रो. विमलचंद्र पांडेय ने लिखा है–उनके खाद्य–अखाद्य कंदमूल फलों के अभिज्ञान में आधुनिक वनस्पति विज्ञान के बीज विद्यमान थे। तत्कालीन मनुष्य ने आखेट के निमित्त पशु–स्वभाव का अभाव किया होगा, सुगमतापूर्वक उनकी हत्या करने के लिए उपयुक्त कालों और ऋतुओं का ज्ञान किया होगा। इसी प्रारंभिक ज्ञान से कालांतर में पशु विज्ञान, जलवायु विज्ञान और ज्योतिर्विज्ञान निसृत हुए।

मध्यपाषाण काल

पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि पूर्व–पाषाण युग तथा नवपाषाण युग के मध्य एक संक्रमण काल भी था जिसे प्रायः 'मध्य पाषाण युग' कहते हैं। इस युग के औजार बहुत छोटे हैं इसीलिए प्रायः लघुपाषाण, अणुपाषाण, लघु औजार आदि नाम से सूचित करते हैं। इस काल की सभ्यता के अवशेष भारत में अधिक मात्र में विविधतापूर्ण तथा बहुत से स्थानों पर मिले हैं। यह काल निएंडरथल मानव के विकास का काल है जिसे हम 1 लाख से 40,000 ई.पू. मान सकते हैं। मध्य पुरापाषाण काल के उपकरण अपने भौगोलिक क्षेत्र के साथ विविधता रखते हैं। इनमें प्रमुख उपकरण हैं–चापर–चापिग, हस्त कुठार बेधक, खुरचनियां, तक्षिणियां आदि। पश्चिम क्षेत्र के उपकरण बढ़िया नोंक वाले हैं। पूर्वी क्षेत्र की तुलना में पश्चिमी क्षेत्र की लवाल्वाई तकनीक अधिक उन्नत

टिप्पणी

है। इस क्षेत्र के उपकरण मोस्टरी संस्कृति से काफी साम्यता रखते हैं। यह सोचना समयोचित होगा कि 40,000 वर्ष पहले मानव पूर्णतः प्रकृति पर ही निर्भर था। मानव ने गुफाओं को अपना निवास स्थान बनाया तथा अग्नि के ज्ञान ने उसे सहायता प्रदान की। अब मनुष्य ने सामूहिकता की भावना विकसित कर ली तथा समूह में ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित पाया अतः समूह में ही शिकार करना शुरू कर दिया।

मध्य पाषाण युग का आरंभ ई.पू. 8000 के आसपास हुआ। यह पुरापाषाण और नव पुरापाषाण युग के बीच का संक्रमण काल है। धीरे–धीरे मापक्रम बढ़ा और मौसम गरम और सूखा होने लगा। परिवर्तन से मनुष्य का जीवन प्रभावित हुआ। पशु–पक्षी तथा पेड़–पौधों की किस्मों या प्रजातियों में भी परिवर्तन आया। औजार बनाने की तकनीक में परिवर्तन हुआ और छोटे पत्थरों का उपयोग किया जाने लगा। मनुष्य मूलतः शिकारी–संग्रहकर्ता ही रहा, पर शिकार करने की तकनीक में परिवर्तन हो गया। अब न केवल बड़े बल्कि छोटे जानवरों का भी शिकार करने लगा। मछलियां पकड़ने लगा और पक्षियों का भी शिकार करने लगा। यह भौतिक और पारिस्थितिकी परिवर्तन पत्थर पर हुई चित्रकारी से भी प्रतिबिंबित होता है।

मध्यपाषाण युग के औजार

मध्य पाषाण युग के औजार छोटे पत्थरों से बने हुए हैं। ये सूक्ष्म औजार आकार में काफी छोटे हैं और इनकी लंबाई 1 से 8 से–मी– तक है। कुछ सूक्ष्म औजारों का आकार ज्यामितीय होता है। ब्लेड, क्रोड़ नुकीले, त्रिकोण, नवचंद्राकार और कई अन्य प्रकार के औजार मध्य पाषाण काल में उपयोग में लाए जाने वाले मुख्य ज्यामितीय औजार हैं। इनके अलावा इस काल में पुरापाषाण युग के औजार जैसे तक्षणा, खुरचनी और यहां तक कि गंडासा भी मिलते हैं।

1– ब्लेड (Blade)–यह एक प्रकार का विशेषीकृत पत्तर होता है। इसकी लंबाई इसकी चौड़ाई से दुगनी होती है। इनका उपयोग संभवतः काटने के लिए किया जाता होगा। मध्य पाषाण युग में औजार बनाने की तकनीक को फ्लूटिग (Fluting) कहा जाता है। इसमें सार मात्र पर प्लेटफार्म के नुकीले सिरे से प्रहार किया जाता है। हमें कुछ धारदार ब्लेड भी मिले हैं। ये चौड़े, मोटे और लंबे होते हैं। ब्लेड को धार देने से उसमें पैनापन आता है। कुछ ऐसे ब्लेड पाए गए हैं, जिनके एक या दोनों सिरे धारदार होते हैं अन्यथा दोनों किनारे धारदार होते हैं। ये ब्लेड साधारण ब्लेडों से कहीं अधिक पैने तथा कारगर होते हैं।

2– क्रोड (Core)–क्रोड साधारणतया आकार में बेलनाकार होता है जिसकी पूरी लंबाई में फ्लूटिग के निशान होते हैं और इसमें एक सपाट प्लेटफार्म होता है।

3– नुकीला औजार (Point)–नुकीला औजार एक प्रकार का टूटा तिकोना ब्लेड होता है। इसके दोनों सिरे ढलवां तथा धारदार होते हैं। इसके सिरे सरल रेखीय या वक्र रेखीय भी हो सकते हैं।

4– त्रिकोण (Triangle)–इसमें साधारणतः एक सिरा और एक आधार होता है और सिरे को धारदार बनाया जाता है। इसका उपयोग काटने के लिए किया जाता है या इसे तीर के अग्र भाग में भी लगाया जाता है।

5– नवचंद्राकार (Lunate)–नवचंद्राकार औजार भी एक तरह का ब्लेड होता है लेकिन इसका एक सिरा वृत्ताकार होता है। यह एक वृत्त के हिस्से के समान

मालूम होता है। इनका उपयोग अवतल कटाई के लिए किया जा सकता था या ऐसे दो औजारों को मिलाकर तीर के अग्रभाग को तैयार किया जा सकता था।

टिप्पणी

6– समलंब औजार (Trapeze)–यह भी एक ब्लेड के समान ही दिखाई पड़ता है। इसके एक से अधिक सिरे धारदार होते हैं। किसी–किसी समलंब औजार के तीन सिरे धारदार होते हैं। इनका उपयोग तीर के अग्रभाग के रूप में होता होगा।

मध्यपाषाण युग की बस्तियां

भारत में मध्यपाषाण युग की महत्वपूर्ण बस्तियां निम्नलिखित हैं–

1– पंचपद्र नदी घाटी और सोजत (राजस्थान) इलाके में सूक्ष्म औजार काफी मात्रा में मिले हैं। यहां पाई गई एक महत्वपूर्ण बस्ती तिलवारा है। तिलवारा में दो सांस्कृतिक चरण पाए गए हैं। पहला चरण मध्य पाषाण युग का प्रतिनिधित्व करता है तथा इस चरण की विशेषता सूक्ष्म औजारों का पाया जाना है। दूसरे चरण में चाक पर बने हुए मिट्टी के बर्तन और लोहे के टुकड़े इन सूक्ष्म औजारों के साथ पाए गए हैं। मध्य पाषाण युग की बड़ी बस्तियों में से एक है–बगोर (राजस्थान) जो कोठारी नदी के किनारे स्थित है। बगोर की गई खुदाई के आधार पर इस संस्कृति की सबसे प्रारंभिक अवस्था का समय 5000 से 2000 ई.पू. निश्चित किया गया है।

2– गुजरात में ताप्ती, नर्मदा, माही और साबरमती नदियों के आसपास भी कई मध्य पाषाण युग की बस्तियां पाई गई हैं। अक्खज, बलसाना, हीरपुर और लंघनाज साबरमती नदी के पूरब में स्थित हैं। लंघनाज का विस्तार से अध्ययन किया गया है। यहां सूक्ष्म औजार पाए गए हैं। सूक्ष्म औजारों में ब्लेड, त्रिकोणीय औजार, अर्धचंद्राकार औजार, खुरचनी और तक्षणी आदि प्रमुख हैं।

3– विंध्य और सतपुड़ा इलाके में मध्य पाषाण युग की अनेक बस्तियां पाई गई हैं। इलाहाबाद में प्रतापगढ़ इलाके में सराय नहर राय (उत्तर प्रदेश) का विस्तार से अध्ययन किया गया है। कैमूर पर्वत श्रृंखला में मध्य पाषाण युग की दो प्रमुख बस्तियां पाई गई हैं–मोरहाना पहाड़ (उत्तर प्रदेश) और लेखहीया (उत्तर प्रदेश)। भीमबेटका (मध्य प्रदेश) में अनेक सूक्ष्म औजार मिले हैं। भीमबेटका में पारिस्थितिकी संतुलन बसने के लिए अनुकूल था। भीमबेटका के दक्षिण में आदमगढ़ (होशंगाबाद) में मध्य पाषाण युग की एक प्रमुख बस्ती पाई गई है।

4– कोंकण के तटीय इलाके और आंतरिक पठार में भी मध्य पाषाण युग के औजार पाए गए हैं। कोंकण इलाके में कसूशोअल, जनयेरी, दमालगो और जलगढ़ जैसी कुछ प्रमुख बस्तियां पाई गई हैं। असिताश्म के बने दक्षिण पठार में भी मध्य पाषाण युग की अनेक बस्तियां पाई गई हैं। धुलिया और पूना जिले में सूक्ष्म औजार पाए गए हैं।

5– छोटा नागपुर का पठार, उड़ीसा के तटीय मैदानी क्षेत्र, बंगाल डेल्टा, ब्रह्मपुत्र घाटी और शिलांग पठारी इलाके में भी सूक्ष्म औजार पाए गए हैं। नवपाषाण युग के सूक्ष्म औजार छोटा नागपुर पठार में पाए गए हैं। मयूरभंज, कियोंनझर

टिप्पणी

और सुंदरगढ़ में भी सूक्ष्म औजार पाए गए हैं। पश्चिम बंगाल में दामोदर नदी के किनारे बीमानपुर की भी खुदाई हुई है। यहां पर भी सूक्ष्म औजार पाए गए हैं। मेघालय की गारो पहाड़ियों में स्थित सेबालगिरी–2 में भी नव पाषाणयुगीन सूक्ष्म औजार पाए गए हैं।

6– कृष्णा और भीमा नदी में भी अनेक सूक्ष्म औजार पाए गए हैं। ये सूक्ष्म औजार नव पाषाण संस्कृति के चरण में भी पाए गए हैं। कर्नाटक पठार के पश्चिमी किनारे पर स्थित संगनकल में अनेक औजार मिले हैं। जैसे क्रोड, नुकीले औजार, अर्धचंद्राकार पत्तर आदि।

गोदावरी डेल्टा में भी सूक्ष्म औजार काफी मात्र में पाए गए हैं। यहां पर पाए गए ये औजार नवपाषाणीय संस्कृति से संबद्ध हैं। कुरनूल इलाके में भी काफी मात्रा में सूक्ष्म औजार पाए गए हैं। आंध्र प्रदेश के चित्तूर इलाके में रेणीगुंटा में सूक्ष्म औजार पाए गए हैं। चूंकि मध्य पाषाण युग की काल सीमा काफी लंबी थी और भारत में अनेक मध्य पाषाण युग की बस्तियां पाई गई हैं। अतः विभिन्न बस्तियों को कालक्रमानुसार और वहां प्राप्त भौतिक अवशेषों के आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है। कालक्रम तथा सूक्ष्म औजारों की बहुतायतता मध्य पाषाण युग के सूचक हैं। कुछ बस्तियां कालक्रमानुसार बाद की हैं और मध्यपाषाण संस्कृति से प्रभावित हैं। ये सभी बस्तियां मध्य पाषाणीय परंपरा की बस्तियों की श्रेणी में गिनी जाती हैं। बागोर, सराय–नहर राय और आदमगढ़ में मध्य पाषाण युग की बस्तियां पाई गई हैं।

इस युग में उपलब्ध औजार बहुत छोटे आकार के हैं। अत्यधिक छोटे होने के कारण ये उपकरण माइक्रोलिथ के नाम से पुकारे जाते हैं। इस काल में देश के विभिन्न स्थानों पर मिट्टी के बर्तन, कांच के मनके, सीप और कांच की चूड़ियां, गोल तथा अन्य आकारों में बने मिटट्ी अथवा पत्थर के मकानों की संरचना के प्रारूप, चूल्हे, राख, अस्थियां, पत्थर की गोलियां, नाना प्रकार के पशुओं और वनस्पतियों के प्रमाण मिले हैं। साक्ष्यों के आधार पर यह पता चलता है कि भारतवर्ष में मध्यपाषाण कालीन मनुष्य छोटी–छोटी पहाड़ियों पर रहता था। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार उस युग का मानव कृषि कर्म तथा पशुपालन से अनभिज्ञ था। परंतु कुछ विद्वानों के अनुसार कहीं–कहीं पशुओं को पाला जाने लगा था। इस युग के लोगों का प्रमुख कार्य आखेट था। आखेट में मारे गए पशु–पक्षियों का मांस तथा झीलों और नदियों के तटों पर पकड़ी गई मछलियों के अलावा वन से प्राप्त फल–फूल और कंदमूल उनकी उदरपूर्ति के साधन थे। इस काल में मानव ने शवों को दफनाना प्रारंभ कर दिया था। मनुष्य में लोकोत्तर जीवन के विषय में भी किसी प्रकार की भावना का बीजारोपण हुआ है।

कंदरा कला–वर्षा और वायु के सामूहिक प्रभाव से अनेक पर्वतमालाएं अनेक स्थानों पर कट गई हैं और उनके बीच कंदराएं बन गई हैं। प्राचीन मनुष्यों ने इन्हीं कंदराओं को अपना आवास बनाया। इस काल की एक उल्लेखनीय उपलब्धि चित्रकला है। इन्हीं कंदराओं की दीवारों पर उस युग के मनुष्य द्वारा अंकित किए गए चित्र हैं। इसका सबसे बड़ा भंडार विध्याचल की पहाड़ियों में भीमबेटका में मिला है। यहां की लगभग 500 गुफाओं को उस युग के लोगों ने चित्रों से सजाया था। भीमबेटका की चित्रकला की विशेषता यह है कि उसमें मानव जीवन के प्रायः सभी पक्षों को प्रकट किया गया है–शिकार के पूर्व का नृत्य, मनोरंजन के नृत्य, शिकार, गर्भवती महिला,

गाय, मुखौटों के नृत्य आदि। प्रो. मित्तल का मानना है कि यह चित्र प्रस्तरकालीन मानव की विश्व कल्पना का प्रतीक है तथा रहस्यात्मकता का आभास देता है।

टिप्पणी

उत्तर या नवपाषाण काल

इस काल में खाद्य उत्पादन की प्रगति, नवपाषाण–ताम्रयुगीन संस्कृतियों की झलक मिलती है। मध्यकालीन पाषाण संस्कृति के बाद नवपाषाण (उत्तर पाषाणकालीन संस्कृति) का प्रादुर्भाव हुआ। इस संस्कृति का उद्‌भव कब और किस जाति के द्वारा हुआ यह कहना अत्यधिक कठिन है परंतु भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में इस संस्कृति का फैलाव हो चुका था। इस काल के साक्ष्य कश्मीर, सिंधु प्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, असम, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और मुख्यतः बेल्लारी जिले में उपलब्ध हुए हैं। यह सभ्यता देश के उत्तर–पश्चिम में ईसा से चार–पांच हजार वर्ष पहले शुरू हुई तथा देश के विभिन्न भागों में धीरे–धीरे विकसित हुई। वास्तव में नवपाषाण कालीन सभ्यता सहज विकास क्रम के अनुसार स्वतः विकसित होती गई। यद्यपि इस काल में भी उसके हथियार और औजार पत्थर के ही थे, कितु उनके निर्माण में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विविधता, कुशलता और सौंदर्य पाया जाने लगा। ऐसा माना जाता है कि इनका निर्माण करने वाले किसी दूसरी जाति के पुरुष थे जिनको 'प्रोटो–आस्ट्रेलायड' का नाम दिया गया। इनकी संस्कृति 'निओलिथिक कल्चर' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रायः यह कहा जाता है कि ये लोग पूर्व पाषाण युग के उत्तराधिकारी नहीं थे बल्कि बाहर से आए थे। इस नवपाषाण कालीन मानव जीवन में अपने पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा उत्कृष्ट संस्कृति के लक्षण दिखाई देते हैं।

नवपाषाण युगीन सभ्यता के केंद्र

सर्वप्रथम 1860 में उत्तर प्रदेश की टोंस नदी की घाटी में नवपाषाण कालीन सेल्ट प्राप्त हुए थे। तत्पश्चात, 1872 में विलियम फ्रेजर ने दक्षिण भारत के बेलारी क्षेत्र से अनेक उपकरण प्राप्त किए और उन्होंने बेलारी क्षेत्र को दक्षिण भारत की नवपाषाण सभ्यता का केंद्रबिदु घोषित किया। 1947 में ब्रह्मगिरी के उत्खनन में 'पॉलिशदार पाषाण उपकरणों' की संस्कृति के संकेत मिले हैं। इस नवीन सभ्यता के अंतर्गत मनुष्य माइक्रोलिथ और नव पाषाणकालीन सेल्ट के साथ–साथ तांबे तथा कांसे की सामग्री का भी प्रयोग करते थे। इतिहासकारों का मानना है कि दक्षिण–पूर्वी एशिया एक विशिष्ट प्रकार की उत्तर पाषाणकालीन सभ्यता का केंद्र था और वहीं से यह सभ्यता भारत में फैली होगी। धातुओं के उपयोग का प्रारंभ होने से पूर्व भारत में एक ऐसा युग था, जब इस देश के बड़े भाग में नवपाषाण काल की सभ्यता विस्तृत थी।

नवपाषाण युगीन औजार

यद्यपि नवपाषाण युग का मानव मुख्य रूप से पाषाण के औजारों पर ही निर्भर था परंतु उसके औजार प्राचीन एवं मध्यकालीन मानव के औजारों से अनेक बातों में उन्नत थे। इस युग में मानव ने अपने औजारों को घिसकर चिकना बनाना तथा उन पर पॉलिश करना प्रारंभ कर दिया था। पूर्वपाषाण कालीन उपकरण क्वार्टजाइट के हैं, मध्यपाषाण कालीन सामग्री कैल्सेडोनी, जैस्पर, चर्ट और ब्लडस्टोन के हैं वहीं नवपाषाण युग का मानव अपने औजारों के लिए मुख्यतः अच्छे दाने के गहरे हरे रंग के ट्रैप का प्रयोग करता था। इस समय के जो हथियार और औजार मिले हैं उनमें कुल्हाड़ियां, चाकू, तीर, ओखली, मूसल पीसने के औजार, स्क्रेपर तथा पाइंटर उल्लेखनीय हैं। कहीं–कहीं

पर इस युग के औजार लोहे की वस्तुओं के साथ मिले हैं।

निवास

टिप्पणी

नवपाषाण मानव ने प्राकृतिक खोहों एवं कंदराओं पर अवलंबित न रहकर अपनी बुद्धि और हाथों से काम करना आरंभ कर दिया। प्राकृतिक खोहों, कंदराओं और कगारों को त्यागकर उसने नदी तट और पहाड़ियों की समतल पीठों पर अपने मकान बनाने का प्रयास किया। भवन निर्माण कला का यह प्रथम प्रयोग था। जिन प्रदेशों में लकड़ी की सुविधा थी वहां वह लकड़ी के मकान बनाता था। पर्वतीय प्रदेशों में पत्थर के टुकड़ों और मिट्टी के बड़े–बड़े ढेलों को एक–दूसरे के ऊपर रखकर मकान की दीवारें बनाई गईं। फूंस–पेड़ों की टहनियों, लकड़ी व जानवरों की हड्डियों को जोड़कर मकान की छत तैयार की गई। ये मकान झुंडों में बनते थे, जो मानव की सामाजिकता और संगठनात्मक प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं। यहीं से ही सामूहिक जीवन का प्रारंभ हुआ। पुरातन प्रस्तर युग के मनुष्य शिकार के लिए टोलियां बनाकर विचरण करते थे। ये टोलियां ही इस नूतन युग में ग्राम अथवा बस्ती के रूप में बस गई थीं। अनुमानतः एक गांव में 25 से 35 तक मकान रहते थे। इन टोलियों का संगठन नवपाषाण काल में और भी विकसित हो गया था। शिकारी टोली का मुखिया अब ग्राम का नेता बन गया जो कालांतर में 'ग्रामणी' कहा जाने लगा। यह ग्रामणी संपूर्ण ग्रामवासियों पर एक प्रकार का शासन रखता था। यह सहज में कल्पित किया जा सकता है।

नवपाषाण कालीन बर्तन

मिट्टी के बर्तन बनाना इस काल का एक अन्य महत्वपूर्ण आविष्कार था। यद्यपि बर्तन बनाने की कला का उद्भव मध्यपाषाण काल में ही हो चुका था कितु चाक का आविष्कार इसी काल में हुआ। चाक की सहायता से सुंदर व सुडौल बर्तन बनने लगे थे। बर्तनों को आग में पकाकर मजबूत एवं टिकाऊ बनाना मनुष्य ने सीख लिया था। पशुपालन तथा कृषि से मनुष्य की खाद्य सामग्री में वृद्धि हो गई थी अब उसको सुरक्षित रखने की समस्या थी इसी आवश्यकता ने मिट्टी के बर्तन बनाने की कला को जन्म दिया। अनाज को जमा करने के लिए मिट्टी के गोदाम बनाए जाने लगे।

उद्योग धंधे एवं व्यापार

पूर्वपाषाण काल की भांति उत्तर पाषाण काल में शिकार तो प्रमुख था परंतु शिकार से उसके जीवन की समस्या का पूर्णतः समाधान नहीं हो सकता था क्योंकि एक तो शिकार अनिश्चित था, दूसरा मारे हुए जानवरों का मांस दो–तीन दिन से अधिक नहीं चलता था। अतः पशुओं को केवल मारने के स्थान पर पशु बंधन, पशुचारण और पशुपालन का व्यवसाय शुरू किया गया। इस काल का सर्वाधिक क्रांतिकारी आविष्कार खेती का था। इससे पूर्व आदि मानव भ्रमणशील था लेकिन अब कृषि कार्य करने के कारण उसके लिए एक स्थान पर स्थायी रूप से जमकर रहना आवश्यक हो गया। प्रो. नेमीशरण मित्तल का मानना है कि– खेती का आरंभ भारत में राजस्थान से हुआ। खेती का अन्य प्रमाण ईसा से 5000 वर्ष पूर्व के काल में उत्तर प्रदेश के ठेठ पूर्व में कोलडीहवा में मिलता है पाषाणयुगीन मानव ने जंगलों में अपने निवास के आस–पास की भूमि को साफ करके कृषि कार्य करना आरंभ कर दिया। प्रारंभ में वह स्वयं हाथ से ही खेती करता था परंतु कालांतर में बैलों व घोड़ों के प्रयोग से हल द्वारा खेती करता था। पत्थर के बने औजारों से वह लकड़ी काटता था और

टिप्पणी

उन्हीं की सहायता से हल, गाड़ी आदि बनाता था। प्रो. विमलचंद्र पांडेय ने लिखा है–''कृषि हल की सहायता से होती थी अथवा नहीं, इस विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते हैं। काष्ट निर्मित होने के कारण तत्कालीन हल नष्ट हो गए होंगे और अब उनके अस्तित्व के प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके। परंतु अनाज काटने के लिए उसने हंसिए का आविष्कार अवश्य कर लिया था। अनाज पीसने के लिए दो विशाल पाषाण–खंडों को चक्की के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। मनुष्य की उत्पादित सामग्री में गेहूं, जौ, बाजरा, मक्का, शाक, फल और कपास रहे होंगे। कृषि कर्म का ज्ञान उस प्राचीन युग में महान क्रांति वाहक था। यह आविष्कार मानव प्रगति के लिए अति अनिवार्य आवश्यकता थी।

इस युग में बढ़ई, कुम्हार, बुनकर, रंगरेज आदि के व्यवसाय भी शुरू हो गए। नवपाषाण युग में मनुष्य ने वस्त्र निर्माण करना भी सीख लिया था। उसने पौधों के रेशों तथा पशुओं के बालों को वस्त्र के रूप में बुनना प्रारंभ कर दिया। विद्वानों के अनुसार, इस काल में कपास की खेती प्रारंभ हो गई और संभवतः मनुष्य ने सूती धागों से कपड़ा बनाने की कला भी सीख ली होगी। बहुत से विद्वानों का मानना है कि कताई, बुनाई और रंगाई के कामों में नारी की भूमिका महत्वपूर्ण रही होगी। विविध व्यवसाय शुरू होने तथा स्थायी रूप से एक स्थान पर बसने से सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी। गांव और समाज में संगठन की भावना भी विकसित होने लगी।

नवपाषाण काल में व्यापार की भी शुरुआत हुई। मानव वस्तुओं का परस्पर विनिमय करने लगे। बढ़ई या कुम्हार अपने शिल्प द्वारा तैयार की गई वस्तु के बदले में किसान से अनाज प्राप्त करता था। व्यापार आस–पास के गांव में भी किया जाता था। प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकता को स्वयं पूरा करने का प्रयत्न करता था परंतु उस युग में मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत कम थीं और उन्हें अपने सीमित क्षेत्र में ही पूरा करना सर्वथा संभव था।

भोजन एवं अग्नि का उपयोग

पूर्वपाषाण कालीन मानव अत्यंत ही भद्दे तरीके से कच्चा भोजन करता था क्योंकि वह भोजन पकाने की कला से अनभिज्ञ था। उसने पत्थर टूटने या उनके आपसी रगड़ से निकली चिंगारियों, पेड़ों की डालों की रगड़ से आग लगने और कभी–कभी जंगल की भयानक आग को देखा था। अचानक दावानल से जले भुने जानवर का मांस खाया जिसका स्वाद उसे अच्छा लगा। उसने पत्थर या लकड़ी की रगड़ से अग्नि पैदा करने और उससे आग जलाना सीखा। इस आविष्कार ने मनुष्य के जीवन को और भी अधिक सुरक्षित एवं सुविधाजनक बना दिया। अग्नि की सहायता से वह अपना भोजन पकाने लगा था। नवपाषाण युग के मानव के खाद्य पदार्थों में फल–फूल व मांस के अतिरिक्त अपने खेतों में पैदा किया हुआ अन्न भी था। पशुपालन प्रारंभ होने से उनका प्रमुख पेय पदार्थ दूध हो गया था।

मृतक संस्कार

नवपाषाण काल का मनुष्य मृत मानव शरीरों को जमीन में दफनाया करते थे। शवों को जलाने, गाड़ने की प्रथा थी।

टिप्पणी

समुदाय, जातियां एवं वर्ग–इस युग में मनुष्य अनेक समुदायों, जातियों एवं वर्गों में बंटने लगे। अलग–अलग स्थानों पर रहने वाले समूहों के अलग–अलग मनुष्य समुदाय बन गए। अलग–अलग स्थानों पर रहने से उनके रहन–सहन व रीति–रिवाजों में भिन्नता थी। वास्तव में जाति प्रथा का अंकुरण इसी काल में दिखाई देता है। भिन्न–भिन्न व्यवसाय होने से व्यवसाय के आधार पर अनेक वर्ग एवं जातियां बन गई थीं। पशुपालन और खेती के व्यवसाय ने मानव को बड़े परिवार में रहने के लिए बाध्य कर दिया। संभवतः 'कबीला' नवपाषाणकालीन लोगों की सामाजिक इकाई था। कबीलों के अंतर्गत अनेक परिवार होते थे। उत्तरपाषाण युगीन मानव शायद धर्म के प्रति भी जाग्रत हुआ। विद्वानों का मानना है कि तत्कालीन मनुष्य में धर्म, अंधविश्वास और अनुष्ठान की भावनाओं का बीजारोपण हो गया होगा।

पाषाणकालीन सभ्यता के विकास के साथ–साथ मनुष्यों ने अपने भावों को व्यक्त करने की कला में भी उन्नति की। विभिन्न स्थानों में विविध जातियों और समूहों की बोलियां स्थिर होने लगीं तथा जीवन विस्तार के साथ–साथ उनका शब्द भंडार भी बढ़ने लगा। पूर्व पाषाणकाल से लेकर नवपाषाण काल तक मनुष्य ने जो आविष्कार किए, उनके परिणामस्वरूप उसके जीवन में महान परिवर्तन आ गया और वह उत्तरोत्तर सभ्यता की ओर अग्रसर होता चला गया। पूर्वपाषाणकालीन मनुष्य नितांत जंगली था। वह पशुओं से अधिक सभ्य था। धीरे–धीरे उसने कृषि कर्म, पशुपालन, गृह निर्माण आदि सीखा। पारस्परिक सहयोग और सहकारिता की भावना विकसित हुई और वे एक–दूसरे के निकट रहने लगे। इसी से 'ग्राम' अथवा 'बस्ती' का आविर्भाव हुआ। अब मनुष्य का जीवन एकाकी न रहकर सामूहिक हो गया। अतः नवपाषाण काल में वर्तमान सभ्यता के अनेक अंग बीजरूप में विद्यमान थे।

खाद्य उत्पादन का उद्‌भव एवं विकास

वनस्पति कृषिकरण और पशुओं को पालना संस्कृति के नवपाषाण चरण का एक मुख्य विशिष्ट लक्षण माना गया है। नियोलिथिक (नवपाषाण) शब्द का प्रयोग सबसे पहले सर जॉन लुबॉक ने अपनी पुस्तक 'प्रिहिस्टोरिक टाइम्स' (सर्वप्रथम 1865 में प्रकाशित) में किया था। उसने इस शब्द का प्रयोग उस युग को बताने के लिए किया था, जिस युग में पत्थर के उपकरण अधिक कुशलता से और अधिक रूपों में बनाए गए और उन पर पॉलिश भी की गई। बाद में वी. गॉर्डन चाइल्ड ने नवपाषाण–ताम्रपाषाण संस्कृति को अपने–आप में पर्याप्त अन्न उत्पादक अर्थव्यवस्था बताया और माइल्स बरकिट ने इस बात पर जोर दिया कि निम्नलिखित विशिष्ट विशेषकों को नवपाषाण संस्कृति का माना जाना चाहिए–

- कृषि कार्य
- पशुओं को पालना
- पत्थर के औजारों का घर्षण और उन पर पॉलिश करना
- मृद्‌भांड बनाना।

नवपाषाण की संकल्पना में इधर कुछ वर्षों में परिवर्तन हुआ है। एक आधुनिक अध्ययन में उल्लेख किया गया है कि नवपाषाण शब्द उस पूर्व–धातु चरण संस्कृति

टिप्पणी

का सूचक होना चाहिए जब यहां रहने वालों ने अनाज उगाकर और पशुओं को पालतू बनाकर भोजन की विश्वस्त पूर्ति की व्यवस्था कर ली थी और एक स्थान पर टिक कर जीवन बिताना आरंभ कर दिया था। फिर भी, घर्षित पत्थर के औजार नवपाषाण संस्कृति की सर्वाधिक अनिवार्य विशेषता है। वनस्पति कृषिकरण और पशुओं को पालने से–

- एक स्थान पर टिककर जीवन बिताने के आधार पर ग्राम समुदायों की शुरुआत हुई,
- कृषि टेक्नोलॉजी की शुरुआत हुई,
- प्रकृति पर और अधिक नियंत्रण और प्राकृतिक साधनों का संदोहन हुआ।

अभी हाल तक ऐसा समझा जाता था कि वनस्पति कृषिकरण और पशुओं को पालने के कार्य की शुरुआत पश्चिम एशिया में हुई और वहां से यह विसरण के द्वारा संसार के विभिन्न क्षेत्रों में फैला। लेकिन अब मिश्र में नील घाटी तथा अन्य क्षेत्रों से हाल ही में प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर, इन दृष्टिकोणों में संशोधन करना आवश्यक है।

नील घाटी

गेहूं और जौ की सबसे पहली खेती के बारे में जो नया साक्ष्य प्रकाश में आया है, वह निम्नलिखित स्थानों पर उत्खननों से प्राप्त हुआ है–

- वाडी कुब्बानिया (दक्षिण मिस्र में आसवान के उत्तर में थोड़ी दूर पर स्थित),
- बाडी टस्का (आबू सिबेल, के पास जो अब जलमग्न है),
- कोम अंबो (आसवान के उत्तर से कुब्बानिया स्थलों से लगभग 60 किलोमीटर दूर) और
- एसना के पास का स्थल–समूह।

इस साक्ष्य के विषय में बात यह है कि ये सभी नील घाटी में स्थित उत्तर पुरापाषाण स्थल हैं, न कि नवपाषाण स्थल।

पुरातत्वविदों ने इन स्थलों का काल–निर्धारण आज से 14500–13000 वर्षों के बीच किया है।

नील घाटी से प्राप्त साक्ष्यों से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं–

- चूंकि मिस्र के स्थलों में पशुओं को पालतू बनाए जाने के कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं, अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस क्षेत्र में अनाजों की खेती पशुओं को पालने से पहले आरंभ हुई। इस प्रकार वनस्पति कृषिकरण और पशुओं के पालने के कार्य आवश्यक रूप से अंतरसंबद्ध नहीं हैं।
- चूंकि अनाजों की खेती परवर्ती पुरापाषाण औजार से संबद्ध है, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ मामलों में अनाज उत्पादन उस नवपाषाण संस्कृति से पहले हुआ जिससे घर्षित पत्थर के औजार संबद्ध हैं।
- अनाजों की खेती से नवपाषाण क्रांति को बल मिला और यह खेती इस क्रांति से पहले हुई।

टिप्पणी

- चूंकि कब्बानिया स्थल जंगली गेहूं और जंगली जौ, दोनों के विदित क्षेत्र से बाहर स्थित है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं है कि अन्न उत्पादन उन्हीं क्षेत्रों से शुरू हुआ, जहां पेड़–पौधे अपने जंगली रूप में विद्यमान थे।
- जैसा कि पहले विश्वास किया जाता था, कृषिकरण पश्चिम एशिया से शुरू नहीं हुआ।

पश्चिमी एशिया के प्रारंभिक किसान

पश्चिम एशिया में विकास की प्रक्रिया में फिलीस्तीन, सीरिया, तुर्की, इराक, कैस्पियन द्रोणी और ईरान के आसपास के क्षेत्र आते हैं। ये वे आधुनिक नगर हैं, जहां पुरातत्वविदों ने सबसे प्रारंभिक खेती करने वाली ग्राम बस्तियों का पता लगाया है। अब यह भली–भांति विदित है कि फिलीस्तीन, सीरिया, और तुर्की में खेती आठवीं–नवीं सहस्राब्दि ई.पू. में शुरू हुई थी। यह महत्वपूर्ण है कि इस क्षेत्र के शिकारियों–संग्राहकों ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकना छोड़ दिया और एक स्थान पर टिककर जीवन बिताना आरंभ किया। पहले उन्होंने यह काम वन्य साधनों के संदोहन पर आश्रित रहते हुए कुछ स्थानों पर किया। मुरेबात, उत्तर सीरिया में यूफरेट्स पर आबू हरेयरा का उत्तर और उसी नदी पद दक्षिण तुर्की में सुबेरदे जैसे स्थलों में स्थायी बस्तियां शिकार करने और बटोरने पर ही पूरी तरह से फलफूल सकती थीं। खेती में संक्रमण एक धीमी प्रक्रिया थी, परंतु लगभग नौ सहस्राब्दि ई.पू. से ऐसा साक्ष्य मिला है कि स्थायी समुदायों का खेती को अपने स्थायी जीवन के स्वरूप का अनिवार्य आधार बनाकर आविर्भाव हो रहा था।

ऐसे अनेक स्थल हैं, जहां पश्चिम एशिया में किसानों के स्थायी समुदायों का पता चलता है–

1– 8500–7500 ई.पू. के बीच फिलीस्तीन में जरीको एक बड़ा गांव बन गया था, जहां कृषि के साक्ष्य तो मिले हैं, परंतु पशुओं को पालने के कोई साक्ष्य नहीं मिले हैं (यह कार्य बाद में हुआ)। उत्खनन के दौरान उत्तर स्तरों में यह पाया गया कि जेरीको के चारों ओर दो मीटर चौड़ी पत्थर की दीवार थी और गोल मीनारें थीं। संसार में किलेबंदी का यह एक सबसे प्रारंभिक उदाहरण है।

2– दक्षिण तुर्की में हुयुक एक बड़ा गांव था। यहां गेहूं, जौ और मटर की खेती होती थी। मवेशी, भेड़–बकरी जैसे जानवरों को घर में पाला जाता था। कच्चे मकान दो कमरों के होते थे और मकानों की दीवारें मिली होती थीं। घरों की दीवारों पर तेंदुआ, फूटते हुए ज्वालामुखी और बिना सिर के मानव शवों को निगलते हुए गिद्धों के चित्र बने हुए मिले हैं। इस स्थान पर भौतिक संस्कृति के साक्ष्य मृदभांडों, पत्थर की कुल्हाडियों, पत्थर के आभूषणों, हड्डियों के औजारों, लकड़ी के कटोरों और रंग–शिल्प के रूप में मिले हैं।

3– इराक में जारमों में स्थायी रूप से बसे कृषि गांवों (6500–5800 ई.पू.) के भी साक्ष्य मिले हैं। इनमें लगभग 20 से 30 तक कच्चे मकान होते थे। प्रत्येक मकान में एक आंगन और कई कमरे होते थे और वहां घर्षित पत्थर की कुल्हाड़ियां, चक्कियां, मृदभांड आदि भी होते थे। लोग गेहूं और जौ उगाते थे तथा भेड़–बकरी पालते थे।

टिप्पणी

4– ईरान में खेती खजिस्तान के क्षेत्र में आठवीं सहस्राब्दि ई.पू. के दौरान शुरू हुई। लगभग उसी समय जब फिलीस्तीन और अनातोलिया में शुरू हुई। दक्षिण ईरान में (लगभग 7,500 ई.पू. से) अली कोश में हमें ऐसे लोगों के एक जाड़े के मौसम के शिविर के साक्ष्य मिले हैं, जो लोग गेहूं और जौ की खेती करते थे। वे भेड़ भी पालते थे। ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में पशु–पालन और खेती अंतरसंबद्ध थे।

पश्चिम एशिया में फसल उगाना और पशुओं को पालना कुछ स्थलों पर अंतरसंबद्ध था, जबकि कुछ क्षेत्रों में कृषि कार्य पशुओं को पालने के कार्य से पहले शुरू हुआ।

भारतीय उपमहाद्वीप के प्राचीन किसान एवं क्षेत्र

इस महाद्वीप में कृषिकरण और पशुओं को पालने का इतिहास वस्तुतः नवपाषाण संस्कृतियों के उदय से प्रारंभ होता है। घर्षित पत्थर की कुल्हाड़ियों को छोड़कर इस उपमहाद्वीप की सभी नवपाषाण संस्कृतियां उल्लिखित भौगोलिक क्षेत्रों में वर्गीकृत की जा सकती हैं :

उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र–अफगानिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान, विशेष तौर पर बलूचिस्तान में काची मैदान मिलाकर।

उत्तर क्षेत्र–इसमें कश्मीर घाटी आती है।

दक्षिण–पूर्वी उत्तर प्रदेश–इसमें इलाहाबाद, मिर्जापुर, रीवा और सिंधी जिलों में विध्य दृश्यांश–खासतौर पर बेलान घाटी आती है।

मध्य पूर्वी क्षेत्र–उत्तरी बिहार।

पूर्वोत्तर क्षेत्र–इसमें असम और निकटवर्ती उप–हिमालय क्षेत्र आते हैं।

मध्य पूर्वी क्षेत्र–इसमें छोटा नागपुर का पठार, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में विस्तार सहित क्षेत्र आते हैं।

दक्षिणी क्षेत्र–इसमें प्रायद्वीपीय भारत आता है।

कश्मीर घाटी की नवपाषाण संस्कृति

कश्मीर घाटी में ग्राम बस्तियों का लगभग 2500 ई.पू. में आविर्भाव हुआ। बुर्जहोम और गुफकराल में हुए उत्खननों से इस क्षेत्र में नवपाषाण संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। इस क्षेत्र के नवपाषाण चरण को बुर्जहोम में दो चरणों में और गुफकराल में तीन चरणों में वर्गीकृत किया गया है। उत्तरवर्ती स्थल पर सबसे प्रारंभिक अमृद्भांड (पुरा मृद्भांड यानि सबसे पुराने मिटट्ी के बर्तन) चरण है जो भारत में पहली बार खोजा गया है। कश्मीर घाटी की नवपाषाण संस्कृति की विशेषता है। गर्त आवास, अच्छी तरह बनाए गए और गेरू से रंगे फर्श और साथ ही खुले में भी आवास और बड़ी मात्रा में प्राप्त हड्डियों के अद्वितीय औजारों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह अर्थव्यवस्था प्रधानतः आखेट अर्थव्यवस्था थी।

प्रथम चरण में फलियों मसूर, अरहर, गेहूं और जौ के जले हुए अन्न कण प्राप्त हुए हैं और साथ ही मवेशियों, भेड़–बकरियों, साकिन, लाल मृग और भेड़िया जैसे पशुओं की हड्डियां भी मिली हैं। द्वितीय चरण में वनस्पति कृषिकरण और पाले गए जानवरों के साक्ष्य मिले हैं। उत्तरवर्ती चरणों से जो अन्य उल्लेखनीय वस्तुएं प्राप्त

हुई हैं उनमें लंबी आदिम कुल्हाड़ियां, प्रस्तर नोकें, परिष्कृत हड्डी के औजार (मत्स्य भाले, वाणाग्र आदि) और छिद्रित हार्वेस्टर शामिल हैं। मानव शवाधानों के बीच कुत्तों के शवाधान भी मिले हैं।

टिप्पणी

यहां यह उल्लेखनीय है कि बुर्जहोम की नवपाषाण संस्कृति का मृदभांड, हड्डी और पत्थर की वस्तुओं में स्वात घाटी के सराय खोला और घाली गई के साथ सादृश्य प्रकट होता है। गर्त आवास, हार्वेस्टर और कुत्तों के शवाधान उत्तर चीनी नवपाषाण संस्कृति की विशेषताएं हैं। बुर्जहोम में प्राप्त मृदभांडों से संकेत मिलता है कि इनका पूर्व हड़प्पा निवासियों से भी संपर्क था।

दो स्थलों से उपलब्ध सी–14 तिथि–निर्धारणों से संकेत मिलता है कि कश्मीर घाटी में नवपाषाण संस्कृति की समय अवधि 2500–1500 ई.पू. थी।

बेलान घाटी के प्राचीन किसान

बेलान नदी पूर्व से पश्चिम की ओर विध्य पठार दृश्यांश के किनारे के साथ–साथ बहती है। यह टोंस नदी की उप–नदी है, जो इलाहाबाद के पास गंगा में मिलती है। यह क्षेत्र मानसून मेलखा का एक भाग है। सारे क्षेत्र में सागौन (टीक), बांस और ढाक के घने जंगल हैं। ये जंगल, बाघ, नीलगाय, चीतल आदि जैसे वन्य पशुओं के प्राकृतिक आवास हैं तथा यहां घनी घास जंगली चावल सहित, उगी हुई है। पुरापाषाण काल तक से यह स्थान प्रारंभिक पाषाण युग के लोगों का प्रिय आखेट स्थल रहा है। बेलान घाटी के संबद्ध उत्खनन जिनसे अन्न संग्रह चरण से अन्न उत्पादन चरण में संक्रमण के संकेत मिलते हैं, चौपानी–मांडो, कोल्डीरोवा और महागरा हैं।

एकल संस्कृति स्थल ऐसा पुरातात्विक स्थल है जहां नवपाषाण या ताम्रपाषाण जैसे संस्कृति के एकल चरण में ही बस्ती थी। यदि एक स्थल से, उत्खनन के बाद, पता चलता है कि इसमें नवपाषाण, ताम्रपाषाण अथवा लोहे के प्रयोग के चरणों में बस्ती थी तो इसे बहु–संस्कृति स्थल कहा जाएगा और नवपाषाण चरण को प्रथम काल, ताम्रपाषाण चरण को द्वितीय काल तथा लोहे के प्रयोग के चरण को तृतीय काल कहा जाएगा। इन कालों से उस स्थल की संस्कृतियों का काल अनुक्रम प्रदर्शित होगा।

काल्डीहवा में उत्खननों से त्रिविध सांस्कृतिक अनुक्रम (नवपाषाण, ताम्रपाषाण और लौह युग) का पता चलता है। महागरा एकल संस्कृति (नवपाषाण) स्थल है। इन दोनों स्थलों से प्राप्त संयुक्त साक्ष्य से स्थानबद्ध जीवन, चावल (ऑरीजा सेटीवा) उगाने, और मवेशी तथा भेड़–बकरी पालने के संकेत मिले हैं।

इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों के जीवन पर प्रकाश डालने वाली अन्य वस्तुएं हैं–

- रज्जु–चिह्नित मृदभांड।
- गोल आदिम कुल्हाड़ियां और वसूले, आयताकार अथवा अंडाकार अनुप्रस्थ काट तथा केल्सेडोनी फलकों सहित।
- वृत्ताकार व अंडाकार फर्श–हस्तकृतियों सहित।
- बड़ा मवेशी बाड़ा–मवेशियों के खुरों के निशान सहित भी महागरा स्थलों में मिले हैं।

टिप्पणी

बेलान घाटी की नवपाषाण संस्कृति से विकसित और उन्नत स्थानबद्ध जीवन का, निम्नलिखित के साथ, पता चलता है :

- निश्चित परिवार इकाइयां
- मृदभांड के रूपों का मानकीकरण
- चक्कियों और लोटों जैसी खाद्य संसाधन इकाइयों का सुबाह्य आकार
- छैनी, कुल्हाड़ियों और बसूलों जैसे विशिष्ट औजार
- कृषिकृत चावल की खेती
- पशुपालन

यह सुझाया गया है कि बेलान घाटी के नवपाषाण कालीन किसानों का भारत (छठी सहस्राब्दि ई.पू.) सबसे प्रारंभिक चावल उगाने वाले समुदाय के रूप में उदय हुआ, यद्यपि यह सुझाव सभी को मान्य नहीं है। संग्रहण अर्थव्यवस्था से कृषि अर्थव्यवस्था में संक्रमण के भी इस क्षेत्र में स्पष्ट साक्ष्य मिलते हैं। यह इस बात का सूचक है कि मृदभांड बनाने का काम कृषिकरण (चावल) और पशु (मवेशी, भेड़–बकरी और घोड़े) पालने के कार्य से पहले शुरू हो गया था।

चोपानी मांडों में संसार में मृदभांड के इस्तेमाल के सबसे प्राचीन साक्ष्य मिले हैं।

पूर्वी भारत के प्रारंभिक किसान

इस क्षेत्र में उत्तरी कछार को मिलाकर असम की पहाड़ियां और गारो तथा नागा पहाड़ियां आती हैं। पारिस्थितिक दृष्टि से यह क्षेत्र बहुत वर्षा वाले मानसून क्षेत्र में आता है।

इस क्षेत्र की नवपाषाण संस्कृति की विशेषता है–स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियां, गोलाकार छोटे घर्षित कुल्हाड़े, रज्जु चिह्नित मृदभांड जिन पर बहुत अधिक स्फटिक कण चिपकाए गए होते थे। उत्तरी कछार पहाडियों में देवजाली हाडिग में किए गए उत्खननों से ऊपर बताई गईं सभी वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। ये वस्तुएं उन प्रकारों की हैं जो चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में व्यापक रूप से पाए जाते हैं। फिर भी, असम के नवपाषाण विशेषकों का चीन अथवा दक्षिण पूर्व एशिया से सादृश्य अंतिम रूप से निश्चित नहीं हो सका है क्योंकि इनमें बहुत अधिक कालानुक्रमिक अंतर है। असम के नवपाषाण संस्कृति चरण का तिथि निर्धारण अस्थायी रूप से 2000 ई.पू. के आसपास किया गया है।

दक्षिण भारत के प्रारंभिक किसान

दक्षिण भारत में उन्नत आखेट अर्थव्यवस्था चरण से खाद्य उत्पादक अर्थव्यवस्था चरण में संक्रमण की समस्या अभी तक स्पष्ट रूप में सिद्ध नहीं की जा सकी है। नवपाषाण कालीन बस्तियां पहाड़ी और शुष्क दक्कन पठार पर पाई गई हैं, जहां से भीम, कृष्ण, तुंगभद्रा और कावेरी नदियों को जल प्राप्त होता है। यह बस्तियां खास तौर पर उन क्षेत्रों में फली–फूलीं, जहां सामान्य वर्षा प्रति वर्ष 25 सेंटीमीटर से कम होती है। दक्षिण भारत की नवपाषाण संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले उत्खनित स्थल हैं–सनगनकल्लू, नागार्जुनकोंडा, मस्की, बुधगिरि, टेक्कालकोटा, पिकलीहाल, कुपगल, हल्लूर, पलवाय, हेमीजे और नरसीपुर।

पुरातत्वविदों ने दक्षिण भारतीय नवपाषाण संस्कृति को तीन चरणों में वर्गीकृत किया है। सबसे प्रारंभिक चरण के साक्ष्य सनगनकल्लू और नागार्जुन कोंडा में मिलते

टिप्पणी

हैं। नागार्जुन कोंडा में प्राप्त आवासों के धुंधले चिह्न, लेपित बाहरी सतहों वाले अपरिष्कृत हस्तनिर्मित पीले रक्ताभ भूरे मृदभांड, चकमक के फलक औजार और घर्षित पत्थर के औजारों से प्रदर्शित होता है कि लोगों को खेती का केवल अल्प–विकसित ज्ञान था। संभवतः वे जानवर नहीं पालते थे। इस चरण का तिथि निर्धारण 2500 ई.पू. अथवा इससे पहले किया जा सकता है।

दक्षिण भारत के नवपाषाण कालीन किसानों द्वारा उगाई गई सबसे पहली फसलों में मिलेट (रागी) की फसल थी। इसकी खेती आज भी होती है और गरीब लोगों के भोजन का यह एक महत्वपूर्ण स्रोत है। यह मवेशियों के लिए चारे के रूप में भी इस्तेमाल की जाती है। सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि कृषिकृत रागी पूर्व अफ्रीका से आई। जंगली रागी, जो कृषिकृत रागी के साथ–साथ खरपतवार के रूप में उग जाती थी, कृषिकृत रागी की पूर्वज नहीं थी। लेकिन जंगली रागी पूर्वज परंपरा से अफ्रीकी किस्म से संबद्ध थी। दक्षिण भारत के नवपाषाण कालीन किसानों द्वारा जिन फसलों की खेती की जाती थी। वे थीं–गेहूं, कुलथी और मूंग। खजूर भी उगाई जाती थी। लगता है कि इस काल के दौरान सौपान–कृषि खेती की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही होगी। इसका उपयोग फसलें उगाने के लिए, छोटे–छोटे खेत बनाने के लिए किया जाता था।

उत्खननों के प्राप्त पशुओं की हड्डियों के स्वरूप यह संकेत देते हैं कि पशुओं का उपयोग भार वहन करने के लिए अथवा भारी सामग्री खींचने के लिए तथा खेतों में हल चलाने के लिए किया जाता था। नागार्जुनकोंडा में किए गए उत्खननों से स्पष्ट है कि वनस्पति कृषिकरण पशुओं को पालने से पहले ही शुरू हो गया था। इन स्थलों से मवेशी, भेड़ और बकरी, भैंस, गधा, मुर्गी, सूअर और घोड़े जैसे पाले गए पशुओं की भी सूचना मिली है। सांभर मृग, बारहसिंगा, चित्तीदार मृग और चिकारा का शिकार किया जाता था तथा घोंघा और कछुए भोजन के लिए पकड़े जाते थे।

प्रचुर मात्रा में मवेशी और अन्य प्रकार की खाद्य वस्तुओं से संकेत मिलता है कि नवपाषाण कालीन लोगों की स्थानबद्ध कृषि तथा पशुचारण अर्थव्यवस्था थी। तिथि निर्धारणों के आधार पर दक्षिण भारत की नवपाषाण संस्कृति का तिथि निर्धारण 2600 और 1000 ई.पू. के बीच किया गया है।

उत्नूर, कोडेकाल और कुपगल जैसे नवपाषाण स्थलों के पास अनेक राख के टीले मिले हैं। इनमें से कुछ बस्तियों से दूर जंगलों में भी मिले हैं। सुझाया गया है कि यह राख के टीले नवपाषाण कालीन मवेशी बाड़ों के स्थल थे। समय–समय पर इकट्ठा हो गया गोबर या तो किसी संस्कार के रूप में अथवा दुर्घटनावश जलता रहा। अपेक्षाकृत अधिक दूरस्थ स्थानों पर पाए गए राख के ढेर इस बात का संकेत देते हैं कि लोग कुछ खास मौसम में जंगलों के पशु–चारण स्थानों पर चले जाया करते थे।

ऊपरी मध्य और पश्चिमी दक्कन की नवपाषाण संस्कृति

कृष्णा और गोदावरी तथा उनकी सहायक नदियों के मध्य और ऊपरी विस्तारों में चित्र कुछ और ही हैं। इन क्षेत्रों में, काले पाश पर बनाए गए घर्षित पत्थर के औजारों के अलावा बड़ी संख्या में समांतर पक्षी फलक तथा गोमदे, केल्सेडोनी और इंद्र गोप मणि (सभी उपरत्न) के सूक्ष्म पाषाण धूसर भांडों और ताम्रपाषाण प्रकार के चित्रित मृद्भांडों के साथ मिले हैं। इस क्षेत्र से नवपाषाण चरण के कोई स्पष्ट अवशेष नहीं मिले हैं।

लेकिन कृष्णा नदी की सहायक नदी भीमा पर चंदोली से प्राप्त साक्ष्य और गोदावरी की सहायक नदी प्रवरा पर नेवासा और दाइमाबाद स्थलों से प्राप्त साक्ष्य इस बात का संकेत देते हैं कि इस क्षेत्र में नवपाषाण किसान ताम्रपाषाण चरण में प्रवेश कर गए थे।

टिप्पणी

उत्तर महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और गुजरात की ताप्ती और नर्मदा घाटियों के उत्तर में और आगे नवपाषाण चरण के स्पष्ट अवशेष नहीं मिले हैं। केवल बीना घाटी में ऐरान स्थल पर और दक्षिण गुजरात में जोखा स्थल पर पाई गई दक्षिण भारत की सादृश्य की नुकीले कुंदा सिरों वाली त्रिभुजाकार कुछ कुल्हाड़ियां ही इस क्षेत्र में नवपाषाण कालीन अवशेष हैं।

चंबल, बनास, और काली सिंध घाटियों में घर्षित पत्थर के औजारों की विद्यमानता का शायद ही कोई प्रमाण हो। इस तथ्य के बावजूद कि प्रारंभिक मध्य पाषाण संदर्भ में पशु पालने का काम शुरू हो गया था, स्थानबद्ध बस्तियां इस क्षेत्र में केवल तभी शुरू हुईं जब ताम्र कांस्य उपकरण ज्ञात हुए।

नवपाषाण ताम्रयुगीन संस्कृतियां

भारत में धातुओं का प्रयोग कब और कहां आरंभ हुआ यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। संभवतः नवपाषाण काल के अंतिम वर्षों में धातुओं का आविष्कार और उसका सीमित प्रयोग प्रारंभ हो गया था। पाषाण युग के मनुष्य को धातुओं का ज्ञान धीरे–धीरे हुआ होगा। मनुष्य ने सर्वप्रथम सोने की खोज की थी। भारत में धातुओं में तांबे का प्रयोग सर्वप्रथम हुआ। धातु पत्थर की अपेक्षा अधिक सुंदर, सुडौल एवं चिकनी थी। पाषाण की तुलना में तांबा अधिक उपयोगी अवश्य था, परंतु कठोर कर्मों के लिए तांबा अधिक उपयोगी नहीं था। अतः मनुष्य ने तांबे से भी कठोर धातु की आवश्यकता महसूस की और इस आवश्यकता की पूर्ति उसने एक नवीन धातु के आविष्कार से की। यह धातु कांसा थी। यह मिश्रित धातु थी जो तांबे में टिन के मिश्रण से तैयार की जाती थी। इस प्रकार दो धातुओं के मिश्रण से तीसरी धातु तैयार करना मनुष्य के परिपक्व रासायनिक ज्ञान का परिचायक है। लंबे समय तक पाषाण के साथ–साथ धातुओं के प्रयोग होने के कारण इस युग की सभ्यता को नवपाषाण ताम्रयुगीन संस्कृति के नाम से संबोधित किया जाता है। सिंध, बलूचिस्तान, मकरान आदि के क्षेत्रों में जिन प्राचीन ग्रामीण सभ्यताओं का पता लगा है, उनमें कांसे की प्रधानता थी, इसीलिए उनको प्रायः कांस्य युगीन सभ्यताएं भी कहते हैं।

ताम्र–कांस्य सभ्यता का प्रारंभ और विकास उत्तर भारत में ही हुआ। सिंध और बलूचिस्तान के जो प्रदेश आजकल रेगिस्तान व उजाड़ हैं किसी प्राचीन युग में वे एक अच्छी उन्नत सभ्यता के केंद्र थे। पर्वतीय और रेगिस्तानी क्षेत्रों से भारत के प्राचीनतम ग्रामीण बस्तियों का पता लगा है। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार पश्चिमी एशिया तथा भारत की इन बस्तियों के बीच संपर्क अवश्य रहा होगा। पिगट ने भारत की इन ग्रामीण सभ्यताओं को चार वर्गों में बांटा है–(1) क्वेटा संस्कृति (बेलन के दर्रे में प्राप्त अवशेषों के आधार पर) (2) अमरी नल संस्कृति (सिंध में अमरी नामक स्थान पर तथा बलूचिस्तान में नल नदी की घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर), (3) कुल्ली संस्कृति (बलूचिस्तान में कोल्बा नामक स्थान से प्राप्त अवशेषों के आधार पर) (4) झोब संस्कृति (उत्तरी बलूचिस्तान की झोब घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)।

टिप्पणी

सर्वप्रथम ताम्र निर्मित सामग्री विशेषतया गंगा–यमुना के दोआब से ही उपलब्ध हुई थी। राजस्थान में भी पाषाणकाल के अंतिम वर्षों में ताम्रकाल प्रारंभ हो गया था। उत्खनन में प्राप्त अवशेषों में हमें सिंधु सभ्यता से भी प्राचीन और कहीं–कहीं पर सिंधु सभ्यता की समकक्ष सभ्यता की भी जानकारी मिलती है।

1.3.2 प्रागैतिहासिक अवस्थिति के स्वरूपगत तथ्य

इतिहास की प्रामाणिकता के लिए पुरातात्विक स्रोत अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि यह कल्पनाशीलता से परे होते हैं। इस स्रोतों के अंतर्गत अभिलेख, स्मारक, सिक्के आदि आते हैं। इनका विवरण निम्नलिखित है–

अभिलेख–अभिलेख प्राचीन भारतीय इतिहास जानने में विशिष्ट उपयोगी हैं। प्रो. रेप्सन ने लिखा है–अभिलेख जिस समय और जिस देश में होते हैं, वह उस देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देते हैं। अभिलेख के अंतर्गत शिलालेख, ताम्रपत्र लेख, गुफा लेख, स्तंभ लेख आदि आते हैं। अभिलेख समकालीन होने के कारण अत्यंत प्रामाणिक माने जाते हैं। प्रमुख अभिलेखों में समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, अशोक के अभिलेख, कलिंगराज खारबेल का हाथीगुंफा अभिलेख, चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय का ऐहोल, स्कंदगुप्त का भीतरी स्तंभ आदि अभिलेख भारतीय इतिहास पर विशेष प्रकाश डालते हैं, कुछ विदेशी अभिलेख भी भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

स्मारक–खुदाई से प्राप्त भग्नावशेषों का भारतीय इतिहास में अत्यंत महत्व है। स्मारकों से तत्कालीन संस्कृति के विषय में अत्यंत महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं। तत्कालीन कलाएं, आध्यात्मिक भावना आदि के विषय में हम मंदिरों व स्तूपों के भग्नावशेषों से जानकारी प्राप्त करते हैं। इन अवशेषों से ही हम प्राचीन संस्कृति व सभ्यता–सिंधु सभ्यता के विषय में जान सके। अतः यह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

सिक्के–ऐतिहासिक स्रोतों में सिक्के अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं क्योंकि इनसे हम तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्थिति को जान सकते हैं। सिक्कों के द्वारा राजा का नाम, वंश, रुचियां, आर्थिक स्थिति का तो पता लगा ही सकते हैं, इसके अतिरिक्त राज्य की सीमाओं तथा तिथिक्रम का निर्धारण भी कर सकते हैं। कभी–कभी मुद्राओं के अध्ययन से हमें सम्राटों के धर्म तथा व्यक्तिगत गुणों का पता लग जाता है। कनिष्क के सिक्कों से पता चलता है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था जबकि समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर उनका संगीत प्रेम झलकता है।

मिट्टी के बर्तन–मिट्टी के बर्तनों, मूर्तियों आदि से भी हमें प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी मिलती है। इनसे तत्कालीन कलाओं, धर्म आदि पर प्रकाश पड़ता है।

अतः उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि भारतीयों के पास प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के प्रामाणिक साधन थे। भारत के पास न तो ऐतिहासिक मेधा की कमी थी और न ही साधनों का अभाव।

हड़प्पा संस्कृति

लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व तथा वैदिक सभ्यता को ही भारत की प्राचीनतम सभ्यता माना जाता था। वस्तुतः भारतवर्ष का इतिहास तो मानव सभ्यता के प्राचीन पाषाण युग के इतिहास के साथ ही प्रारंभ हो जाता है, परंतु देश की सुविकसित सभ्यता एवं

संस्कृति का इतिहास हड़प्पा सभ्यता (सिंधु घाटी की सभ्यता) से ही प्रारंभ होता है जो वैदिक सभ्यता से प्राचीन है।

टिप्पणी

सर्वप्रथम 1826 ई. में मेसन नामक अंग्रेज पर्यटक ने हड़प्पा के खंडहरों को देखा था तत्पश्चात कर्नल बर्सन ने 1831 ई. में हड़प्पा के खंडहरों को देखा। सन् 1853 और 1857 ई. में कनिंघम ने हड़प्पा के खंडहरों का निरीक्षण किया। 1856 में जब भारत सरकार लाहौर से कराची तक रेलवे लाइन का निर्माण करा रही थी उस समय निर्माण कार्य हेतु ईंटों की आवश्यकता पड़ी। फलतः आसपास के खंडहरों से ईंटें निकाली गईं। इन्हीं खंडहरों में पंजाब के माण्टगोमरी जिले में स्थित हड़प्पा का खंडहर भी था। हड़प्पा, लाहौर से लगभग 100 मील दूर दक्षिण पश्चिम में रावी नदी के तट पर है। परंतु उस समय तक लोगों का ध्यान इस ओर न जा सका कि हड़प्पा का खंडहर किसी प्राचीन सभ्यता का अवशेष अपने अंचल में छिपाये हुए किसी पुरातत्ववेत्ता की प्रतीक्षा में है।

सर्वप्रथम 1920–21 ई. में पंजाब के माण्टगोमरी जिले (वर्तमान पाकिस्तान) में दयाराम साहनी ने इसी प्रकार के अवशेष प्राप्त किए। कुछ समय पश्चात 1922–23 में भारतीय पुरातत्व विभाग ने श्री राखालदास बनर्जी के नेतृत्व में सिंध के लरकाना जिले में खुदाई कराई जहां मोहनजोदड़ो के नाम से पुकारे जाने वाले भव्य नगर के अवशेष प्राप्त हुए। सिंधु घाटी में इस सभ्यता के विस्तार एवं इसकी निजी विशेषताओं को देखते हुए इस भूखंड विशेष के नाम पर इसका नाम सिंधु घाटी की सभ्यता घोषित किया गया। बाद में जब इस सभ्यता के अवशेष बलूचिस्तान, गंगा यमुना के मैदान, गुजरात काठियावाड़ और राजस्थान में भी मिलने लगे तो हड़प्पा की केंद्रीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए इसका नाम हड़प्पा की सभ्यता रखा गया।

हड़प्पा संस्कृति की उत्पत्ति

हड़प्पा सभ्यता के उद्‌गम के प्रश्न पर अत्यधिक विवाद है। डॉ. आर. के. मुखर्जी ने इस सभ्यता के काल को 3250–2750 ई.पू. निश्चित किया। डॉ. फ्रेंकफर्ट ने इस सभ्यता का काल 2800 ई. पू. बताया और डॉ. फब्रेरी ने इसका समय 2800–2500 ई. पू. बताया। नवीनतम खोजों के आधार पर डॉ. मैके इसके समय को 2800–2200 ई. पू. निर्धारित करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह सभ्यता प्रायः 600 वर्ष तक अपनी श्रेष्ठ स्थिति में रही थी। परंतु अमरी (सिंध) नामक स्थान पर प्राप्त हुए अवशेष प्रायः 3000 ई. पू. के माने गये हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यह सभ्यता 3000 ई. पू. अथवा इससे भी अधिक प्राचीन रही होगी परंतु उसके विकास में समय लगा होगा और 2800 ई. पू. तक अपनी श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर चुकी होगी। डॉ. डी. पी. अग्रवाल ने रेडियो कार्बन विधि के आधार पर हड़प्पा सभ्यता का समय 2500 ई. पू. से 1750 ई. पू. निर्धारित किया है। यह काल हड़प्पा का सबसे परिपक्व काल माना जाता है। इस प्रकार, इस सभ्यता का स्थान विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में स्वीकार किया गया है यद्यपि हड़प्पा सभ्यता का काल एक विवादास्पद प्रश्न है परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि 3000 ई. पू. में भारत भूमि पर स्वतंत्र एवं समृद्ध सभ्यता विकसित हो चुकी थी और यह सभ्यता मिस्र एवं सुमेर सभ्यताओं से किसी प्रकार भी कम उन्नत न थी। डॉ. फ्रैंकफर्ट ने सत्य ही लिखा है कि–यह बिना किसी संदेह के निर्धारित हो चुका है कि भारत ने एक ऐसी संस्कृति के निर्माण में अपनी भूमिका अदा की जिसने यूनानियों से पहले इस विश्व को सभ्य बनाया।

टिप्पणी

सभ्यता के निर्माता

हड़प्पा सभ्यता के निर्माता कौन थे इसके निश्चित प्रमाण नहीं मिलते अतः यह प्रश्न भी विवाद का विषय बना हुआ। सिंधु घाटी की सभ्यता एक नगर सभ्यता थी। इस कारण विभिन्न विद्वानों का कहना है कि इसके विकास में उन विभिन्न नस्लों के व्यक्तियों ने भाग लिया जो नगरों में एकत्रित हो गए थे। उन नस्लों में मुख्य नस्लें आदिम आग्नेय, मंगोलियन, अल्पाइन और भूमध्य सागरीय (द्रविड़) थीं। सिंधु सभ्यता के निर्माता के संबंध में विद्वानों की तीन मान्यताएं प्रचलित हैं। एक मान्यता के अनुसार इस सभ्यता के निवासी मिश्रित जाति के थे। दूसरी मान्यता के अनुसार वे लोग द्रविड़ थे तथा तीसरी के अनुसार ये लोग आर्य थे।

आधुनिक समय में कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो आर्य सभ्यता को सिंधु सभ्यता के समकालीन मानने लगे हैं और उनका विश्वास है कि सिंधु घाटी की सभ्यता के समय आरंभ हुआ भारतीय सभ्यता का क्रम टूटा नहीं बल्कि आर्य सभ्यता ने इस क्रम को स्थापित रखा। उनके अनुसार आर्य सिंधु घाटी की सभ्यता के समय में ही भारत में प्रवेश कर गये थे और उन्होंने भी इस सभ्यता के निर्माण में सहयोग दिया। डॉ. ए.डी. पुसालकर ने लिखा है– यह आर्य और अनार्य सभ्यताओं के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करते हैं। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि संभवतया उस समय में ऋग्वैदिक आर्य वहां की जनता का एक महत्वपूर्ण भाग थे और उन्होंने भी सिंधु घाटी की सभ्यता के विकास में अपना योग दिया। यह विचार बहुसंख्यक विद्वानों का स्वीकृत नहीं है और यदि इसे आंशिक रूप से स्वीकार कर लिया जाए तो मानना होगा कि आर्यों का आगमन यहां उस समय में हुआ जबकि यह सभ्यता पतनोन्मुख थी। ऐसी स्थिति में उसके निर्माण में आर्यों का भाग अधिक नहीं रहा। वस्तुतः जब तक सिंधु सभ्यता के स्थलों की खुदाई में प्राप्त मोहरों पर अंकित लिपि को भली प्रकार पढ़ नहीं लिया जाता तब तक यह कहना कठिन होगा कि इस सभ्यता को जन्म देने और विकसित करने वाले लोग किस जाति के थे।

डॉ. त्रिपाठी के अनुसार–जब तक कि अन्य अकाट्य प्रमाण इस प्रश्न को हल न कर दें तब तक हम इस विषय में निश्चित निर्णय नहीं दे सकते।

पं. जवाहर लाल नेहरू ने हिदुस्तान की कहानी में लिखा है– यह एक दिलचस्प बात है कि हिदुस्तान की कहानी के इस उषाकाल में हम उसे एक नन्हे बच्चे के रूप में नहीं देखते हैं बल्कि इस वक्त वह भी अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था– उसने जिदगी की कला में रहन–सहन के साधनों में काफी तरक्की कर ली और न सिर्फ महज सुंदर चीजों की रचना की है बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगों और खास चिह्नों अच्छे हम्मामों और नालियों को भी तैयार किया है।

हड़प्पा संस्कृति का विस्तार

जी. चाइल्ड के अनुसार, सिंधु सभ्यता का विस्तार प्राचीन मेसोपोटामिया, मिस्र एवं फारस की सभ्यताओं के क्षेत्रों से बहुत अधिक विस्तृत था।

इस सभ्यता के विस्तार के अवशेष उत्तर में अंबाला जिले के रोपड़ से लेकर दक्षिण में काठियावाड़ में रंगपुर जिले और महाराष्ट्र में अहमदनगर जिले तक तथा पूर्व में गाजीपुर, वाराणसी, बक्सर और पटना तक प्राप्त हुए। इससे स्पष्ट होता है कि हड़प्पा सभ्यता संपूर्ण पंजाब एवं सिंध, उत्तर पश्चिम सीमाप्रांत की घाटियों अधिकांश

काठियावाड़, राजस्थान, गंगा यमुना के दोआब तथा दक्षिण पथ के प्रारंभ स्थान तक के कुछ भागों तक फैली हुई थी।

सिंधु सभ्यता के विस्तार एवं प्रमुख बस्तियों का वर्णन निम्नवत है–

टिप्पणी

1– **बलूचिस्तान**–यहां के स्थल व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। यहां से प्राप्त बस्तियों में 3 स्थल अत्यंत महत्वपूर्ण हैं–सुकागेंडोर (दाश्क नदी के मुहाने पर), सोतकाकोह (शादी कौर के मुहाने पर), बालाकोट (सोन मियानी खाड़ी के पूर्व में विदार नदी के मुहाने पर) प्रमुख बस्तियां हैं।

2– **उत्तर पश्चिमी सीमांत**–उपलब्ध समस्त सामग्री गोमल घाटी में केंद्रित प्रतीत होती है।

3– **सिंधु**–सिंधु के बाढ़ वाले मैदान पर अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं परंतु नदी के किनारे पर अनेक स्थल नष्ट हो गए हैं। मोहनजोदड़ो, चाहुन्दड़ो, जुडेरजोदड़ो, अमरी आदि स्थलों पर बहुत अवशेष प्राप्त हुए हैं।

4– **पश्चिम पंजाब**–इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हड़प्पा स्थल है जो रावी के सूखे मार्ग पर स्थित है।

5– **पूर्वी पंजाब**–महत्वपूर्ण स्थल रोपड़ है। हाल ही में प्राप्त उत्खनन में संघोल में अवशेष मिले हैं।

6– **हरियाणा**–यहां के महत्वपूर्ण सिंधु सभ्यता के अवशेष हिसार एवं बनवाली में प्राप्त हुए हैं।

7– **गंगा यमुना दोआब**–यहां सिंधु सभ्यता के अवशेष मेरठ से आलमगीर तक फैले हुए हैं। हाल ही में सहारनपुर में हुलास से भी अवशेष मिले हैं।

8– **गुजरात**–कच्छ व काठियावाड़ प्रायद्वीप में तथा गुजरात की मुख्य भूमि पर सिंधु सभ्यता के अनेक स्थल हैं। कच्छ में प्रमुख स्थान सुतकोतदा व काठियावाड़ में लोथल हैं। ये सिंधु सभ्यता के विशालतम नगरों में से एक हैं।

अन्य स्थान–बहावलपुर, जम्मू, उत्तरी अफगानिस्तान आदि स्थलों पर भी सिंधु सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

सिंधु घाटी की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था

पुरातत्व खोजों में प्राप्त नगरों के भग्नावशेष, जेवरों, बर्तनों, मुहरों, खिलौनों, मूर्तियों तथा अन्य विभिन्न वस्तुओं से हमें इस सभ्यता का ज्ञान हुआ है। मुहरों पर लिपि के जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, उन्हें पढ़ने का प्रयत्न किया गया है और इस दिशा में निरंतर प्रयत्न किये जा रहे हैं। परंतु अब भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाए हैं। प्राप्त साधनों के आधार पर इस सभ्यता के विषय में हमें निम्नलिखित बातों का ज्ञान हो चुका है–

सामाजिक जीवन

सिंधु घाटी की सभ्यता के लोगों का सामाजिक जीवन भी श्रेष्ठ और प्रगतिशील था, परंतु वह सादा, सरल और पवित्र था। उसके विभिन्न विशिष्ट अंगों का विवेचन अधोलिखित है–

समाज का स्वरूप–सिंधु सभ्यता के समाज में वर्ग या वर्ण प्रथा प्रतीत नहीं होती होगी। वर्ण और जाति आर्य सभ्यता की देन रही है। परंतु यह निर्विवाद है कि सैंधव

टिप्पणी

सभ्यता में समाज की इकाई परिवार था। इस सभ्यता के नगर विभिन्न संस्कृतियों के मिलन केंद्र बने हुए थे। समाज साधारणतः चार वर्गों में बंटा हुआ था–

प्रथम वर्ग – विद्वानों का रहा होगा जिसमें पुजारी, ज्योतिषी, चिकित्सक आदि शामिल थे।

दूसरा वर्ग – योद्धाओं का रहा होगा जिसमें सैनिक व राजकीय अधिकारी थे।

तीसरा वर्ग – व्यापारियों, दुकानदारों, शिल्पियों एवं कारीगरों का रहा होगा।

चौथा वर्ग – यह वर्ग श्रम करके जीवन निर्वाह करने वाले लोगों का होगा जिसमें गृह सेवक, किसान, श्रमिक आदि होंगे।

सिंधु काल में सामाजिक जीवन सुख शांतिपूर्ण था। यहां के निवासी युद्ध प्रेमी नहीं थे। शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए सार्वजनिक रूप से अधिकाधिक सुख–समृद्धि की उपलब्धि उनके सामूहिक, संगठित सामाजिक जीवन का लक्ष्य था। विभिन्न वसनों, आभूषणों शृंगार के प्रसाधनों, धातुओं के बहुसंख्यक उपयोगी उपकरणों आदि से सिंधु सभ्यता की सांस्कृतिक और सामाजिक उन्नति का आभास मिलता है।

सिंधु सभ्यता के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का विवेचन निम्नांकित है–

परिवार–खुदाई से प्राप्त छोटे–बड़े आवास गृहों के बहुसंख्यक अवशेष इस बात के द्योतक हैं कि परिवार ही समाज की मूल इकाई था। इतिहासकारों के अनुसार संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित रही होगी। खुदाई से प्राप्त नारी मूर्तियों की बहुलता और मातृदेवी की लोकप्रियता के आधार पर विद्वानों का मानना है कि हड़प्पा सभ्यता मातृप्रधान थी। परिवार में माता का स्थान सर्वोपरि होता था।

भोजन–सिंधु निवासियों का प्रमुख भोजन शाकाहारी व मांसाहारी दोनों ही था। यहां के निवासियों का मुख्य भोजन गेहूं, जौ, दूध, फल, मछली और मांस था। गेहूं और जौ पीसने के लिए चक्कियां नहीं थी बल्कि उन्हें ओखलियों में कूटकर उनका आटा बनाया जाता था। वे मुर्गे, गाय, भैंस, सूअर, घड़ियाल, कछुओं आदि का मांस भी प्रयोग करते थे, ये सब्जियों का प्रयोग करते थे तथा खजूर भी खाते थे। दूध का प्रयोग भी सिंधु निवासी करते थे।

वस्त्र एवं आभूषण–सूत कातने के चरखों व सूती कपड़ों की प्राप्ति से यह पता चलता है कि यहां के निवासी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। स्त्रियों एवं पुरुषों के वस्त्रों में विशेष अंतर नहीं था। कमर से नीचे धोती और कमर से ऊपर बायें कंधे से दायें कंधे के नीचे दबने वाला शाल उनके मुख्य वस्त्र थे। स्त्रियां सिर पर पंखे के समान एक अन्य वस्त्र का प्रयोग करती थीं। वस्त्र ऊनी व सूती दोनों प्रकार के होते थे। स्त्रियों में सुव्यवस्थित आकर्षक केश विन्यास की प्रथा थी। स्त्रियां विभिन्न तरीकों से अपने बालों को संवारती थी। पुरुष दाढ़ी रखते थे परंतु मूंछों को साफ रखने का चलन था।

ये लोग शृंगार एवं सौंदर्यप्रेमी थे। आभूषणों का प्रयोग सभी श्रेणी के स्त्री–पुरुष रुचिपूर्वक समान रूप से करते थे। कुछ आभूषण ऐसे थे जिन्हें स्त्री–पुरुष समान रूप से पहनते थे। आभूषण सोने चांदी व हाथी दांत के बनाये जाते थे। पुरुष कंठहार, भुजबंद और अंगूठी का प्रयोग अधिक करते थे जबकि स्त्रियां माथे का टीका, कंठहार, भुजबंद, बुंदे, कड़े, चूड़ियां, कमरबंद, पाजेब आदि आभूषणों का प्रयोग करती थीं। ये दर्पण, कंघी, काजल, सुरमा, सिंदूर आदि का प्रयोग करती थीं। वे अपने शृंगार प्रसाधनों को छोटे–छोटे पात्रों में रखती थीं। पुरुष भी बालों को संवारने, दाढ़ी मूंछ रखने या मूंछ मुंड़वाने में चतुराई व कुशलता और सौंदर्य का परिचय देते थे।

टिप्पणी

मनोरंजन का साधन–मछली तथा जंगली पशुओं का आखेट, शतरंज व चौपड़ के समान पासे का खेल जुआ, नृत्य, संगीत आदि इनके मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। मुहरों पर ढोल, वीणा, तुरहों के अंकित चित्र एवं नर्तकी की मूर्ति इसके प्रमाण हैं। मुर्गों की लड़ाई के भी प्रमाण मिले हैं। बच्चों के खिलौने, साधारण घरेलू, वस्तुओं के अतिरिक्त पहिएदार छोटी–छोटी गाड़ियां कुर्सियां, विविध प्रकार के पशु–पक्षी के आकार और स्वरूप के झुनझुने, सीटियां आदि थे। ये प्रायः मिट्टी के बनाये जाते थे। नाहर जी ने लिखा है, यहां के निवासी अपने बालकों के शारीरिक विकास एवं मनोविनोद का विशेष ध्यान रखते थे।

राजनीतिक व्यवस्था

1946 में हुई नवीनतम खोजों के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि वहां पर व्यापारिक कुलीनतंत्र न होकर शक्तिशाली केंद्रीय सरकार थी। योजनाबद्ध नगर निर्माण, नापने और तोलने के समान साधन, योजनाबद्ध सड़कों का निर्माण आदि इस कथन के प्रमाण हैं। विद्वान पिगट के अनुसार, प्रशासन की अपरिवर्तनशीलता एक धर्म निरपेक्ष शासन के स्थान पर एक धर्म शासन का संकेत करती है। डॉ. ए.एल. बाशम ने लिखा है, वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं की भांति हड़प्पा की सभ्यता एक धर्मराज्य पर आधारित थी। परंतु कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि संभवतया वहां व्यापारी वर्ग का शासन था। इस कारण यहां की शासन व्यवस्था के बारे में कोई निश्चित धारणा नहीं है परंतु अधिकांशतः यह माना गया है कि यहां राजतंत्रीय व्यवस्था नहीं थी।

हड़प्पा काल (सिंधु घाटी की सभ्यता) की विशेषताएं–हड़प्पा सभ्यता भारत की प्रथम सभ्यता थी। यह अत्यंत विकसित सभ्यता थी। यद्यपि यह लोग लेखन कला से परिचित थे परंतु दुर्भाग्यवश इनकी लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है। अतः हमें मात्र पुरातात्विक स्रोतों पर ही आधारित होना पड़ता है। अतः हम मात्र अनुमान ही लगा सकते हैं। यह नगरीय सभ्यता था। इनके द्वारा निर्मित नगर योजना वर्तमान में भी अत्यंत सराहनीय है।

प्रमुख शहरों का आवासीय ढांचा

सिंधु घाटी की सभ्यता एक नगरीय सभ्यता थी। बड़े नगरों का अस्तित्व और नगर योजना तथा स्थापत्य की सुस्पष्ट पद्धति हड़प्पा सभ्यता द्वारा प्राप्त विकास के उच्च स्तर के परिचायक हैं। इस सभ्यता के प्रमुख नगर मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा, लोथल, चाहुन्दड़ो आदि नदी के तट पर ही बसे हैं। उस काल में वर्षपर्यंत पर्याप्त जलपूरित नदियां थीं, ये नदियां जहां एक ओर व्यापार का मुख्य माध्यम थीं, वहीं वे जीवन यापन के आवश्यक उपकरण प्रस्तुत करने में भी सहायक थी। परंतु इस लाभ के साथ हानि की संभावना भी निरंतर बनी रहती थी क्योंकि उन नदियों में समय–समय पर आने वाली बाढ़ तटवर्ती नगरों को क्षतिग्रस्त या उनका विनाश भी करती रहती थी। नदियों की बाढ़ से नगरों की रक्षा करने के लिए बांध बांधे गए थे। नगरों का निर्माण और विस्तार वास्तु विशारदों की निश्चित योजना और श्रेष्ठ व्यवस्था के आधार पर होता था। नगर में बड़ी–बड़ी सड़कें पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थीं। इन सड़कों से छोटी–छोटी शाखाएं और गलियां निकलती थीं। गलियां लगभग एक से दो–ढाई मीटर तक चौड़ी होती थीं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का नगर निर्माण एक समान योजना पर किया गया था। दोनों नगरों की पश्चिम दिशा में 9 से 15 मीटर तक ऊंचा और 36 180 वर्ग मीटर क्षेत्रफल का एक सुरक्षा स्थान

टिप्पणी

अथवा गढ़ था जो एक दीवार से रक्षित था और जिसमें सार्वजनिक भवन बनाये गए थे। उससे नीचे पूर्व की ओर नगर बनाये गए थे। जिनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल कम से कम एक वर्ग मील था। दोनों नगर नगर–निर्माण कला की दृष्टि से अद्वितीय थे। नगरों में स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था।

डॉ. ए.डी. पुसालकर ने लिखा है : "मोहनजोदड़ो के अवशेषों को देखने वाले दर्शक उन प्राचीन नगरों की स्वच्छता एवं नगर–निर्माण की अद्वितीय कला को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। दोनों नगरों की मुख्य सड़कें जो 2–70 से 10–20 मीटर तक चौड़ी थीं और कहीं–कहीं आधे मील तक सीधी गई हुई थीं। एक–दूसरे को समकोण बनाती हुई काटती थीं जिससे नगर विभिन्न भागों में बंट गए थे। इन भागों में छोटी–छोटी गलियां थीं जिनके दोनों ओर मकान बने हुए थे। प्रत्येक गली में एक सार्वजनिक कुआं था। संपूर्ण नगर में नालियों का जाल बिछा हुआ था। प्रत्येक सड़क और गली के दोनों ओर पक्की ढंकी हुई नालियां थीं और ये बड़ी नालियों में मिलती थीं। इन नालियों की योजना से घरों, गलियों और सड़कों का गंदा पानी नगर से बाहर निकाला जाता था। नालियों को स्वच्छ करने की भी व्यवस्था थी। गंदे पानी एवं मलमूत्र के लिए शोषक कूप बने हुए थे। कुछ स्थानों पर कूड़ा डालने के स्थान बने हुए थे। सड़कों पर रोशनी का प्रबंध किया जाता था, यह विभिन्न दीप स्तंभों के पाये जाने से ज्ञात होता है।"

भवन निर्माण कला–इस युग में भवन सड़कों के दोनों और निर्मित होते थे। गृहों के प्रकाश व वायु की उचित व्यवस्था रहती थी। भवन छोटे व बड़े, कच्चे व पक्के सभी प्रकार के होते थे। भवनों की नींव गहरी व चौड़ी, दीवारें मोटी व चौड़ी होती थीं। खिड़कियों का समुचित प्रयोग होता था। इन नगरों के मकानों की एक विशेषता यह थी कि उनके दरवाजे या खिड़कियां मुख्य मार्ग की ओर नहीं अपितु गलियों और सहायक सड़कों की ओर खुलती थीं।

मोहनजोदड़ो की सर्वप्रथम विशेषता यहां से प्राप्त हुआ विशाल स्नानगृह है। यह 39 फीट लंबा, 23 फीट चौड़ा और 8 फीट गहरा है। इस स्नानकुंड की दीवारें बड़ी सुदृढ़ बनी हैं। तालाब के किनारे सीढ़ियां बनी हुई हैं पानी को निकालने और तालाब को पुनः भरने का प्रबंध किया गया था। यहां पर अन्य विभिन्न स्नानगृह भी बने हुए हैं जहां गर्म पानी से नहाने की व्यवस्था थी। स्नानगृह के छः प्रवेश द्वार हैं। इस कुंड में जाने के लिए दक्षिण और उत्तर की ओर ईंटों की सीढ़ियां बनी हुई हैं। उत्तर की सीढ़ियों के समीप एक चबूतरा है। कुंड के फर्श का ढलाव दक्षिण–पश्चिम की ओर है और उसी दिशा में पानी निकालने की नाली भी बनी है। समय–समय पर सफाई के लिए कुंड का गंदा पानी इसी नाली के रास्ते से बाहर निकाला जाता था, जो बाहर बनी नाली में गिरता था। कुंड के चारों ओर बरामदे बने हुए थे और उनके पीछे अनेक छोटे–बड़े कमरे निर्मित थे। इस स्नानागार की पूरी व्यवस्था उस युग के निवासियों के उच्चस्तरीय जीवन की झलक देती है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह स्नानागार धार्मिक अवसरों पर पुजारियों अथवा शासक वर्ग के विशेष समारोहपूर्ण स्नान के उपयोग में आता रहा होगा। इस स्नानागार के आधार पर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि आधुनिक हिदू धर्म की भांति हड़प्पा सभ्यता के धार्मिक जीवन में भी पवित्र स्नान का विशेष महत्व रहा होगा।

हड़प्पा में निवास गृहों के अतिरिक्त विशाल अन्न भंडार के अवशेष मिले हैं। हड़प्पा के छोटे से दुर्ग में विस्तीर्ण राजमार्ग के दोनों ओर छः–छः की दो पंक्तियों में विशाल अन्न भंडार निर्मित किए गये थे। प्रत्येक अन्न भंडार लगभग 18 मीटर लंबा

और 7 मीटर चौड़ा था। इसकी दीवारें भी बहुत मजबूत थीं, कोष्ठागार के भीतर वायु प्रवेश की उत्तम व्यवस्था की गई थी। इसके दक्षिण की ओर ईंटों का बना चबूतरा था, जिसकी सहायता से माल रखा और निकाला जाता था।

टिप्पणी

इस काल के वास्तुकारों की भवन निर्माण शैली की लगभग सभी विद्वानों ने काफी प्रशंसा की है। नगर और गढ़ दोनों की सुरक्षा के लिए दीवारें बनाई गई थीं और उनमें प्रवेशद्वार थे। परंतु वहां पर सुरक्षा के लिए बनी दीवारों में ईंटों के अलावा पत्थरों का भी प्रयोग किया गया था। यहां के नगर–निर्माण की एक अन्य विशेषता भी थी। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा कालीबंगा में दुर्ग और नगर एक–दूसरे से पृथक थे परंतु यहां पर इनको मिला दिया गया था। यद्यपि दुर्ग और नगर के प्रवेश द्वार अलग–अलग थे। दुर्ग की सुरक्षा के लिए बनाई गई दीवार अभी भी साढ़े चार मीटर ऊंची उठी हुई प्राप्त हुई है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की तथा अन्य नगरों की भी नगर व्यवस्था यह अवश्य सिद्ध करती है कि वहां श्रेष्ठ नगरपालिका शासन की व्यवस्था होगी।

हड़प्पा संस्कृति की विशेषताएं

उत्खनन में बहुसंख्यक मूर्तियां, मुहरें, पात्र, बर्तन, खिलौने, गुड़िया, आभूषण आदि प्राप्त हुए हैं, जिससे तत्कालीन विभिन्न ललित कलाओं का ज्ञान होता है। उन्होंने कला का उपयोग दैनिक जीवन में भी किया। उनकी प्रमुख ललित कलाएं अधोलिखित हैं–

1– लेखन कला–सिंधु निवासी लिखना–पढ़ना अवश्य जानते थे। इनकी लिपि चित्रात्मक थी और प्रत्येक चिह्न किसी शब्द या वस्तु विशेष के लिए बना था। ये संभवतः दाएं से बाएं लिखते थे। दुर्भाग्यवश यह लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है।

2– भवन निर्माण कला–अवस्थित और योजनापूर्ण बने विशाल भवनों, नगरों, दुर्गों के भग्नावशेषों तथा स्नानागार के अवशेषों से उनकी स्थापत्य कला की प्रगति प्रकट होती है। वास्तुकला में वे प्रवीण थे।

3– धातुकला–उन्हें विविध धातुओं का ज्ञान था। विभिन्न धातुओं को गलाकर उन्हें सांचों में ढालकर वे विविध प्रकार की वस्तुएं भी बनाते थे। धातुओं से वे कलापूर्ण आभूषण बनाते थे। वे मिट्टी और धातु की सर्वसाधारण के उपयोग की वस्तुएं निर्मित करते थे।

4– मूर्तिकला–सिंधु निवासी मूर्तिकला में कुशल थे। उनकी मूर्तिकला की चार शैलियां और विधियां थीं – (1) पाषाण को तक्षण करके (2) धातुओं को ढालकर (3) ठप्पा लगाकर (4) हाथ से मिट्टी की मूर्तियां बनाकर उन्हें अग्नि में पकाकर। इन सभी शैलियों में अद्‌भुत कौशल था। उनकी मूर्तियां दो प्रकार की होती थीं–प्रथम, धार्मिक महत्व वाली मूर्तियां जैसे–देवी देवताओं, उपासिकाओं, नर्तकियों, बलि, पशुओं आदि की मूर्तियां और द्वितीय, साधारण महत्व वाली मूर्तियां जैसे स्त्री–पुरुष, पशु–पक्षी, खिलौने आदि। नर्तक की कांसे की मूर्तियां उनकी श्रेष्ठ व उन्नत धातुकला व मूर्तिकला का ज्वलंत उदाहरण हैं।

हड़प्पा पाषाण की मूर्तियां इतनी सजीव और सौंदर्यमयी हैं कि वे यूनानी मूर्तियों की फिनिश और चारूता का सहज स्मरण कराती हैं। पाषाण को काटने, तराशने, छीलने, उसकी पच्चीकारी करने और उसे लौकिक बनाने में सैंधव कलाकारों ने खूब दक्षता प्राप्त कर ली थी। सिंधु सभ्यता की शिल्प आकृतियों

और मूर्तियों में विशालता या सार्वजनिक प्रयोग किए जाने का अभाव था। ये कलाकृति लघु हैं और इनका उपयोग व्यक्तिगत देव स्थानों में ही हुआ होगा, सार्वजनिक मंदिरों में नहीं।

टिप्पणी

5– चित्रकला–चित्रों के अंकन का जो विकसित रूप सैंधव सभ्यता में प्राप्त होता है उससे स्पष्ट व्यक्त है कि उसके पीछे दीर्घकालीन परंपरागत चित्रण का अनवरत अभ्यास और साधना अवश्यमेव रही होगी। सिंधु युगीन चित्र दो प्रकार के होते हैं– प्रथम, ज्यामिति चित्रत्मक तथा द्वितीय, प्राकृतिक दृश्यात्मक। चित्रित जीवधारियों की संचरणशील अवस्था प्रायः दिखाई गई है। रंगों का भी उपयोग किया जाता था।

6– मुहरें निर्माण करने की कला–मोहरों को ढालने और उन पर विभिन्न आकृतियां अंकित करने में ये लोग अत्यंत दक्ष थे। लगभग 550 मुहरें जो मिट्टी तथा विभिन्न प्रकार के रंग–बिरंगे पत्थरों की बनी हुई हैं, सिंध प्रदेश में खुदाई से प्राप्त हुई हैं। अधिकांश मुहरें गोलाकार हैं। इन मुहरों पर किसी न किसी पशु का चित्र अंकित है। इन मुहरों से उनकी श्रेष्ठ कलात्मक प्रतिभा एवं कलाचातुर्य स्पष्ट रूप से झलकता है।

7– संगीत एवं नृत्य कला–सैंधव सभ्यता के लोग संगीत व नृत्य में भी रुचि रखते थे। विभिन्न वाद्ययंत्रों एवं नाचने और गाने की कला से वे पूर्णतः अवगत थे। उनकी मुहरों पर वीणा और ढोल के चित्र तथा नर्तकी की मूर्ति उनकी नृत्य और संगीत कला का परिचय देती हैं।

8– कातने व बुनने की कला–सिंधु सभ्यता के निवासी सूत कातने और कपड़ा बुनने की कला से भी पूर्णतः परिचित थे।

सिंधु घाटी (हड़प्पा) सभ्यता की ललित कलाओं की विशेषताएं

सिंधु घाटी (हड़प्पा) सभ्यता में ललित कलाओं की विशेषताओं का वर्णन निम्न प्रकार से है–

1– सिंधु सभ्यता के लोगों की कला उपयोगितात्मक, यथार्थवादी और स्फूर्तिदायक थी। शक्तिपुंज सांड का चित्रण अत्यंत ही आकर्षक व सुंदर है। प्रकृति के चेतन रूप का इतना यथार्थ अनुकरण मानव हाथों ने शायद किसी अन्य युग में नहीं किया।

2– मिट्टी के बर्तनों पर अधिक चमकदार पॉलिश और रेखाचित्रों के अंकन की कला में इन्होंने विशेष दक्षता प्राप्त कर ली थी। बर्तनों पर रंग चढ़ाना और उन्हें चमकाना सिंधवासियों की विशेषता थी।

3– मूर्तियों के निर्माण और मुहरों के अंकन में उनकी कला, प्रतिभा एवं चातुर्य प्रकट होते हैं। उन्होंने कला में प्राण फूंक दिए थे। वे ललित कला प्रिय थे और उनकी सौंदर्यानुभूति उच्चकोटि की थी। मिश्र, सुमेर, बेबीलोन और असीरिया की तुलना में वे कला में बहुत आगे बढ़े हुए थे।

4– सिंध प्रदेश के कलाकारों का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। वे अपनी कलाकृतियों के विषय जनसाधारण में से तथा पशुपक्षियों के जीवन से लेते थे।

टिप्पणी

हड़प्पा संस्कृति के पतन के कारण

सिंधु घाटी की सभ्यता का नाश कैसे और कब हुआ, इस पर केवल ऐतिहासिक कल्पना और अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस सभ्यता के विनाश के निम्न कारण हो सकते हैं–

1– सिंधु नदी की बाढ़ में यह नगर प्लावित हो गया हो और फिर वायु के परिवर्तनों के कारण उसके भग्नावशेषों पर बालू और मिट्टी के स्तर जम गए हों। इस विशाल नगर का कुछ भाग तो बालू व मिट्टी से ढक कर समाप्त हो गया और शेष समय के प्रवाह में स्वयं ही समाप्त हो गया।

2– सिंधु नदी क्रमशः मोहनजोदड़ो नगर से दूर हटती गई जिससे वहां की भूमि अनुपजाऊ हो गई और नगर उजाड़ हो गए हों।

3– सिंध प्रदेश की वर्षा जो आजकल की अपेक्षा प्राचीनकाल में बहुत अधिक रही होगी संभवतः ई. पू. दूसरी सहस्राब्दि तक बहुत कम हो गई हो। इससे धीरे–धीरे सिंध का मैदान मरुभूमि में परिणत हो गया।

4– कुछ विद्वानों के उपलब्ध प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सिंधु घाटी सभ्यता के लोग शांतिप्रिय थे। युद्ध और आक्रमणों के प्रति वे उदासीन थे। ऐसी दशा में उनके वैभवशाली समृद्ध जीवन और अतुल संपत्ति ने बर्बर पहाड़ी जातियों और विदेशी आक्रमणकारियों को उन पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। फलतः मोहनजोदड़ो पर हमले किए गए, उसे लूटा गया और वहां के निवासियों को नृशंसता से मौत के घाट उतार दिया गया। अस्थिपंजरों के जो समूह वहां प्राप्त हुए हैं उनमें स्त्रियों तथा बालक–बालिकाओं के भी कंकाल हैं।

5– यह भी संभव है कि इस सभ्यता का विनाश किसी आक्रमणकारी जाति के निरंतर आक्रमणों द्वारा हुआ हो। शायद विजयी आर्यों या किसी अन्य जाति ने भारत के बाहर से इन पर निरंतर आक्रमण किए हों और इनकी सभ्यता को नष्ट कर दिया हो। यह बात अधिक संभव प्रतीत होती है कि सिंधु घाटी की सभ्यता अवनत हो गई हो और आर्यों के निरंतर आक्रमणों से वह विध्वंस हो गई हो। इतिहास में बार–बार होने वाली घटनाओं का यह एक दृष्टांत है कि अवनत और क्षय सभ्यता चाहे वह कितनी ही समृद्ध और प्रगतिशील रही हो, बर्बर आक्रमणों के थपेड़ों के आगे ठहर नहीं सकती। स्पष्ट है कि पशुपालन, कृषि प्रेमी, युद्ध प्रेमी, आर्यों ने धीरे–धीरे यहां के मूल शांतिप्रिय अनार्य निवासियों को परास्त कर दिया और उनकी सभ्यता को अपनी सभ्यता में एकीकृत कर दिया।

विभिन्न स्थानों पर की गई खुदाई में सात सतहें प्राप्त हुई हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि यहां की सभ्यता का विनाश कई बार हुआ और यहां के निवासियों ने कई बार उसका निर्माण किया। बार–बार ध्वस्त होने के पश्चात भी पुनः उन्हीं स्थानों पर नगरों का निर्माण करना प्रथम तो यह सिद्ध करता है कि यहां के निवासी रूढ़िवादी थे और दूसरे, विनाश में सिंधु नदी की बाढ़ें और उसके प्रवाह मार्ग में बारंबार परिवर्तन होना मूल कारण थे। विभिन्न मतों को दृष्टि में रखते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि प्रकृति तथा मनुष्य ने मिलकर ही इस सभ्यता का पूर्ण विनाश किया होगा।

टिप्पणी

1.3.3 प्राचीन एवं वैदिक युगीन अवस्थिति

भारत का इतिहास एक प्रकार से आर्य जाति का इतिहास है। आर्यों का इतिहास हमें मुख्यतः वेदों से ज्ञात होता है। सिंधु सभ्यता के पश्चात भारत में वैदिक संस्कृति पुष्पित एवं पल्लवित हुई। इस काल में वेदों की रचना हुई, इसी कारण इसे वैदिक युग कहा जाता है। वैदिक युग को दो भागों में विभक्त करते हैं–पहला ऋग्वैदिक युग (जिसमें ऋग्वेद की रचना हुई) तथा दूसरा उत्तरवैदिक युग (जिसमें अन्य तीनों वेदों की रचना हुई)।

वैदिक सभ्यता का सामान्य परिचय

सिंधु सभ्यता के पतन के पश्चात सप्तसिंधु प्रदेश में एक नई सभ्यता का विकास हुआ जो 'आर्य सभ्यता' के नाम से विख्यात है। इस सभ्यता को जानने का एकमात्र साधन हमारे प्राचीन एवं पवित्र वेद हैं इसलिए इसे 'वैदिक सभ्यता' भी कहा जाता है। वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति का भारतीय इतिहास में बहुत श्रेष्ठ स्थान है। आर्यों ने भारत में पहले से बस रही जातियों द्वारा विकसित सभ्यता और संस्कृति के उपयोगी तत्वों को अपनाकर अपनी संस्कृति के साथ उनका समन्वय करते हुए भारत की एक उन्नत सभ्यता और संस्कृति की परंपरा का विकास किया। वस्तुतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सुंदर स्वरूप मूलतः आर्यों के कठिन परिश्रम और साधना के फलस्वरूप ही बन पाया है।

आर्यों का मूल निवास स्थान

वैदिक सभ्यता और संस्कृति का निर्माण भारतीय आर्यों ने किया। इन आर्यों के मूल निवास स्थान का प्रश्न विवादास्पद है। इतिहास, भाषा–विज्ञान, नस्ल, पुरातत्व संबंधी खोजों आदि के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने भारत, मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव, तिब्बत, पामीर का पठार, जर्मनी, रूस आदि स्थानों को इन आर्यों का मूल निवास स्थान बताया है। आर्यों के मूल निवास स्थान के सिद्धांतों को निम्नांकित मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है–

(क) यूरोप–पश्चिमी देशों के विद्वानों का मत है कि आर्य मूलतः यूरोप के किसी भाग के निवासी थे। उनके इस मत के दो आधार हैं–(1) इंडो यूरोपीय भाषा परिवार के शब्द (2) यूरोपीय भाषा में भी लिथूनियन भाषा के शब्द अतः लिथूनिया या उसके आस पास का कोई क्षेत्र आर्यों का मूल स्थान रहा होगा। संस्कृत तथा यूरोपीय भाषाओं के विभिन्न शब्दों में समता स्थापित करने वाला प्रथम व्यक्ति इटली का व्यापारी फिलिप्पी सेसेटी था। वनस्पति भौगोलिक परिस्थितियों और नस्ल के आधार पर भी इस मत का समर्थन किया जाने लगा कि आर्यों का मूल स्थान यूरोप था, परंतु यह यूरोप का कौन–सा देश था? इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं हो पाया।

(ख) हंगरी अथवा डेन्यूब नदी की घाटी–डॉ. पी. गाइल्स का मानना है कि आर्यों का मूल स्थान हंगरी अथवा डेन्यूब नदी की घाटी रहा होगा। उनका मत भाषा तथा वृक्ष वनस्पति एवं पशु–पक्षियों के वर्णनों की समानता पर आधारित है। उनका मानना है कि ऋग्वेद के संकेतानुसार आर्यों का मूल स्थान पर्वतों, नदियों, तथा झीलों से घिरे हुए किसी शीतोष्ण कटिबंध रहा होगा जहां गेहूं

टिप्पणी

और जौ की खेती अधिक होती थी। आर्य लोग गाय, बैल, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, हिरन आदि से परिचित थे। उनके अनुसार हंगरी अथवा डेन्यूब क्षेत्र ही एक ऐसा प्रदेश है जिसमें उपयुक्त सभी विशेषताएं देखने में आती हैं परंतु मात्र इन्हीं आधारों पर हम आर्यों का यह क्षेत्र स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि उपर्युक्त विशेषता हंगरी के अतिरिक्त विश्व के अन्य देशों में भी पाई जाती है। गाइल्स ने वास्तव में अपने मत के प्रतिपादन में भाषा विज्ञान का तो आश्रय लिया है कितु इतिहास, पुरातत्व, मानव शरीर रचना विज्ञान एवं शब्दार्थ विकास विज्ञान की उपेक्षा की है, जिससे उनका मत सर्वथा एकाकी रह गया है।

(ग) **जर्मन क्षेत्र**—श्री पेन्का ने शारीरिक रचना के आधार पर आर्यों का मूल निवास स्थान जर्मन क्षेत्र स्वीकार किया है। परंतु दीर्घकालीन अंतर्जातीय रक्त सम्मिश्रण के बाद किसी भी मानव समुदाय के लिए अपनी मौलिक शारीरिक विशेषताओं को सुरक्षित रखना संभव नहीं प्रतीत होता। मात्र शरीर रचना के आधार पर किसी को किसी का वंशज कह देना उचित न होगा। हर्ट ने भाषा संबंधी आधार पर स्केण्डिनेविया को आर्यों का मूल निवास स्थान माना है। प्रस्तर उपकरणों के आधार पर मच ने बाल्टिक समुद्र तट को आर्यों का मूल स्थान बताया है, परंतु पुरातत्व की वस्तुएं अनेक देशों से प्राप्त हुई हैं जैसे दक्षिणी रूस, पोलैंड, एवं यूक्रेन। तब केवल बाल्टिक सागर और जर्मनी से प्राप्त वस्तुओं को ही क्यों विशेष महत्व दिया जाए।

(घ) **दक्षिणी रूस**—नेहरिग ने दक्षिण रूस के यूक्रेन क्षेत्र से प्राप्त मृदभांडों के आधार पर दक्षिण रूस को आर्यों का मूल स्थान माना है। कुछ विद्वानों ने आर्यों का मूल निवास स्थान दक्षिणी पूर्वी यूरोप माना है, क्योंकि भारोपीय तथा मध्य रूस की फिजो—उग्रीयन भाषाओं में समता दिखाई देती है जो यह संकेत देती है कि भारोपीयन तथा मध्य रूस की जाति में प्राचीन काल से ही ऐतिहासिक संपर्क था। प्रो. मैकडानेल का मत है कि बरगद, सफेदा, शीशम के वृक्ष तथा गाय एवं घोड़ा जिनसे आर्यों के पूर्वज परिचित थे उस समय दक्षिण पूर्वी यूरोप में ही पाए जाते थे।

(ङ) **मध्य एशिया**—भारतीय आर्यों का आदि ग्रंथ ऋग्वेद एवं ईरानी आर्यों का आदि ग्रंथ जेन्द अवेस्ता है। इसी समानता के आधार पर विद्वानों का मानना है कि आर्यों का मूल स्थान भारत तथा ईरान के आसपास मध्य एशिया में रहा होगा। प्राचीनतम आर्य जिन भौगोलिक दशाओं, वनस्पतियों तथा पशु—पक्षियों से परिचित थे, वे यूरोप के किसी भी क्षेत्र में एक साथ नहीं पाई जातीं जबकि एशिया के क्षेत्रों में ये सभी विशेषताएं एक साथ पाई जाती हैं। सर्वप्रथम जे. सी. रॉड ने 1820 में इस मत का प्रतिपादन किया कि प्राचीनतम आर्य मध्य एशिया में बैक्ट्रिया के मूल निवासी थे और वहीं से ही वे पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की ओर बसे थे। मध्य एशिया को आर्यों का मूल स्थान बताने वालों में सबसे प्रमुख मैक्समूलर हैं। मैक्समूलर ने मध्य एशिया को ही भारोपीय भाषा परिवार के आर्यों का आदि देश स्वीकार किया। उनके अनुसार, मध्य एशिया में दीर्घ काल तक एक साथ रहने के पश्चात उनकी इंडो ईरानी शाखा अलग हुई जो कुछ समय तक साथ रहकर दो भागों में विभक्त हो गई। उसका एक भाग पूर्वाभिमुख होकर भारत तथा दूसरा पश्चिमाभिमुख होकर ईरान चला गया।

टिप्पणी

आर्यों की दूसरी शाखा मध्य एशिया से ही पश्चिम एवं दक्षिण पश्चिम की ओर चलकर यूरोप के विभिन्न देशों में पहुंची।

यद्यपि विद्वानों का बड़ा समुदाय इस मत का पूर्णतया समर्थन करता है परंतु भाषा तथा दो ग्रंथों के वर्णनों की समानता एक जातीयता तो सिद्ध कर सकती है परंतु यह भिन्न–भिन्न प्रदेशों के निवासियों का मूल रूप में किसी एक स्थान पर रहना साबित करता है यह आवश्यक नहीं। इसीलिए यह मत अभी भी विवादपूर्ण बना हुआ है।

(च) उत्तरी ध्रुव–इस मत के समर्थक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे। उनके अनुसार, ऋग्वेद में वर्णित ज्योतिष तथा लंबी उषा और 6–6 माह के दिन–रात के आधार पर तिलक ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि ऐसी भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियां उत्तरी ध्रुव के प्रदेशों में ही पाई जाती हैं। उनके अनुसार, उत्तरी ध्रुव पर हिम प्रलय के कारण आर्यों को अपनी आदि भूमि छोड़कर ईरान और भारत में आकर बसना पड़ा। तिलक के अनुसार, हिम प्रलय के पूर्व उत्तरी ध्रुव की जलवायु उत्तम थी, और यह हरा–भरा एवं धन–धान्य से संपन्न प्रदेश था परंतु जब हिम प्रलय का प्रकोप हुआ तो जलवायु असह्य हो उठी और वहां के निवासी आर्यों को अपना देश छोड़कर पीछे हटना पड़ा, वे भारत तथा ईरान में बस गए। परंतु यह तर्क भी मान्य नहीं है क्योंकि उत्तरी ध्रुव के संबंध में ऋग्वेद में कोई विशेष वर्णन नहीं होने से यह मत उपयुक्त नहीं लगता।

(छ) भारत–भारतीय विद्वानों का मानना है कि आर्य बाहर से नहीं आए वरन वह भारत के मूल निवासी थे और यहीं से वह अन्य देशों में गए होंगे।

डॉ. अविनाशचंद्र दास ने सप्तसिंधु को आर्यों का आदि देश माना है। सप्तसैंधव प्रदेश से तात्पर्य उस प्रदेश से है जहां सिंधु, वितस्ता, अस्विनी, परुष्णी, विपासा, क्षुतुद्रि एवं सरस्वती ये सात नदियां अपनी उन सहायक नदियों के साथ प्रवाहित थीं जिनका उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। इन नदियों द्वारा सिचित भूखंड में आधुनिक पंजाब, राजस्थान का उत्तरी भूभाग, पाकिस्तान का पश्चिमोत्तर प्रदेश एवं अफगानिस्तान का पूर्वी भाग सम्मिलित था। अतः प्रारंभ से सभी आर्य सम्मिलित रूप से इस सप्तसैंधव प्रदेश में निवास करते थे। कालांतर में उनका एक वर्ग देवों का और दूसरा वर्ग असुरों का उपासक बन गया। धार्मिक मतभेद के परिणामस्वरूप देवासुर संग्राम हुआ। पं. गंगानाथ झा का मत है कि आर्यों का आदि देश भारत वर्ष का ब्रह्मर्षि देश था।

डॉ. संपूर्णानंद ने भी समस्त सप्तसैंधव प्रदेश को आर्यों का आदि देश माना है। राजबलि पांडेय ने मध्य देश को आर्यों का मूल स्थान बतलाया है। श्री एस.डी. कल्ला ने कश्मीर अथवा हिमाचल प्रदेश को आर्यों का मूल स्थान माना है। भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने के संबंध में भारतीय विद्वानों का पहला तर्क यह है कि ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थिति सप्तसैंधव प्रांत में मिलती–जुलती है और आर्यों की जानकारी इसी प्रदेश तक सीमित थी। दूसरा तर्क यह है कि यदि आर्य बाहर से भारत में आए थे तो उनके मूल स्थान अथवा रास्ते के किसी भी क्षेत्र में कोई न कोई ग्रंथ तो अवश्य मिलता। एक अन्य कारण यह भी है कि आर्यों की मूल भाषा संस्कृत के प्राचीन शब्द जितनी अधिक मात्रा में भारत की विभिन्न भाषाओं में पाए जाते हैं

उतने यूरोप तथा एशिया की किसी भाषा में नहीं पाए जाते। आर्य लोग सप्तसैंधव प्रदेश को ही अपनी जन्मभूमि मानते थे और इसीलिए इसके लिए देव निर्मित देश की संज्ञा का उपयोग किया।

टिप्पणी

उपर्युक्त तर्कों को अन्य देशों के विद्वान स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि यदि आर्य भारत के मूल निवासी होते तो वे देश के सभी भागों में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार करते, तत्पश्चात अन्य देशों की ओर जाते। इसके विपरीत, आर्यों को मध्य भारत, पूर्वी भारत तथा दक्षिणी भारत की जानकारी नहीं थी जबकि वे अफगानिस्तान और ईरान के बारे में अधिक जानकारी रखते थे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे बाहर से आए थे। दूसरी बात भाषा संबंधी है। आज भी भारत की कुछ भाषाएं अनार्य परिवार की हैं अर्थात प्राचीन काल में यहां अनार्य जातियों का मूल स्थान था।

आर्यों के मूल निवास स्थान के विषय में इस प्रकार विभिन्न विचारों और किसी एक स्थान के बारे में तुलनात्मक प्रमाणों के अभाव में अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया है कि वस्तुतः आर्य कहां के मूल निवासी थे। अधिकांश विद्वानों की एक बड़ी संख्या मध्य एशिया को आर्यों का मूल स्थान मानती है। साथ ही आधुनिक काल में भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने की विचारधारा जोर पकड़ती जा रही है, परंतु आज तक हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचे हैं।

वैदिक सभ्यता और समाज

ऋग्वेद से स्पष्ट होता है कि आर्यों का जीवन बहुत व्यवस्थित था। डॉ. स्मिथ ने लिखा है, ''ऋग्वेद अस्थायी रूप से निवास करने वाले एक जनसमूह, व्यवस्थित समाज और पूर्ण विकसित संस्कृति की ओर संकेत करता है।''

1– **परिवार**–समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई 'परिवार' थी। पितृसत्तात्मक परिवार था। संयुक्त परिवार प्रथा थी। परिवार का सबसे बड़ा व्यक्ति मुखिया होता था। पिता के पश्चात सबसे बड़ा पुत्र परिवार का प्रधान होता था। साधारणतः परिवार के सदस्यों में पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का अभाव न था और पारिवारिक बंधन दृढ़ परंतु पर्याप्त सुखकर था। परिवार के मुखिया के नाते परिवार के सभी सदस्यों के लालन–पालन, विवाह तथा उनकी उन्नति का ध्यान रखना मुखिया का प्रमुख कर्तव्य था। पारिवारिक धन–जन की रक्षा और वृद्धि आवश्यक भौतिक साधनों का संचय आध्यात्मिक उन्नति के लिए यज्ञ होमादि का संपादन तथा अतिथि सत्कार आदि पिता के पुनीत कार्य समझे जाते थे। संयुक्त परिवार प्रणाली के विकास में दो तत्वों का मुख्य योगदान रहा था–पहला, परिवार की संपत्ति तथा सदस्यों की सुरक्षा और दूसरा आजीविका के मुख्य साधनों–कृषि, पशुपालन तथा कुटीर उद्योग धंधों में अधिक श्रम की आवश्यकता को देखते हुए संतान गोद लेने की भी प्रथा थी। सामान्यतः भाई की संतान को ही प्राथमिकता दी जाती थी।

2– **स्त्रियों का स्थान**–यद्यपि पुरुष प्रधान समाज था परंतु स्त्रियों का स्थान अत्यंत उच्च था। वे पति की अर्द्धांगिनी एवं गृहस्वामिनी मानी जाती थीं। पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है, पत्नी ही आनंद है, जहां स्त्रियों का सम्मान होता है वहां देवताओं का निवास होता है आदि का प्रमाण हमें वेदों के अनेक मंत्रों में

टिप्पणी

मिलता है। स्त्रियां यज्ञ याजन तथा धार्मिक उत्सवों में स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेती थीं। वैदिक काल में पर्दा प्रथा नहीं थी। कन्याओं की शिक्षा का समुचित प्रबंध था परिणामस्वरूप ऋग्वैदिक काल में अपाला, घोषा, लोपामुद्रा, श्रद्धा आदि परम विदुषी स्त्रियां हुई थीं जिन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की थी। उपनिषदों में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो ज्ञान एवं विद्या के लिए प्रसिद्ध थीं। स्त्रियां युद्ध क्षेत्र तक भी जाती थीं। परंतु स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार न थे। वे कानून के सम्मुख समान न थी। वे पति अथवा पिता की संपत्ति की अधिकारी न थी। स्त्री के अधिकार एक पुत्री, एक बहन अथवा एक पत्नी के रूप में ही सीमित थे। परिवार में स्त्री का मुख्य कार्य घर का प्रबंध, बच्चों का लालन पालन तथा गृहस्थी के अन्य कामों के साथ–साथ ताना बुनना भी था।

3– **वर्ण व्यवस्था**–आर्यों में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति कब और कैसे हुई यह प्रश्न बहुत अधिक विवादास्पद है। ऋग्वेद के दसवें मंडल 'पुरुष सूक्त' में प्रथम बार यह उल्लेख किया गया कि ईश्वर ने आदि पुरुष के मुख से ब्राह्मण भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय) जांघों से विश (वैश्य) और चरणों में शूद्र को जन्म दिया। भारत में आर्यों के आगमन के साथ–साथ ही भारतीय समाज में दो वर्ग अस्तित्व में आ गए–एक था आर्य वर्ग और दूसरा अनार्य वर्ग। दोनों वर्ग रंग, शरीर रचना–संस्कृति, जाति और भाषा की दृष्टि से नितांत भिन्न थे। यद्यपि प्रारंभ में द्विज (आर्य) और अद्विज (अनार्य) थे, परंतु धीरे–धीरे वर्ण व्यवस्था आरंभ हुई। इस काल में वर्ण व्यवस्था कठोर न थी। व्यवसायों के आधार पर आर्यों में वर्ण–परिवर्तन संभव था। विवाह संबंधों और खान–पान में आर्यों में कोई बंधन न था।

4– **भोजन, वस्त्र, मकान एवं आभूषण**–आर्यों का मुख्य भोजन अन्न था जिसे वे 'यव' पुकारते थे। दूध और दूध से बनी हुई वस्तुएं जैसे घी, मट्ठा, मक्खन, दही आदि का प्रयोग करते थे। सब्जियों और फलों का भी प्रयोग किया जाता था। शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों भोजन प्रचलित थे। गाय का मांस नहीं खाया जाता था। पेय पदार्थों में सुरा और सोम मुख्य थे। सुरा शराब थी परंतु सोम किसी पौधे का रस था और उसका प्रयोग केवल उत्सवों और यज्ञों के अवसर पर ही किया जाता था। सदाचारी व्यक्तियों के लिए उसका प्रयोग वर्जित था।

स्त्री और पुरुष प्रायः समान प्रकार के वस्त्र पहनते थे। उनके मुख्य वस्त्र 'वास' और 'अधिवास' थे। वास कमर के नीचे पहना जाता था और 'अधिवास' कमर के ऊपर कंधे पर डालने वाला वस्त्र था। 'नीवी' स्त्रियों द्वारा पहने जाने वाला वस्त्र था। विवाह के अवसर पर वधु एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनती थी। जिसे 'वधूय' कहा जाता था। शाल या चादर को द्रापी तथा मृग चर्म को 'मरुत' कहते थे। संभवतः उन्हें ऊनी व सूती दोनों वस्त्रों का ज्ञान था। आर्य सभ्यता एक ग्रामीण सभ्यता थी। मकान साधारण होते थे और उनके निर्माण में मिट्टी तथा बांसों का प्रयोग किया जाता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही सोने और बहुमूल्य पत्थरों के आभूषणों का प्रयोग करते थे। कुंडल, अंगूठी, गले का हार, बाजूबंद आदि उनके विभिन्न आभूषण थे। वे फूलों के गजरों का भी प्रयोग करते थे। आर्यों के मनोरंजन के साधन नाचना, गाना, रथों की दौड़, जुआ खेलना और ड्रामा करना था। वे बांसुरी, वीणा और नगाड़े का प्रयोग जानते

टिप्पणी

थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही नाचते और गाते थे। शिकार खेलना राजवर्ग का एक प्रमुख मनोरंजन था।

5– **शिक्षा**–आर्यों में उपनयन प्रथा (शिक्षा के प्रारंभ में दीक्षा लेना) आरंभ नहीं हुई थी। यद्यपि यह प्रथा किसी न किसी रूप में प्रचलित रही होगी। पिता ही बच्चों को घर में शिक्षा देता था। उसके पश्चात विद्यार्थी गुरु के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा संभवतः मौखिक ही प्रदान की जाती थी। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य बुद्धि का विकास और चरित्र निर्माण था।

आवासीय ढांचा एवं जाति व्यवस्था

ऋग्वैदिक काल में राजनीतिक और सामाजिक संगठन का आधार परिवार था। परिवार के सभी सदस्य एक ही घर में रहते थे। इस युग में घरों का निर्माण लकड़ी या नरकट से होता था। प्रत्येक घर में एक बैठक और स्त्रियों के लिए कमरों के अतिरिक्त एक अग्निशाला होती थी। हजार खंभों के ऊपर हजार दरवाजे वाले घरों का उल्लेख मिलता है। इस काल में भवन निर्माण कला में कुछ उन्नति हुई थी।

वैदिक कुलों या परिवारों को बड़े–बड़े दलों में विभक्त किया गया था, जिनके निर्माण में वर्ण (रंग) और साजात्य (संबंध) बहुत महत्व रखते थे। प्रारंभिक काल से ही आक्रमणकारी श्वेत आर्य अपने काले विरोधियों से अलग रहते थे, जो कि दास, दस्यु या शूद्र कहे जाते थे। आर्य परिवार में भी राज–परिवार के लोग (राजन्य या क्षत्र) और पुरोहितों के वंशज (ब्राह्मण) साधारण स्वतंत्र जनता से भिन्न थे। समाज के चतुर्विभाजन का उल्लेख पहले के कुछ मंत्रों में है, किंतु इसका नियमित रूप से ज्ञान पुरुषसूक्त में होता है। यह वर्तमान विभागों की व्याख्या इस सिद्धांत के द्वारा करता है–

जब उन्होंने आदि पुरुष को विभाजित किया, तब ब्राह्मण उसका मुख था, राजन्य उसकी भुजा था, वैश्य उसकी जांघ हुआ और उसके पैरों से शूद्र निकले।

यहां पर उल्लिखित सामाजिक विभाजन दूसरी भारत–यूरोपीय जातियों से समता रखता है। परंतु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ऋग्वेद के मंत्रों में जाति–प्रथा की परिपक्वावस्था के कठोर नियंत्रणों का अभाव पाया जाता है। अंतर्जातीय विवाह, व्यवसाय–परिवर्तन और सहभोग पर शायद ही कोई नियंत्रण था। ब्राह्मणों तथा राजन्य महिलाओं और आर्यों तथा शूद्रों के बीच वैवाहिक संबंध के ही उदाहरण मिले हैं। परिवार किसी विशेष व्यवसाय से जकड़ा हुआ नहीं रहता था। एक लेखक कहता है कि मैं एक कवि हूं, मेरे पिता एक चिकित्सक और मेरी माता आटा पीसने वाली हैं। अलग–अलग विचारों के साथ लाभ के लिए प्रयत्न करते हुए हम दौड़ते हैं, जैसे हम चौपायों के पीछे जाते हैं। शूद्रों के बनाए हुए भोजन के खाने पर कोई प्रतिबंध नहीं था और इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि नीच जाति के स्पर्श या संसर्ग से अपवित्रता फैलती थी।

आधुनिक लेखकों के मतानुसार व्यवसाय, सहभोज आदि संबंधी दृढ़ प्रतिबंधों की उत्पत्ति आर्यों से नहीं है, परंतु यह द्राविड़ों के पूर्व के भारत के टोटेम–प्रधान ओंसट्रेल्वायड् जाति के पूर्वजों और ऑस्ट्रो–एशियाई लोगों से है, जो विलक्षण कलाबाजियों और निषिद्ध भोजन के जादूपूर्ण प्रभावों से भयभीत होते थे। इस प्रकार के साधन पारस्परिक विवाह के अवसर पर भी निषेध का पता देते हैं। आर्य आक्रमणकारी ने वर्ण और विवाह–संबंधी अपनी भावनाओं को अधिक ठोस बनाया और उस पद्धति

को स्थायी बनाया, जो पहले से वर्तमान थी और जो जादू–टोने में विश्वास से उत्पन्न अवरोधों पर अवलंबित थी। भौगोलिक, आर्थिक तथा धार्मिक बातों का भी बाद के विकास में हाथ रहा।

टिप्पणी

आगे चलकर तीन उच्च जातियों में प्रत्येक के सदस्य को, जो एक आदर्श जीवन बिताना चाहता था, चार आश्रमों के कठिन नियमों का पालन करना पड़ता था। सर्वप्रथम उसे ब्रह्मचारी, उसके बाद गृहस्थ फिर वानप्रस्थ और अंत में संन्यासी बनना पड़ता था। आश्रम की प्रथा के बीज वेद के मंत्रों में मिलते हैं। गृहपति के अतिरिक्त हमें ब्रह्मचारी और मुनि का भी उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचारी आत्मनिरोध का अभ्यास करते थे और धार्मिक साहित्य का अध्ययन करते थे। आचार्य ग्रंथों को पढ़ते थे और शिष्य उनके बाद उन्हें दुहराते थे, जिस प्रकार मेढक एक–के–बाद–दूसरे बोलते हैं। मुनियों के वर्णन में उन्हें फ्लंबे बाल वाले कहा गया है, उनमें से कुछ नग्न थे और दूसरे भूरे रंग की मटियाली पोशाक पहनते थे तथा परिव्राजक का जीवन व्यतीत करते थे।

वैदिक सभ्यता और अर्थव्यवस्था

वैदिक काल के लोगों की आजीविका के मुख्य साधन थे–कृषि, पशुपालन, घरेलू उद्योग धंधे और व्यापार वाणिज्य। वैदिक सभ्यता ग्राम सभ्यता थी अतः उसका आर्थिक जीवन मुख्यतया कृषि और पशुपालन पर आधारित था।

वैदिक काल में आर्य जौ, धान, गेहूं, ब्रीहि, तिल, उड़द, मसूर, चना आदि की खेती करते थे जो कि हल और बैल की सहायता से की जाती थी। कृषि वर्षा पर निर्भर थी। कृषि के समान पशुपालन भी आर्यों का मुख्य व्यवसाय था। गाय को प्रमुख संपत्ति माना जाता था। गाय मूल्यांकन और विनिमय दोनों का साधन थी। इसके अतिरिक्त भेड़, बकरी, घोड़ा, कुत्ता और गधा भी पालतू पशु थे। पशुओं के रहने के लिए बड़े–बड़े बाड़े बनते थे और हर प्रकार से उनकी सुरक्षा की जाती थी। आर्यों का एक अन्य व्यवसाय शिकार करना था। वे पक्षियों को पकड़ने हेतु गड्ढा खोदते थे।

वैदिक आर्यों का अपना समाज तीन वर्गों में–ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य में विभाजित था। ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग का मुख्य कार्य यज्ञों में पौरोहित्य करना, वेदों की ऋचाओं को कंठस्थ रखना तथा अध्ययन–अध्यापन द्वारा ऋचाओं एवं ज्ञान की परंपरा को सुरक्षित रखना था।

दूसरा वर्ग क्षत्रियों का था जिनका प्रमुख व्यवसाय युद्ध था। वैश्यों का तृतीय वर्ग कृषि और पशुपालन के साथ अनेक प्रकार के उद्योग धंधे भी करता था। शूद्र वर्ग सेवा कार्य से संबंधित था। शूद्रों को छोड़कर शेष तीनों वर्गों के उद्यम जन्मजात या वंशानुगत नहीं थे और वे दूसरे वर्ग का व्यवसाय अपना सकते थे।

आर्य लोग धातु कला में दक्ष थे। उन्हें सोना, चांदी, अयस्क, लोहा, तांबा, टीन, सीसा आदि धातुओं का ज्ञान था। वैदिक काल में वस्त्र उद्योग भी काफी उन्नत था। ये लोग सूत कातना और कपड़ा बुनना जानते थे। चर्मकार का धंधा व्यापक रूप से प्रचलित था।

वैदिक युग में विदेशी व्यापार और आंतरिक व्यापार दोनों ही उन्नत अवस्था में थे।

डॉ. मजूमदार व आप्टे का विचार है कि आर्य समुद्री यात्राएं करते थे और उनका व्यापार बेबीलोन तथा पश्चिमी एशिया के देशों से होता था। आंतरिक व्यापार

नदियों और स्थल मार्गों से होता था। गाय को मूल्य की इकाई मानकर विनिमय का काम चलाया जाता था।

टिप्पणी

भंडारकर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस युग में निष्क, कृप्पल, सुवर्ण, शतमान माशक और कार्षापन पृथक–पृथक मूल्य की मुद्राएं अथवा तोल के धातु खंड थे जिनके माध्यम से वस्तुओं का क्रय–विक्रय किया जाता था। वैदिक युग में ऋण देने एवं लेने की प्रथा थी परंतु किन शर्तों एवं ब्याज पर दिया जाता था, इसकी जानकारी नहीं मिलती। राज्य के कर पशु तथा धान्य दोनों रूप में ही लिए जा सकते थे। वैदिक युग में आंतरिक व्यापार भी काफी उन्नत था। बड़े–बड़े नगरों में कई लोग नियमित रूप से वस्तुओं का क्रय–विक्रय करते थे।

वैदिक सभ्यता और राजनीति

इस समय के आर्य विभिन्न कबीलों अथवा जनों में विभाजित थे। ये विभिन्न 'जन' आपस में लड़ते–झगड़ते थे और अनार्यों से भी उनके युद्ध होते थे। ऋग्वेद में 'दस राजाओं के युद्ध' का वर्णन है यद्यपि इस युद्ध में तीस राजाओं ने भाग लिया था। भरत–वंश के शासक सुदास ने विश्वामित्र के स्थान पर वशिष्ठ को अपना पुरोहित बनाया और यही इस युद्ध का कारण बना। डॉ. डी.डी. कोसाम्बी के अनुसार युद्ध का कारण दस राजाओं के समूह के द्वारा पुरुष्णी (वर्तमान रावी नदी) नदी के जल–प्रवाह को बदलने का प्रयत्न था। विश्वामित्र ने पुरु–वंश के नेतृत्व में दस राजाओं का एक संघ बनाया। आर्यों में से अनुस, द्रुह, यदु और तुर्वसु वंशों ने पुरु–वंश का साथ दिया। उनके साथ अन्य अनार्य शासक भी थे। अलिन, पक्थ, भलान, शिव और विशाणिन वंशों ने भरत–वंश का साथ दिया। रावी–तट पर हुए इन दो विरोधी दलों के युद्ध में सुदास की विजय हुई। सुदास का एक महत्वपूर्ण युद्ध पूर्व के अनार्यों से भी हुआ जिसमें उसने राजा भेद के नेतृत्व में संगठित अजस, शिग्रु और यक्ष जातियों को यमुना–तट पर पराजित किया। यह युद्ध सिद्ध करते हैं कि इस काल में आर्यों के विभिन्न वर्गों में आपस में तथा आर्यों एवं अनार्यों में युद्ध चलते रहे थे।

आर्यों के मुख्य शत्रु भारत के प्राचीन निवासी अनार्य थे। उनमें मुख्यतया द्रविड़ थे परंतु आग्नेय तथा अन्य जातियां भी उनमें सम्मिलित थीं। आर्य उन्हें दस्यु, दास, असुर, राक्षस आदि नामों से पुकारते थे। ऋग्वेद में उन सभी को विभिन्न अन्य नामों से भी पुकारा गया है। वे सभी आर्यों तथा उनके देवताओं के शत्रु माने जाते थे। उन अनार्यों से आर्यों का भीषण संघर्ष हुआ। ऋग्वेद में उनके दुर्गों और पुरों को नष्ट करने के लिए निरंतर देवताओं की स्तुतियां की गईं हैं। इंद्र को मुख्यतया उनके पुरों और दुर्गों को नष्ट करने वाला पुकारा गया है। अंत में इस संघर्ष में आर्यों की विजय हुई। रथ और उनमें घोड़ों का प्रयोग तथा तीक्ष्ण धार वाले हथियार आर्यों की विजय के मुख्य कारण थे। बहुत से अनार्य दास बना लिए गए, बहुत से दक्षिण–भारत चले गए और बहुत से पहाड़ों अथवा जंगलों में चले गए।

लौह युगीन संस्कृति

ऐसा माना जाता है कि पूर्व वैदिक काल में आर्यों को लोहे का ज्ञान नहीं था परंतु उत्तर वैदिक काल में आर्यों को लोहे का ज्ञान हो गया था। भारत में लोहे का ज्ञान 1000 ई.पू. हो गया था। परंतु नवीनतम पुरातात्विक खोजों से यह जानकारी प्राप्त होती है कि हड़प्पा सभ्यता नष्ट हो जाने पर भी भारत के आंतरिक भागों में ग्राम्य सभ्यताएं

विभिन्न स्थानों पर विकसित हो रही थी एवं इन सभ्यता के निवासियों को लोहे का ज्ञान था। भारत लौह तकनीकी यंत्र का एक पृथक आरंभिक केंद्र था। एक अन्य तथ्य भी उल्लेखनीय है कि थाईलैंड में बानैची स्थल पर स्तरीकृत संदर्भों में ईसा पूर्व 1600 और 1200 के बीच ढला हुआ लोहा मिला है जिससे लौह प्रौद्योगिकी के एकात्मक उद्‌गम के सिद्धांत को सदा के लिए समाप्त कर दिया गया। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिमी भाग, बलूचिस्तान और स्वात में जिस स्तर पर लोहा मिला है वह भीतरी भारत में लोहा मिलने के बाद का स्तर है। अतः स्पष्ट है कि ताम्र पाषाण युग के समाप्त होने तक भारत के प्रायः सभी भागों में भारतीयों ने ग्राम सभ्यता का निर्माण कर लिया व लोहे का ज्ञान भी स्वयं प्राप्त किया। लौहयुक्त सभ्यताओं के कुछ स्थान पर प्राप्त प्रमाणों से यह स्पष्ट यह होता है।

लौह प्रयोक्ता संस्कृतियां

1– चित्रित धूसर भांड संस्कृति– इसका मुख्य क्षेत्र सिंधु गंगा विभाजक तथा ऊपरी गंगा घाटी है। यह राजस्थान के घग्गर मार्ग के निकट था जो सिंधु–गंगा विभाजन की दक्षिणी सीमा का सूचक था। उत्खनित लौह युक्त स्तर अहिछत्र आलमगीरपुर, अल्लाहपुर, अंतरजीखेड़ा, हस्तिनापुर, खालौआ, मथुरा, रोपड़, सरदारगढ़, श्रावस्ती नोह, कम्पिल, जखेड़ा में मिले हैं। नैदानिक मृद्‌भांड महीन चूर्ण से बने धूसर भांड हैं। (ये चाक निर्मित भांड हैं जिनमें अधिकांश प्याले और तश्तरियां हैं) इन पर काले रंग से स्वास्तिक और सर्पिल जैसी ज्यामितीय आकृतियां चित्रित की गई हैं। इनसे जुड़े हुए बर्तन थे लाल भांड (साधारणतः सादे), सादे धूसर भांड, काले–काले भांड और काले पुते भांड। निर्माण के अवशेष नरकुल एवं लेप के थे और निर्वाह अर्थव्यवस्था चावल (संभवतः गेहूं और जौ के अतिरिक्त जो कि अंतरजीखेड़ा में पहले के स्तर पर मिलते हैं), घरेलू मवेशी, भेड़, भैंस और सुअर पर आधारित थी।

2– मध्य भारत (मालवा) की लौह प्रस्तोता संस्कृति–इस क्षेत्र के विषय में अत्यंत अल्प जानकारी प्राप्त होती है परंतु इतना निश्चित है कि लोहा यहां उपस्थित था। मुख्य स्थल नागदा व एरण हैं परंतु रिपोर्ट अभी प्रकाशित न होने से एरण के संबंध में इतना ही ज्ञात है कि यह पुराने ताम्र पाषाण युगीन तत्वों का विस्तार थी जिसमें लोहा जुड़ गया और काले लाल भांड खूब प्रचलित थे। घर कच्ची ईंटों के थे तथा पत्थर की वस्तुओं में सान के पत्थर, मूसल, गदाशीर्ष, गोफन पत्थर हथौड़ा आदि इस स्थान पर थी। कांच की चूड़ियां, पक्की मिट्टी के तकुआ, चक्री करघे आदि मिले हैं। लोहे की प्रमुख वस्तुएं दुधारी छुरी, कुल्हाड़ी का खोल, चम्मच, चौड़े फलक वाली कुल्हाड़ी, अंगूठी, कील, चाकू, दरांती आदि प्राप्त हुई है। दक्षिण पूर्व राजस्थान में मालवा के निकट अहाड़ नामक स्थान पर लोहा प्रथम काल खंड के द्वितीय चरण में प्राप्त पुराने स्तर का मिलता है। अतः यह स्वीकारना होगा कि प्रथम काल खंड के प्रथम चरण के बाद अहाड़ में ताम्र पाषाण युगीन संस्कृति लौह युग की संस्कृति बन गई थी।

3– मध्य निम्न गंगा घाटी (पूर्वी भारत) की लौह प्रस्तोता संस्कृतियां–पूर्वी भारत का पांडु, शजार, ढीबी, महिस्दाल, चिरंद, सोनपुर जो ताम्र पाषाण संस्कृति में आते थे इनमें लोहा और जुड़ गया था।

टिप्पणी

4– हल्लूर तथा दक्षिण के अन्य स्थानों पर महापाषाण युगीन संदर्भ में लोहा– महापाषाण युगीन स्तर के प्रारंभ में जिसे हल्लूर स्थल पर नव पाषाण युगीन और महापाषाण युगीन चरणों के बीच की संक्रांति काल कहा गया है, तीरों और भालों के लोहे के सिरे मिले हैं। महापाषाणों में लोहे की प्रचुरता थी।

बृहत्पाषाणिक समाधियां–ताम्र युग व लौह युग के मध्य के युग को संक्रांति काल कहा जाता है जिसे मेगालिथिक नाम दिया गया। यूनानी भाषा में मेगालिथिक का अर्थ विशाल पाषाण होता है। दक्षिण भारत में विशाल पाषाण खंडों द्वारा निर्मित समाधियां प्राप्त हुई हैं जिसे मेगालिथ कहा जाता है। यह मेगालिथ दक्षिण भारत में अधिक है, परंतु मध्य प्रदेश, उड़ीसा, असम, बिहार, राजस्थान, गुजरात, कश्मीर आदि प्रदेशों में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। मेगालिथ कांसे, तांबे, पत्थर, लोहे आदि की मिलती है। यह अनेक प्रकार की मिलती है। जैसे–सिस्ट समाधि, पिट सर्किल, कैर्न सर्किल, डोल्मेन, अंब्रेला, स्टोन, हुड स्टोन, कंदराएं, मेहिर आदि। मेगालिथ की उपलब्ध सामग्री ई.पू. तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी तक प्राप्त हुई है। संभवतः इसका समय ई.पू. तीसरी सदी से ईसा की प्रथम शताब्दी का होगा।

पेंटेड ग्रे वेयर संस्कृति

प्राकृतिक मिट्टी के ऊपर घर बनाने वाले ये लोग लगभग 1400 ईसा पूर्व में एक छोटे से इलाके में बस गए। ये लोग 'ओकर कलर्ड पौटरी' नामक एक विशेष किस्म के मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करते थे। इस कालखंड से घरों के ढांचे नहीं मिले हैं। शायद निचले स्तर पर सीमित खुदाई के चलते ऐसा हुआ हो। इस काल के अंत में यह बस्ती उजड़ गई।

लगभग 1100 ई.पू. में यहां पर फिर से लोग बसे। इस काल के लोगों की सबसे महत्वपूर्ण पहचान पेंटेड ग्रे वेयर (क्रज, चित्रित धूसर मृद्भांड) नामक मिट्टी के बर्तन थे। चिकनी मिट्टी से बने ये पतले बर्तन ज्यादातर धूसर रंग के होते थे। ऐसे बर्तन सबसे ज्यादा कटोरे और थाली के आकार के होते हैं।

इस काल में लोग मिट्टी और कच्ची ईंटों के मकान बनाते थे। मिट्टी के टुकड़ों पर बांस की छाप से ऐसा लगता है कि लोग लकड़ी का ढांचा बनाकर उस पर मिट्टी की पुताई करते थे। इस काल में हस्तिनापुर के वासी तांबे के औजारों का प्रयोग करते थे। तांबे के तीर–शीर्ष तथा अन्य औजार पाए गए हैं। लोहे का कोई औजार नहीं मिला है। केवल इस काल की ऊपरी परतों में लोहा गलाने से बनने वाले स्लैग मिलते हैं। ऐसा लगता है कि वे लोग पत्थर के बांटों का प्रयोग करते थे। कांच की चूड़ियां तथा मिट्टी की लघु–मूर्तियां भी पाई गई हैं। इस काल के अन्य छोटे–मोटे समान हैं– अगेट, सूर्यकांत मणि और कॉर्नेलियन जैसे पत्थरों से बने मनके और हड्डियों के उपकरण।

खुदाई में चावल के जले हुए दाने भी पाए गए हैं। जानवरों की हड्डियों के पाए जाने के विषय में पुराविद् लिखते हैं– यहां पर पाए गए जानवरों की हड्डियों के अवशेषों से उस युग की अर्थव्यवस्था एवं भोज्य पदार्थों का अंदाज लगता है। कूबड़दार गाय–बैलों, भैंसों, भेड़ों और सूअरों की जली हुई हड्डियां जिन पर काटे जाने के स्पष्ट निशान हैं, प्रमाणित करते हैं कि इन्हें भोजन के लिए मारा गया था। ध्यान देने की

बात है कि गोमांस का प्रयोग बाद के युगों में प्रचलित नहीं रहा या उसे हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

टिप्पणी

गाय–बैल और भैंसों की हड्डियां बड़ी संख्या में मिलने से यह स्पष्ट है कि गौपालन एक महत्वपूर्ण पेशा रहा होगा। लेकिन यह समाज कृषि पर ही आधारित था। लोग हिरण का भी शिकार करते थे। उनके सींग से बनी कई चीजें पाई गई हैं। घोड़ों के कंकाल का पाया जाना एक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि हम जानते हैं कि हड़प्पा सभ्यता के लोग घोड़े से परिचित नहीं थे। लिखित स्रोत बताते हैं कि घोड़ा आर्यों के दैनिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग था। यदि हम चित्रित धूसर मृद्भांड के युग को प्रारंभिक आर्यों से जोड़ें तो घोड़ों के कंकाल एक महत्वपूर्ण खोज बन जाते हैं। चूंकि खुदाई कुछ टीलों के छोटे से हिस्से में हुई, इसलिए संभव है कि भविष्य में और भी कई चीजें मिलें। इस कालखंड की तिथि 1100 ई.पू. से 800 ई.पू. तक है। इस युग का अंत एक भयानक बाढ़ से हुआ जिसके चलते यह जगह निर्जन हो गई।

नॉर्दर्न ब्लैक पॉलिश्ड वेयर संस्कृति

धूसर मृद्भांड का प्रयोग करने वाले लोगों के चले जाने के बाद एक बार फिर हस्तिनापुर में लोग बसे। वे एक खास किस्म के मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करते थे जिसे नॉर्दर्न ब्लैक पॉलिशड वेयर (उत्तरी काले चमकीले मृद्भांड) के नाम से जाना जाता है। इस काल में पक्की ईंटों के मकान बनाए जाते थे। नालियों की व्यवस्था, वलय कूपों का होना, इस युग में योजनाबद्ध आवास व्यवस्था को दर्शाता है। इस काल में लोहे का प्रयोग होने लगा। पहली बार सिक्कों का भी प्रयोग हुआ। मिट्टी की लघु मूर्तियां बड़े कलात्मक ढंग से बनाई जाने लगीं। बड़ी संख्या में कीमती पत्थरों का भी प्रयोग होने लगा। इस कालखंड के अंत में भयानक आग से पूरी बस्ती जल गई। इस संस्कृति का काल ई.पू. छठी सदी से ई.पू. तीसरी सदी तक निर्धारित किया गया है।

लोग फिर से हस्तिनापुर में बसने लगे। इस काल के सभी घर पक्की ईंटों के बने थे। ग्यारहवीं सदी में यह जगह फिर से बसी। चित्रित धूसर मृद्भांड– हस्तिनापुर, अहिछत्र, तिलपत, पानीपत आदि स्थानों से तश्तरियों और प्यालों के रूप में चित्रित धूसर भांड के रूप में पाए जाते हैं। संभवतः इन उच्च श्रेणी के बर्तनों का उपयोग विशेष अवसरों पर किया जाता था। श्री बी.बी. लाल ने हस्तिनापुर के अलावा अहिक्षत्र, कंपिल, मथुरा, बागपत, बरनावा, कुरुक्षेत्र, पानीपत, तिलपत और इंद्रप्रस्थ जैसी जगहों में भी छोटी खुदाइयां की। इनमें से कई जगहें महाभारत में महत्वपूर्ण हैं। इन सब जगहों पर चित्रित धूसर मृद्भांड से जुड़ी संस्कृति के अवशेष पाए गए हैं। इस आधार पर श्री लाल ने यह माना कि महाभारत कालीन समाज और चित्रित धूसर मृद्भांड की संस्कृति एक है। हस्तिनापुर में भयानक बाढ़ आने से पेंटेड ग्रे वेयर संस्कृति नष्ट हो गई। महाभारत में भी राजा निचक्षु के जमाने में हस्तिनापुर में बाढ़ की कथा आती है और यह बताया जाता है कि इसके बाद उन्होंने अपनी राजधानी हस्तिनापुर त्याग कर कोशांबी में बना ली। कोशांबी में भी शुरुआती दौर में चित्रित धूसर मृद्भांड पाए गए हैं। श्री बी.बी. लाल ने यह भी बताया कि आधुनिक घग्घर और सरसुति के किनारे भी पेंटेड ग्रे वेयर प्रयोग करने वाली संस्कृतियों के अवशेष मिले हैं। ये नदियां ही प्राचीन काल में सरस्वती नदी के नाम से जानी जाती थीं।

वेदों के अध्ययन से यह पता चलता है कि सरस्वती नदी के आसपास के इलाके प्रारंभिक आर्य संस्कृति के केंद्र थे। बाद में इस संस्कृति का केंद्र हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आ गया।

टिप्पणी

श्री बी.बी. लाल चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति को महाभारत काल से जोड़ते हैं। इसके निम्न कारण हैं– पिछले 50 वर्षों में गंगा घाटी में काफी जगह खुदाई हुई है यह माना जाता है कि यह हड़प्पा सभ्यता के अंत के बाद सिंधु नदी के पूर्व में फैली। यह एक ग्रामीण समाज था जो खेती और पशुपालन पर आधारित था। वे लोग तांबे की सामग्री बनाते थे मगर लोहे से अनभिज्ञ थे। काल के अंत में काले व लाल भांड बनाने वाले लोग प्रभावी हुए। इनका समय 1100 से 900 ई.पू. बताया गया है। इस काल के अंत में इन काले–लाल भांड के साथ–साथ एक नई तरह के मृद्भांड बनने लगे थे जिसे हम चित्रित धूसर भांड कहते हैं।

चित्रित धूसर मृद्भांड का कालखंड लगभग 900 से 500 ई.पू. निर्धारित किया गया है। इस काल की खासियत है कि इसमें लोहे के अस्त्रों का उपयोग काफी फैल गया था। यह भारत में लौह–काल की शुरुआत है। इस संस्कृति का प्रभाव–क्षेत्र पूर्व में इलाहाबाद तथा पश्चिम में हरियाणा प्रांत तक फैला था। यह काल लगभग 500 ई.पू. में शुरू हुआ और 100 ई.पू. तक रहा। यह विकसित शहरी समाज का काल था जो पूरे उत्तर भारत में एक सांस्कृतिक एकरूपता का काल है।

श्री बी.बी. लाल ने चित्रित धूसर मृद्भांड के उपयोग वाले काल को महाभारत युग से जोड़ा है। इस संस्कृति का केंद्रीय क्षेत्र भी कुरु–पांचाल क्षेत्र ही था। चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति के लोग छोटे–छोटे मिट्टी के मकानों में रहते थे। ज्यादातर लोग खेती या पशुपालन करते थे। न पक्के ईंट के मकान, न सिक्के, न महल, न शहर, न शिल्पकार, न बड़े व्यापारी। हस्तिनापुर में पक्के ईंट के भवन बने, सिक्कों का प्रचलन भी हुआ, विविध शिल्पकार भी हुए, व्यापारी हुए, लेकिन यह सब बाद के एनबीपी काल में जो कि मौर्यों के काल से मेल खाता था से संबंधित थे। हस्तिनापुर में महाभारत युग के अवशेष पाए गए हैं। पुरातत्व की दृष्टि से ई.पू. तीसरी सदी से पहले का काल अनाम लोगों का काल है। श्री बी.बी. लाल की खुदाई से हस्तिनापुर जैसी जगहों पर ई.पू. 1400 से लेकर मध्यकाल तक रहने वाले लोगों की जीवन पद्धति का पता चलता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. हमारी पृथ्वी की व्युत्पत्ति कब मानी जाती है?

(क) वैदिक काल में (ख) 4–5 अरब वर्ष

(ग) 3–4 अरब अरब वर्ष पूर्व (घ) इनमें से कोई नहीं

4. आर्य संस्कृति का संबंध किस समय से है?

(क) वैदिक युग (ख) महाभारत काल

(ग) बौद्ध काल (घ) मुगलकाल

टिप्पणी

1.4 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिकता को निम्नांकित बिंदुओं के तहत समझा जा सकता हैः

1.4.1 महाजनपदों का अभ्युदय एवं विविध वंशों की व्यवस्था

उत्तरवैदिक काल के पश्चात भारत अनेक गणराज्यों में विभक्त था। धीरे–धीरे इन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार किया और सीमाओं का भी विस्तार हुआ। अतः जनपदों ने महाजनपदों का रूप ले लिया। इसी समय धार्मिक क्रांति का भी युग था। जैन व बौद्ध धर्म ने भारतीय धर्म में एक क्रांति–सी ला दी थी। मगध राज्य का उत्थान हुआ और इसने अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया था। भारतीय इतिहास में महाकाव्य काल से ईसा पूर्व छठी शताब्दी के बीच का दीर्घकाल विभिन्न घटनाओं से परिपूर्ण है। इन घटनाओं और इस काल के राजवंशों का स्पष्ट ऐतिहासिक वर्णन यत्र–तत्र उपलब्ध है, इसीलिए महाभारत काल से लेकर गौतम बुद्ध के आविर्भाव के समय का राजनीतिक इतिहास श्रृंखलाबद्ध नहीं किया जा सका। इस दीर्घकाल का क्रमबद्ध इतिहास लिखने में प्रचुर सामग्री का अभाव सबसे बड़ी समस्या है। पुराणों तथा बौद्ध और जैन धर्म के ग्रंथों में इस दीर्घकाल की अनेक घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है, परंतु इनमें इतिहास, धर्म, परंपराएं, अनुश्रुतियों, देवी–देवताओं की गाथाएं और कल्पित कथाएं इतनी अधिक घुल–मिल गई हैं कि उनमें ऐतिहासिक तत्वों को पृथक कर उन्हें श्रृंखलाबद्ध करना अत्यंत दुष्कर कार्य है।

महाजनपद

आर्यों के वैदिक युग में किसी एक महान पूर्वज से उत्पन्न हुई संतान और उसके वंशज विभिन्न परिवारों में रहते थे। इन्हीं परिवारों के समूह को 'जन' कहते थे। उत्तर वैदिक काल तक आर्यों की राजनीतिक व्यवस्था का आधार जन था। ऋग्वेद में वर्णित है कि आर्य अनेक जनों में विभक्त थे। एक ही जाति पुरुष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बों के समुदाय को जनों कहा जाता था। प्रारंभ में इन जनों का कोई अपना निश्चित स्थान नहीं था कालांतर में उनके स्थायी राज्य स्थापित हुए। ये स्थायी राज्य ही जनपद कहलाए ऋग्वेद और वैदिक संहिताओं में जन शब्द का ही उल्लेख मिलता है जनपद का नहीं। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि लगभग एक सहस्र ईसवी पूर्व से पांच सौ ईसवी पूर्व तक का काल में अनेक जनपदों का प्रादुर्भाव हुआ। एक प्रकार से जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवन की इकाई बन गए। प्रत्येक जनपद अनेक ग्रामों और नगरों से मिलकर बना था जिसकी अपनी अलग राजनीतिक व्यवस्था थी, अलग शासन था। कालांतर में विकसित जनपद जातीय इकाई की अपेक्षा एक राजनीतिक इकाई के रूप में विकसित हो गया था। आवागमन अधिक सुलभ हो गया, लोगों में सांस्कृतिक आदान–प्रदान हुआ। अनेक वर्गों और जातियों के लोग जनपद राज्यों में जाकर स्थायी रूप से रहने लगे। गांवों और नगरों की संख्या में वृद्धि हुई। इस प्रकार प्रत्येक जनपद का विस्तार हो गया। सीमा विस्तार की भावना और पारस्परिक युद्धों से भी जनपद अपेक्षाकृत विस्तृत हो गया। छोटे जनपद महाजनपद बन गए। ये महाजनपद स्वतंत्र सार्वभौम सत्तात्मक राज्य थे।

टिप्पणी

महात्मा बुद्ध के उदय से पूर्व भारत में 16 महाजनपद थे, इसीलिए अनेक इतिहासकारों ने इस युग को महाजनपद युग कहा है। 16 महाजनपदों का विवरण निम्नवत हैं–

1– **अंग**–इस जनपद की राजधानी चंपा थी। यह मगध के अंतर्गत आधुनिक भागलपुर के निकट था। प्रारंभ में अंग अत्यंत शक्तिशाली जनपद था। ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत, जातक ग्रंथों और पुराणों में अंग के राजाओं का उल्लेख है। मगध राज्य की राजधानी राजगृह अंग के राज्य का एक नगर था। राजधानी चंपा नगर बौद्ध काल में अपने वाणिज्य, वैभव और समृद्धि के लिए प्रख्यात था। यह चंपा नदी और गंगा के तट पर बसा था। प्रारंभ में इस जनपद के राजाओं ने ब्रह्मदत्त के सहयोग से मगध के कुछ राजाओं को पराजित भी किया था, किंतु कालांतर में इनकी शक्ति क्षीण हो गई और इन्हें मगध से पराजित होना पड़ा।

2– **मगध**–यह आधुनिक बिहार के पटना और गया जिले तक व्याप्त था। इसकी राजधानी गिरीव्रज या राजगृह थी। मगध में सर्वप्रथम राजवंश की स्थापना वृहद्रथ ने की थी। मगध ने अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया था और धीरे–धीरे मगध राज्य का इतना अधिक विस्तार हुआ कि इसके आस–पास के सभी राज्य इसमें विलीन हो गए।

3– **काशी**–इस राज्य का क्षेत्र आधुनिक वाराणसी या बनारस के आसपास था। इस महाजनपद की राजधानी वाराणसी ही थी। यह अत्यंत वैभवशाली और धन संपन्न तथा शक्तिशाली राज्य था। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पिता काशी के सम्राट थे। ब्रह्मदत्त के शासन काल में काशी की बहुत उन्नति हुई थी। काशी और कौशल में सीमा विस्तार के लिए सदैव संघर्ष होता था परिणामस्वरूप काशी राज्य की शक्ति क्षीण होने पर वह कौशल राज्य में विलीन कर दिया गया।

4– **कौशल**–आधुनिक अवध के अनेक भाग इसके अंतर्गत थे। रामायण युग में कौशल की राजधानी अयोध्या थी परंतु बौद्धकाल में श्रावस्ती इसकी राजधानी हो गई थी। कौशल राज्य दो भागों में विभक्त था, उत्तरी कौशल जिसकी राजधानी श्रावस्ती का अत्यधिक व्यापारिक महत्व था जिसके कारण यह व्यापार, वाणिज्य व समृद्धि का केंद्र था। कौशल व काशी में परस्पर वैमनस्य एवं संघर्ष परंपरागत था, परिणामस्वरूप कौशल नरेश कंस ने काशी को अपने राज्य में विलीन कर लिया। सातवीं शताब्दी में कपिलवस्तु के शाक्यों ने भी कौशल राज्य की प्रभुता स्वीकार की थी। बौद्धकाल में यह महाजनपद अत्यंत महत्वपूर्ण, वैभवपूर्ण एवं समृद्धशाली था। तत्कालीन समय में यहां का राजा प्रसेनजित था। प्रसेनजित का व्यक्तिगत जीवन अशांतिपूर्ण था। अतः वह शांति व ज्ञान प्राप्ति हेतु महात्मा बुद्ध के पास आया करता था। कालांतर में कौशल की भी शक्ति क्षीण हो गई और मगध ने कौशल को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

5– **वज्जि**–कई जातियों के संगठन स्वरूप वज्जि राज्य की उत्पत्ति हुई थी। यह आठ गणराज्यों का एक संघ था। यह संघ राज्य आधुनिक बिहार का उत्तरी प्रदेश था। इसके अंतर्गत विदेह, लिच्छवि और वज्जि प्रमुख राज्य थे। विदेह

टिप्पणी

की राजधानी मिथिला थी जो राजा जनक के समय उत्तरी भारत में राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन का केंद्र हो गई थी। वैशाली वज्जि की राजधानी थी तथा लिच्छवियों की राजधानी भी वैशाली थी। वैशाली अत्यंत समृद्ध नगर था। वज्जि संघ के राज्य अपने पारस्परिक मतभेदों और फूट के कारण मगध की बढ़ती हुई शक्ति का विरोध न कर सके और अंत में मगध के अजातशत्रु ने वज्जि को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

6– **मल्ल**–मल्ल राज्य भी दो जनपदों का संघ था। एक की राजधानी कुशीनारा थी जो कुशीनारा के मल्ल कहलाते थे तथा दूसरे की राजधानी पावा थी जो पावा के मल्ल कहलाए। आधुनिक समय में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में कुशीनारा तथा इसके दक्षिण–पूर्व में आधुनिक फाजलपुर ग्राम पावा नगरी था। प्रारंभ में मल्ल राज्य राजतंत्रात्मक थे। जातक ग्रंथों में इसके सम्राटों का उल्लेख मिलता है परंतु कालांतर में यहां प्रजातंत्रत्मक शासन प्रणाली स्थापित हो गई थी। मल्लों की लिच्छवियों से सदैव ही वैमनस्यता रहती थी। मल्ल लोग बड़े साहसी, वीर और युद्धप्रिय थे तथा बुद्ध के बड़े प्रशंसक और भक्त थे। मगध के बढ़ते हुए विस्तार का प्रतिरोध मल्लों ने किया था परंतु वे पराजित हो गए और मगध राज्य में मल्ल राज्य विलीन कर लिया गया।

7– **चेदि**–मध्य प्रदेश का बुंदेलखंड और उसके आसपास का क्षेत्र चेदि राज्य था। शक्तिमती (सोत्थिवती) इसकी राजधानी थी। जातक ग्रंथों एवं महाभारत में चेदि राज्य का उल्लेख है।

8– **वत्स**–वत्स राज्य की राजधानी कौशाम्बी थी, जो इलाहाबाद से कुछ दूर ही स्थित थी। कौशाम्बी संस्कृति और व्यापार का प्रसिद्ध नगर था क्योंकि यह नगर उस व्यापारिक मार्ग पर था जो विदिशा व उज्जैन होते हुए दक्षिण भारत को जाता था। अनेक पौराणिक ग्रंथों में इस राज्य और इसके राजाओं का उल्लेख मिलता है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व वत्स का शासक उदयन था। उदयन के पश्चात वत्स राज्य का पतन हो गया।

9– **कुरु**–कुरु की राजधानी इंद्रप्रस्थ थी। वर्तमान समय में दिल्ली और मेरठ के समीपवर्ती प्रदेश कुरु राज्य था। तत्कालीन समय में यह राज्य अपने आचार, सदाचार और शील के लिए प्रसिद्ध था। प्रारंभ में कुरु में राजतंत्र शासन था, परंतु कालांतर में यहां प्रजातंत्रत्मक शासन स्थापित हो गया। बौद्ध युग में वह गणराज्य था। यहां के एक सामंतपुत्र ने गौतम बुद्ध से दीक्षा ली थी।

10– **पांचाल**–आधुनिक रूहेलखंड और गंगा–यमुना के बीच का दोआब का क्षेत्र पांचाल राज्य में सम्मिलित था। यह राज्य दो भागों में विभक्त था–दक्षिण पांचाल जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी तथा उत्तरी पांचाल, जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी। दक्षिण पांचाल व कुरु दोनों मिलकर उत्तरी पांचाल पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। प्रारंभ में पांचाल में राजतंत्रत्मक शासन प्रणाली थी तथा बाद में यहां लोकतंत्रत्मक शासन स्थापित हो गया और बौद्ध काल में यह एक गणतंत्र राज्य था।

11– **मत्स्य**–मत्स्य राज्य की राजधानी विराट नगर थी। आधुनिक राजस्थान में जयपुर, अलवर और भरतपुर के क्षेत्र इस राज्य में सम्मिलित थे। यह राज्य

शक्तिशाली राज्य नहीं था। महाभारत काल में यह चेदि के अधीन था। यहां संभवतः राजतंत्रात्मक व्यवस्था थी। कालांतर में यह राज्य मगध के अधीन हो गया।

टिप्पणी

12– **सूरसेन**–सूरसेन राज्य की राजधानी मथुरा थी। यह नगर अपने वैभव, समृद्धि और ज्ञान विज्ञान के लिए प्रसिद्ध था। यहां यादवों का शासन था। सूरसेन में अत्यधिक बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। कालांतर में यह राज्य मगध साम्राज्य का अंग बन गया।

13– **अस्सक या अस्मक**–यह दक्षिण भारत का राज्य था। इसकी राजधानी पोतन, पोटली या पोदनी थी। अस्सक के राजा इक्ष्वाकुवंशीय थे। प्राग बौद्धकाल में अस्सक नरेशों और अवंति के नृपतियों में सीमा विस्तार के लिए संघर्ष होते रहे, जिसका फल यह हुआ कि कुछ समय के लिए अस्सक राज्य अवंति हो गया।

14– **अवंति**–अवंति मालवा में था। ये दो भागों में विभक्त था। एक उत्तरी अवंति जिसकी राजधानी उज्जयनी या उज्जैन थी दूसरे दक्षिणी अवंति जिसकी राजधानी महिष्मती या माहेश्वर थी। अवंति का सबसे प्रसिद्ध शासक महासेन चंड प्रद्योत था। वह बुद्ध का समकालीन था और उसने बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया था। परिणामस्वरूप उज्जैन बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केंद्र बन गया।

15– **गांधार**–गांधार आजकल पाकिस्तान में है। कश्मीर, पश्चिमोत्तर प्रदेश पेशावर, तक्षशिला का प्रदेश इसके अंतर्गत आते हैं। इस राज्य की राजधानी तक्षशिला थी। गांधार व्यापार एवं ज्ञान–विज्ञान का केंद्र था। गांधार के शासक द्रुह्य वंशी थे।

16– **कम्बोज**–यह गांधार राज्य का पड़ोसी राज्य था और इसकी राजधानी हाटक थी। उत्तर वैदिक काल में कम्बोज ब्राह्मण विद्या और धर्म का केंद्र था। इस महाजनपद की राजधानी राजपुर थी। प्रारंभ में यहां राजतंत्रात्मक व्यवस्था थी परंतु बाद में यहां गणतंत्र स्थापित हो गया। बौद्ध ग्रंथों में कम्बोज निवासियों को अनार्य परंपराओं को मानने वाला कहा गया है। चीनी विद्वान ह्वेनसांग ने भी कम्बोजवासियों को असभ्य और कुरूप बताया है।

उपर्युक्त सभी महाजनपदों का उल्लेख बौद्ध धर्मग्रंथों में है। वज्जि, मल्ल, सूरसेन गणराज्य थे और मगध, वत्स, अवंति और कौशल बड़े प्रसिद्ध राजतंत्र थे। गणराज्यों में जनता के प्रतिनिधि शासन करते थे और राजतंत्र में वंशक्रमानुगत राजा राज्य करते थे। इन सोलह महान राज्यों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के ग्रंथों में कुछ अन्य राजाओं का भी वर्णन है। ये सभी गणराज्य थे। इनमें कुछ राज्य विभिन्न गणराज्यों के संघ थे।

गणराज्य

विविध गणराज्यों का वर्णन निम्न प्रकार से है–

1– **कपिलवस्तु के शाक्य**–महात्मा बुद्ध का जन्म इसी कुल में हुआ था। यहां के शाक्य लोग इक्ष्वाकु या सूर्यवंशी थे। इनकी राजधानी कपिलवस्तु थी। शाक्यों का गणराज्य काफी उन्नत था और इन्होंने अनेक विशाल नगरों का निर्माण किया था। शाक्य बहुत सदाचारी जीवन व्यतीत करते थे। विद्या और कला

टिप्पणी

में उनकी विशेष अभिरुचि थी। वे स्त्रियों का बहुत सम्मान करते थे। वे अपने वंश और रक्त की पवित्रता बनाए रखने के लिए अपने विवाह संबंध स्वजातीय परिवारों में ही करते थे। शाक्यों का शासन प्रबंध एक परामर्शदात्री परिषद करती थी, जिसके सदस्यों की संख्या पांच सौ होती थी।

2– **अल्लकप्प के बुली**–यह राज्य आधुनिक शाहबाद और मुजफ्फरपुर के मध्य में था। यह कोई विशेष शक्तिशाली महत्वपूर्ण राज्य नहीं था।

3– **केसपुत्त के कालाम**–यह छोटा तथा प्राचीन गणराज्य था। गौतम बुद्ध के गुरु आलाम कालाम इसी कुल के थे। इनका संबंध संभवतः शतपथ ब्राह्मण में वर्णित पंचाल केशियों से है।

4– **सुसामगिरी के मग्ग**–ये ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन वर्ग थे। डॉ. के.सी. जायसवाल के अनुसार, इनकी भूमि में मिर्जापुर तथा उनका समीपवर्ती भूभाग सम्मिलित था। ये वर्तमान पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित है।

5– **रामगाम के कोलीय**–यह राज्य शाक्य राज्य के पूर्व में था। दोनों गणराज्यों के मध्य रोहिणी नदी बहती थी। इसके जल के उपयोग के लिए दोनों राज्यों में संघर्ष रहता था।

6– **पावा के मल्ल**–गोरखपुर के जिले के दक्षिण भाग में पावापुरी थी। इनकी दो शाखाएं थीं। पहली शाखा पावा के मल्ल संभवतः आधुनिक पड़रौना में बसे थे। परंतु डॉ. कनिंघम के इस मत के विरुद्ध इतिहासकार फाजिलपुर को ही पावा मानते हैं। पावा में ही महावीर स्वामी ने पंचत्व प्राप्त किया था।

7– **कुशीनारा के मल्ल**–आधुनिक उत्तर प्रदेश में गोरखपुर जिले में कुशीनारा का मल्ल गणराज्य था। यह मल्लों की दूसरी शाखा थी। आधुनिक कसिया ही कुशीनारा नाम से विख्यात था। मल्ल लोग अपनी विद्या, कला और युद्धप्रियता के लिए प्रसिद्ध थे। दर्शनशास्त्र में मल्लों ने विशेष प्रगति कर ली थी। कुशीनारा में ही महात्मा बुद्ध को परिनिर्वाण प्राप्त हुआ था। मज्झिमनिकाय में मल्लों के राज्यों को संघराज्य कहा गया है। बौद्ध धर्म के उत्थान में मल्लों का विशेष योगदान था।

8– **पिप्पलीवन के मोरिय**–यह गणराज्य शाक्य गणराज्य की एक शाखा है। कुछ शाक्य हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में चले गए और वहां उन्होंने पिप्पलीवन नामक नगर बसाया। इस नगर में मोरों का बाहुल्य था इसलिए इन्हें मौर्य भी कहा गया। मगध साम्राज्य का निर्माता चंद्रगुप्त इन्हीं मौर्यों का वंशज था।

9– **मिथिला के विदेह**–यह राज्य बिहार में था। इसकी राजधानी मिथिला थी। यह नगर व्यापार और संस्कृति का प्रसिद्ध केंद्र था।

10– **वैशाली के लिच्छिवी**–यह उत्तरी बिहार में था। लिच्छवि क्षत्रिय वंश के थे। ये अपने सरल सादे और पवित्र जीवन के लिए प्रसिद्ध थे। इनका गणराज्य विस्तृत एवं शक्तिशाली था। वैशाली जो एक प्रख्यात, महान, वैभवशाली, विस्तृत नगर था, लिच्छिवियों की राजधानी था। इक्ष्वाकु के पुत्र विशाल ने वैशाली नगर बसाया था। वर्तमान मुजफ्फरनगर जिले का बसाड़ नामक ग्राम जो गंडक नदी के तट पर बसा है, प्राचीन वैशाली का अवशेष है। यह नगर विशाल राजप्रसाद,

टिप्पणी

सार्वजनिक भवनों, चौत्यों, विहारों, विशाल नगरकोटों, सिद्धद्वारों आदि के लिए प्रख्यात था। तत्कालीन समय में वैशाली प्रत्येक दृष्टि से गौरवशाली था। लिच्छिवी के व्यक्ति अपने संगठन, श्रेष्ठ शिक्षा, विद्या, कला, सामाजिक संस्कारों, धार्मिक समारोहों व कार्यों के लिए प्रसिद्ध थे। शासन व्यवस्था प्रजातंत्रत्मक थी। उनके प्रतिनिधियों की एक राज्यसभा थी जो शासन संचालन करती थी। उनका गणराज्य अपनी समृद्धि संपन्नता, ऐश्वर्य, दृढ़शक्ति और बल के लिए प्रख्यात था। ललित विस्तार के अनुसार–लिच्छिवियों का शासन अत्यंत सुव्यवस्थित था। 'गणराज्य में 7707 राजा, अनेक उपराजा, सेनापति, भांडागारिक थे। चौक एवं 'मान्यते महम राजा अहम राजेति' से यह परिलक्षित होता है कि लिच्छवियों में राजा या अराजा का कोई भेद न था, प्रत्येक व्यक्ति अपने राजा को राजा मानता था। 7707 राजाओं का जो उल्लेख किया गया है वह संभवतः अपने–अपने क्षेत्र के अधिकारी थे। उनका संगठन लिच्छवि गणराज्य था। लिच्छवियों पर बुद्ध तथा जैन के उपदेशों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा और अनेक राजकुमारों ने धार्मिक क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किए।

11– **वैशाली के नाग**–इसके अंतर्गत आठ गण थे जिनमें विदेह, ज्ञात्रिक, लिच्छवि तथा वज्जि सम्मिलित थे। उग्र, भोग, इक्ष्वाकु तथा अन्य चार गण थे। ज्ञात्रिक कश्यप गोत्र के क्षत्रिय थे। सूत्रकृतांज्ञ से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी का जन्म इसी कुल में हुआ था क्योंकि उक्त ग्रंथ में सर्वोच्च जिन, ज्ञात्रिपुत्र महावीर कहा गया है। ज्ञात्रिकों का अपना गणराज्य वैशाली, कुंडग्राम तथा वनियगाम से युक्त था और इसका केंद्र कोल्लग नामक स्थान में था।

गणराज्यों का शासन प्रबंध

तत्कालीन साहित्य में दो प्रकार के प्रजातंत्रत्मक राज्यों या गणराज्यों का उल्लेख है। प्रथम राजशब्दोपजीविन में गणराज्यों से तात्पर्य उन गणराज्यों से है जिनमें राजा शब्द का प्रयोग किया जाता था अर्थात जिनके अध्यक्ष राजा कहलाते थे और उसका निर्वाचन करने वाले भी स्वयं को राजा कहते थे, संभवतः इसीलिए कि वे राजा का निर्वाचन करते थे और स्वयं भी उस पद के लिए निर्वाचित हो सकते थे। इस श्रेणी में लिच्छवि, पांचाल, मल्ल आदि गणराज्य थे। दूसरी श्रेणी में वे गणराज्य थे जिनके नागरिक कृषि और सैनिक निपुणता को अपने अस्तित्व का आधार मानते थे। इन राज्यों में सैनिक कार्य इतने महत्वशील माने जाते थे कि गण के प्रत्येक नागरिक के लिए सैनिक कार्यों में निपुण होना अनिवार्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यशब्दोपजीविन गणराज्यों में उनकी स्वयं की और उनके संघ की रक्षा के लिए एक नियमित और वैतनिक सेना रहती थी। इसके विपरीत वार्त्ताशस्त्रेपजीविन गणराज्यों में, संघराज्यों में भी उनके सभी नागरिक ही सैनिक होते थे। वे कृषि करते थे और साथ ही सैनिक कार्यों में भी निपुण होते थे। सेना की आवश्यकता होने पर वे स्वयं ही सेना बना लेते थे। इस प्रकार इन राज्यों में नियमित और वैतनिक सेना तो नगण्य थी अपितु समस्त नागरिक ही सेना के अंग माने जाते थे।

यद्यपि गणों के संविधान एवं शासन व्यवस्था के विषय में स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं परंतु जितना कुछ भी इस बारे में मिलता है वह निश्चित एवं प्रमाणित प्रकृति है। राज्य की सर्वोच्च कार्यपालिका का प्रधान राजा होता था। वह (राजा) एक निर्वाचित

टिप्पणी

व्यक्ति होता था। राजा की नियुक्ति किस तरह से होती थी इसके निश्चित प्रमाण नहीं हैं। महाभारत के अनुसार, गणराज्य में समस्त नागरिक जन्म से समान होता था और समस्त कुलों में भी समानता होती थी। गणराज्य में समस्त नागरिक जन्म से समान समझे जाते थे, परंतु कुल राज्यों में समानता का सिद्धांत कुलों तक सीमित था। यहां कुल से अभिप्राय परिवारों से नहीं अपितु राजाओं के वंशों से है। राजाओं के वंशों से तात्पर्य उन समस्त क्षत्रियों से है जिनका शासन के लिए अभिषेक होता था और जो स्वयं को राजा कहते थे। कुल राज्यों में संभवतः इन कुलों के प्रतिनिधि ही संघ सभा या राज्य की सर्वोच्च व्यवस्थापिका सभा के सदस्य होते थे। संभवतः गण कुलों की सभा थी। कुल राज्यों में महत्वपूर्ण पदों पर भी कुलपुत्रों की नियुक्ति की जाती थी। प्रशासकीय अधिकार कुलपुत्रों को प्राप्त थे। वे राजा, उपराजा, सेनापति और भांडागारिक के महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर सकते थे। कुलपुत्र भी इन प्रशासकीय और आर्थिक महत्व के पदों को पाकर स्वयं को एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधि नहीं वरन समस्त संघ या गणराज्य का प्रतिनिधि मानते थे। यही भवन कुल राज्यों के प्रजातंत्रात्मक दृष्टिकोण का पूर्ण परिचायक था।

शासन का स्वरूप

गणराज्यों के शासन और सत्ता के अधिकार किसी व्यक्ति विशेष के हाथों में केंद्रीभूत होने की अपेक्षा गण अथवा विभिन्न व्यक्तियों के हाथों में होते थे। प्रशासन के सूत्रवंश परंपरागत किसी व्यक्ति के हाथों में नहीं होते थे अपितु वे एक गण या समूह अथवा परिषद् के हाथों में होते थे। इस परिषद के सदस्य उच्च वर्ग के कुलीन लोग होते थे।

राज्य का सर्वोच्च अधिकारी–राज्य का नायक, प्रधान या राष्ट्रपति गणराज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था। प्रधान का निर्वाचन संघ की सभा द्वारा निर्वाचित होता है। यद्यपि यह पद वंशानुगत नहीं था, परंतु कभी–कभी यह पद वंशानुगत होता था लेकिन उसमें पौरुष, साहस, बुद्धि, विवेक, अनुभव, धर्मशास्त्रों का ज्ञान आदि गुण अवश्य होने चाहिए। प्रधान संघ की सभा की अध्यक्षता करता था तथा मंत्रियों के कार्यों के संचालन व उन्हें उत्तरदायित्व सौंपना राजा का ही कर्तव्य था। राजा निरंकुश नहीं था।

मंत्रिपरिषद–शासन को सुचारु रूप से चलाने व राजा की सहायता करने के लिए एक मंत्रिपरिषद होती थी। सामान्य कार्यकारिणी शक्तियां परिषद के मंत्रियों में निहित रहती थीं। परिषद के सदस्यों की संख्या गणराज्य वेफ आकार पर निर्भर होती थी। उदाहरणार्थ लिच्छवियों के गणराज्य की मंत्रिपरिषद में केवल नौ सदस्य थे और मल्लों की मंत्रिपरिषद में केवल चार सदस्य होते थे।

व्यवस्थापिका सभा–प्रत्येक गणराज्य की एक व्यवस्थापिका सभा होती थी जिसे संस्थागार कहते थे। गण की शक्ति वस्तुतः संस्थागार में निहित थी। संस्थागार मुख्य नगरों में विद्यमान थे। इन भवनों में केंद्रीय अधिवेशन होते थे। ये संस्थागार, वस्तुतः लोकसभा का ही पूर्व रूप कहा जा सकता है। संस्थागार के सदस्यों को भी राजा कहकर संबोधित किया जाता था। संभवतः गणराज्यों में उनके ग्राम तथा नगर सभाओं के समस्त नागरिकों द्वारा निर्वाचित अध्यक्ष भी केंद्रीय संस्थागार या सभा के सदस्य रहे होंगे। राजतंत्र की परिषदों में व्यापारियों और शिल्पियों के संघों और वर्गों के निर्वाचित अध्यक्ष सदस्य रहते होंगे। बड़े–बड़े गणराज्यों के केंद्रीय संस्थागार या नगर के संस्थागार होते थे। सभी प्रकार के मामले चाहे उनका संबंध देश की शांति से हो,

टिप्पणी

युद्ध से हो, नागरिकता से हो, आर्थिक समस्या से हो, इस सभा में उपस्थित होते थे। प्रस्तावों पर बहस होती थी और बहुमत का निर्णय सबको मान्य होता था।

प्रशासन के सभी अधिकार इसी संस्था में निहित होते थे। राज्य के सर्वोच्च अधिकारी जैसे प्रधान या राष्ट्रपति, सेनापति, मंत्रियों, अधिकारियों की नियुक्ति यह संस्था करती थी। गणराज्य की परराष्ट्र नीति पर इसका पूर्ण नियंत्रण रहता था। संधि विग्रह का निर्णय भी इस संस्था द्वारा होता था। संस्थागार, राज्य के विधि–विधान, नियम बनाती थी, नीतियों का निर्णय करती थी तथा उन नियमों व नीतियों को व्यावहारिक रूप प्रदान करती थी। संस्थागार के अधिवेशन और बैठकों की सभी कार्यवाही को लिखा जाता था। आज के समान ही दर्शकों को संस्थागार के अधिवेशनों को या सभा की कार्यवाही देखने का अवसर प्रदान किया जाता था।

न्याय व्यवस्था–राज्य में शांति बनाए रखने के लिए तथा न्यायदान के लिए पूर्ण व्यवस्था थी। अपराधों की रोकथाम की पूर्ण व्यवस्था थी। विनिश्चय महापात्र कर्मचारी अपराधियों की जांच करता था और तथ्यों का संग्रह करता था। न्याय व्यवस्था में व्यावहारिक, सूत्रधार, अट्ठकुलक उपराजा और राजा मुख्य अधिकारी थे। अपराध की गुरुता के आधार पर अपराधियों को इन अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था और उन्हें दंड और कानून के लिखित संग्रह के अनुसार दंड दिया जाता था। दंड की व्यवस्था 'पवेणिपोत्थक' नामक कर्मचारी करता था। दंड विधान कठोर था।

न्याय व्यवस्था प्रजातंत्रीय पद्धति पर आधारित थी। दोषी को स्वयं को निर्दोष साबित करने का पूरा अवसर दिया जाता। व्यक्ति को पूर्णतया अपराधी सिद्ध होने पर ही दंड दिया जाता था। बुद्धघोष की टीका में कहा गया है कि वज्जियों में एक अपराधी को तभी दंडित किया जाता था जबकि लगातार 8 न्यायाधिकरण उसे अपराधी घोषित करते थे। दंड मनमाने रूप से नहीं थोपा जाता था बल्कि प्राचीन ग्रंथों के आदेशानुसार ही उन्हें दंडित किया जाता था। 8 न्यायाधिकरणों में प्रत्येक न्यायाधिकरण को यह अधिकार था कि वह दोषी को छोड़ सकें। न्यायालय के अधिकारियों को विनिच्छय, महामात्र, वोहारिक, सूत्रधार, अट्ठकूलक, भांडागारिक, सेनापति, उपराजा तथा राजा के नाम से संबोधित किया जाता था। वज्जि के लोग न्यायव्यवस्था में पर्याप्त ज्ञान रखते थे और उनकी न्याय व्यवस्था की कुशलता लोक प्रसिद्ध थी।

स्थानीय स्वशासन–गणराज्यों की विशालता के कारण स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहित किया जाता था। विशाल नगरों में स्थानीय स्वशासन प्रणाली थी। नगर की परिषद वर्तमान नगरपालिका के समान थी। इस परिषद में नागरिकों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त वणिकों, उद्योग व्यवसायियों, शिल्पियों, कृषकों आदि के भी प्रतिनिधि रहते थे। स्थानीय विषयों की शासन व्यवस्था इनके हाथों में ही रहती थी। संभव है ग्रामीण क्षेत्रों में स्वशासन के हेतु छोटे–छोटे कस्बों और ग्रामों में आधुनिक ग्राम पंचायतों के समान स्थानीय परिषदें रही होंगी। नगर और ग्राम की संस्थाएं अपने आंतरिक कार्यों में लगभग स्वतंत्र रहती थी। संभवतः संस्थाओं पर केंद्रीय सरकार का कुछ नियंत्रण रहा होगा।

गणराज्यों के संघ

अनेक गणराज्य छोटे थे और उनके साधन भी सीमित थे। वह उतने शक्तिशाली भी नहीं थे जितने कि बड़े गणराज्य थे। अतः उन्हें सदैव अपने अस्तित्व को बचाने का भय रहता था। अतः छोटे गणराज्य मिलकर संघों का निर्माण करते थे। ऐसे संघ

टिप्पणी

को संघात भी कहा जाता था। अंधक, वृष्णि, यादव, कुकुर तथा भोज गणराज्यों ने मिलकर अंधक–वृष्णि संघ स्थापित किया था। त्रिगर्त संघ में त्रिगर्त देश के छः गणराज्य सम्मिलित थे। मल्ल संघ भी गणराज्यों का ऐसा ही संयुक्त संघ था। इनकी एक संयुक्त सभा होती थी जिसे संघ मुख्य कहते थे। संघ के विभिन्न गणराज्यों के शासक अपने राज्यों के प्रतिनिधियों के नेता होते थे। संघ के प्रमुख कार्य थे–सैनिक स्तर पर संघ को दृढ़ करना, गणराज्यों के साधनों से एक विशाल सम्मिलित सेना का निर्माण करना, सैनिक शक्ति को श्रेष्ठ करना, विदेश नीति के अंतर्गत अन्य राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना तथा युद्ध एवं संधि की घोषणा करना, गणराज्यों के पारस्परिक संबंधों तथा उनके अन्य सामूहिक हितों की समस्याओं पर निर्णय देना, संघात के लिए नियमों एवं उपनियमों का निर्माण करना आदि। परंतु आंतरिक मामलों में संघ पूर्णतः स्वतंत्र रहे होंगे।

उपर्युक्त विवरण से गणराज्य के शासन पर प्रकाश पड़ता है। इस राजतंत्र शून्य राजनैतिक प्रणाली का भारत में सर्वप्रथम विकास हुआ था।

गणराज्यों का पतन

गणराज्य और उनकी प्रजातंत्रत्मक शासन प्रणाली तत्कालीन राजनीतिक जागरूकता और अभिरुचि के द्योतक हैं। महात्मा बुद्ध गणराज्यों की शासन प्रणाली से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने अपने धर्म में बौद्ध संघ का संगठन भी इसी प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था पर किया था, परंतु तीसरी व चौथी शताब्दी तक आते–आते ये गणराज्य लुप्त हो गए क्योंकि महत्वाकांक्षी राजाओं की महत्वाकांक्षा बढ़ने लगी और उन्होंने अपनी सीमाओं का विस्तार कर इन गणराज्यों को अपने राज्यों में विलीन कर लिया। गणराज्यों के पतन के अन्य कारण निम्नांकित थे–

1– पारस्परिक राजनीतिक द्वेष के कारण आपसी संघर्ष होते थे, जिससे इनकी शक्ति क्षीण हो गई।

2– एकता एवं संगठन का अभाव था। सदस्य गणराज्य के हितों की अपेक्षा अपने हितों को सर्वोपरि मानने लगे थे।

3– राष्ट्रीय हित के स्थान पर स्थानीय हित सर्वोपरि हो गए। राज्यों के लिए जो रक्तरंजित संघर्ष प्रारंभ हुआ उनमें राजनीतिक चेतना के आधार गणराज्य समाप्त हो गए।

4– राजाओं की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता के कारण प्रजा के प्रतिनिधियों का स्थान व गौरव क्षीण हो गया था और राज्यपक्ष के समर्थक सामंतों के सम्मान और शक्ति में अधिक वृद्धि हुई थी। अब राजपक्ष के समर्थक जागीरदारों और अधिकारियों का जो स्थान था वह प्रजापक्ष के प्रतिनिधियों का नहीं था।

5– राजतंत्र के राजाओं की स्वेच्छाचारिता के कारण राष्ट्रीय चेतना का अभाव व नैतिकता में कमी आई थी। अब न तो सामाजिक और न ही राजनीतिक जीवन के उच्च श्रेष्ठ आदर्श रहे थे।

6– मध्य, अवंति, कौशल जैसे विशाल राज्यों का उदय हो गया था। उनके देवत्व और श्रेष्ठ राजनीतिक आदर्शों ने गणराज्यों के अध्यक्षों और प्रतिनिधियों की अपेक्षा लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया।

टिप्पणी

7– राजतंत्र के दृढ़ और सफल शासन, प्रबल विदेश नीति तथा राज्य विस्तार से गणराज्यों की अपेक्षा राजतंत्र अधिक लोकप्रिय हो गया।

8– गुप्त शासकों की साम्राज्यवादी नीति ने सभी गणराज्यों को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया।

यद्यपि प्राचीन भारत के ये गणराज्य लुप्त हो गए, परंतु निश्चय ही उनके द्वारा स्थापित प्रजातंत्रत्मक परंपराएं देश की अमर निधि हैं। काल की क्रूर तूलिका भी उन्हें धूमिल नहीं कर सकेगी।

नंद वंश

मगध में स्थापित और प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय राजवंशों में से एक राजवंश नंद वंश है। इस वंश ने 4 और 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व के समय में भारत में शासन किया। यह वंश पूर्व में बंगाल के पश्चिम में पंजाब में व विंध्य पर्वत श्रृंखला तक दूर दक्षिण में फैला हुआ था। इसके पश्चात चंद्रगुप्त मौर्य राजवंश के प्रसिद्ध सम्राट और संस्थापक, नंद राजवंश में डूब गए।

नंद राजवंश की उत्पत्ति

नंद राजवंश के संस्थापक महापदमा नंदा थे। महापदमा नंदा के शासन के दौरान राज्य के दक्षिणी हिस्से को डेक्कन पठार के लिए बढ़ाया गया था। 88 वर्ष की अवस्था में उनका निधन हुआ। महापदमा नंदा नंद वंश के संस्थापक थे।

नंद राजवंश का प्रशासन

नंद करों की प्राप्ति के लिए एक व्यवस्थित प्रक्रिया की शुरुआत के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सत्तारूढ़ व्यवस्था का एक घटक का गठन किया जो एक निरंतर आधार पर पदाधिकारियों को रोजगार के माध्यम से सुनिश्चित किया गया था। नंद शासकों ने अंतर्देशीय जलमार्ग, चैनलों के निर्माण और जल आपूर्ति योजनाओं पर काम किया। इन्होंने खेती आधारित अर्थव्यवस्था के आधार पर एक औपनिवेशिक प्रणाली की संभावना को इस अवधि से भारतीय मानस में विकसित करने के लिए कार्य शुरू किया। नंद राजवंश के अंतिम सम्राट, धनानंद उन्होंने लोगों पर अत्यधिक मात्र में कर लगाए।

नंद शासक

महापदमा नंद पांघुपति, पंधुका, भूतपाला, गोविशनका, राष्ट्रपाल, कैवर्त, दशासिदखाका, महेंद्र, और धनानंद।

नंद राजवंश के दौरान धर्म

नंदा राजवंश के दौरान विभिन्न धर्मों–जैन धर्म, हिंदू धर्म व बौद्ध धर्म का बोलबाला था। नंद वंश के शासकों ने जैन धर्म को गले लगा लिया। नंद शासकों ने कलिंग के राज्य पदभार को संभाल लिया। पाटलिपुत्र को भगवान महावीर के ज्ञान का स्थान होने के लिए दुनिया भर में जाना जाता है। संयोग से यह हिंदुओं के लिए प्रमुख पवित्र स्थलों में से एक हैं। इन स्तूपों का धनानंद द्वारा बड़ी संख्या में निर्माण किया गया। राजगीर में इन स्तूपों को बहुत बड़ी संख्या में देखा जा सकता है।

नंद राजवंश की अर्थव्यवस्था

टिप्पणी

साम्राज्य के दौरान इस राज्य की अर्थव्यवस्था खेती पर ज्यादातर निर्भर थी। इस राज्यक्षेत्र की प्रगति और विस्तार के लिए महत्वपूर्ण संभावना थी। इस शासन के दौरान फसल बढ़ रही थी। खेती में अंतर्देशीय जलमार्ग के निर्माण से मदद की व्यवस्था की गई थी। नतीजतन, खेती में वृद्धि हुई और काफी अच्छे परिणाम सामने आए। शासन के दौरान खेती की गतिविधियों के लिए कोई बुनियादी ढांचा उपलब्ध नहीं था परंतु फिर भी इस समय खेती ने अपने विकास की ओर प्रस्थान किया।

ई.पू. छठी–पांचवीं शताब्दी के दौरान बिंबिसार के नेतृत्व में मगध मध्य गंगा के मैदान के प्रमुख दावेदार के रूप में तेजी से उभरा। बिंबिसार बुद्ध का समकालीन था। बिंबिसार मगध का प्रथम महत्वपूर्ण शासक माना जाता है। राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय देते हुए उसने कौशल के राजघराने से वैवाहिक संबंध स्थापित किया। इस शादी में उसे काशी का एक जिला दहेज के रूप में मिला। गांधार के राज्य के साथ उसका संबंध सौहार्दपूर्ण था। कूटनीतिक संबंधों को मगध की शक्ति का प्रतीक माना जा सकता है। मगध के उत्तर में अंग राज्य था, जिसकी राजधानी चंपा एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र थी। चंपा एक महत्वपूर्ण नदी–बंदरगाह कहा जाता था। कहा जाता है कि बिंबिसार के आधिपत्य में 80,000 गांव थे। परंपरागत सूत्रों से पता चलता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता बिंबिसार को बंदी बना लिया था और वह (बिंबिसार) भूख से तड़प–तड़प कर मर गया था। ऐसा माना जाता है कि यह घटना ई.पू. 492 के आसपास घटी होगी।

आंतरिक समस्याओं और गद्दी पर अजातशत्रु के बैठने से मगध के निर्यात में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। नए मगध के राजा ने आक्रामक नीति अपनाई और अपने राज्य क्षेत्र का विस्तार किया। उसने काशी पर अधिकार कर लिया और अपने मामा, कौशल के नरेश से सौहार्द का संबंध समाप्त कर उन पर आक्रमण कर दिया। गंगा के दक्षिण तक फैला हुआ वज्जि गणराज्य अजातशत्रु के आक्रमण का अगला निशाना बना। वज्जि संघ के युद्ध का सिलसिला लगभग सोलह वर्षों तक चलता रहा। अंत में अजातशत्रु वहां आंतरिक कलह पैदा कर धोखे से उसे पराजित करने में सफल हुआ। अपने शक्तिशाली शत्रु अवंति पर आक्रमण की पूरी तैयारी अजातशत्रु ने कर ली थी परंतु आक्रमण किन्हीं कारणों से संपन्न न हो सका। फिर भी, उसके शासनकाल में काशी और वैशाली (वज्जि महाजनपद की राजधानी) मगध के अधीन आ चुके थे। इस प्रकार मगध गांगेय प्रदेश में सबसे शक्तिशाली राज्य माना जाने लगा।

यह माना जाता है कि अजातशत्रु ने 492 से 460 ई.पू. तक राज्य किया। उदयन (460–444 ई.पू.) उसका उत्तराधिकारी था। उदयन के राज्यकाल में मगध का क्षेत्र हिमालय के उत्तर से लेकर छोटा नागपुर की पहाड़ियों के दक्षिण तक फैला हुआ था। यह कहा जाता है कि उसने गंगा और सोन के मुहाने पर एक किला बनवाया था। उदयन के शासन काल में राज्य क्षेत्र काफी विस्तृत था, परंतु वह इन पर कुशल शासन करने में असक्षम था। उदयन के बाद चार शासक एक के बाद एक गद्दी पर बैठे, परंतु वे अयोग्य सिद्ध हुए। ऐसा माना जाता है कि अंतिम राजा को मगध की जनता ने राज सिंहासन से उतार दिया। 413 ई.पू. में बनारस के राज्यपाल शिशुनाग

को राजा नियुक्त किया था। शिशुनाग वंश ने थोड़े समय तक राज्य किया और महापद्मनंद ने राज्य पर अधिकार कर नंद वंश की शुरुआत की।

टिप्पणी

326 ई.पू. में उत्तरी–पश्चिमी भारत पर सिकंदर के समय मगध और लगभग संपूर्ण गंगा के मैदान में नंद वंश का शासन था। यहीं से भारतीय इतिहास का ऐतिहासिक काल शुरू होता है। इस कारण नंदों को कभी–कभी भारत का प्रथम साम्राज्य–निर्माता कहा जाता है। उन्हें केवल मगध का राज्य विरासत में मिला था और उसके बाद उन्होंने उसकी सीमा का विस्तार किया।

परवर्ती पुराण ग्रंथों में महापद्मनंद का उल्लेख क्षत्रियों के विनाशकर्ता के रूप में हुआ है। यह भी कहा गया है कि उसने समकालीन सभी राजघरानों से शक्ति छीन ली। यूनानी ग्रंथ नंद साम्राज्य की शक्ति का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि नंदों के पास विशाल सेना थी, जिसमें 20,000 घुड़सवार, 2,00,000 पैदल सैनिक, 2,000 रथ और 3,000 हाथी थे। इस बात के भी संकेत मिले हैं कि नंदों के संबंध दक्कन और दक्षिण भारत में भी थे। राजा खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में इस बात के संकेत मिले हैं कि नंदों के संबंध दक्कन और दक्षिण भारत में भी थे। राजा खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में इस बात का संकेत है कि कलिंग (आधुनिक उड़ीसा) के कुछ हिस्सों पर नंद वंश का अधिकार था। राजा खारवेल का शासन काल प्रथम शताब्दी ई.पू. के मध्य में था।

दक्षिण कर्नाटक प्रदेश के कुछ बाद के अभिलेखों से भी पता चलता है कि नंद वंश के नेतृत्व में दक्कन के कुछ हिस्से पर मगध का अधिकार था। अधिकांश इतिहासकारों का यह मानना है कि महापद्मनंद के शासन काल के अंतिम चरण में मगध साम्राज्य के विस्तार और सुदृढ़ीकरण का पहला चरण समाप्त हो गया। सिकंदर के आक्रमण का हवाला देते हुए यूनानी ग्रंथ उल्लेख करते हैं कि इस समय उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र छोटे–छोटे राज्य वंशों के बीच विभक्त था। यह भी स्पष्ट है कि मगध राज्य और यूनानी विजेता के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ।

321 ई.पू. में नंद वंश का पतन हो गया। इस दौरान नौ नंद राजाओं ने शासन किया और यह कहा जाता है कि अपने शासन के अंतिम दिनों में वे काफी अलोकप्रिय हो गए थे। चंद्रगुप्त मौर्य ने इस स्थिति का फायदा उठाया और मगध के सिहासन पर अधिकार जमा लिया। इन सभी परिवर्तनों के बावजूद मगध गंगा घाटी का सर्वशक्तिमान राज्य बना रहा। मगध की भौगोलिक स्थिति उसकी सफलता के कारणों में प्रमुख है। इसके अतिरिक्त लोहा उन्हें सहज सुलभ था और प्रमुख स्थल और जल व्यापार मार्ग पर उनका नियंत्रण था।

1.4.2 मौर्यकालीन व्यवस्था

भारत को प्रथम बार राजनीतिक रूप से संगठित करने का श्रेय मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त को जाता है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना चंद्रगुप्त मौर्य ने की थी। मौर्यों के अधीन मगध राज्य का विस्तार आरंभ हो गया था। विभिन्न भागों में अशोक के अभिलेखों की उपस्थिति से यह संकेत मिलता है कि सुदूर पूर्व और दक्षिण के क्षेत्रों को छोड़कर भारतीय उपमहाद्वीप का अधिकांश भाग मगध संप्रभुता के अधीन था। मगध साम्राज्य की बनावट और संरचना में इतनी विविधता थी और इसका फैलाव इतना व्यापक था कि प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण रखना संभवतः बहुत कठिन था। इससे शायद यह

समझने में सहायता मिलेगी कि अशोक ने समाज में व्याप्त तनाव को कम करने के लिए धम्म का सहारा क्यों लिया।

टिप्पणी

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक मौर्य साम्राज्य, जिसका केंद्र मगध था, सुदृढ़ रूप से संस्थापित हो चुका था। एक विशाल राज्य क्षेत्र के नियंत्रण के लिए उपयुक्त प्रशासनिक संयंत्र के अंतर्गत प्रशासन के विभिन्न स्तर थे। इनमें प्रमुख साम्राज्य का केंद्रीय प्रशासकीय क्षेत्र मगध, प्रांतीय केंद्र परिधि में स्थित क्षेत्र नगर तथा गांव आदि राजा के प्रभुत्व को बनाए रखने और उसके आदेश का पालन करने के अलावा प्रशासन के क्रियाकलाप में न्याय, सेना, गुप्तचरी, राजस्व जमा करना, हस्तशिल्प इत्यादि शामिल थे। इस इकाई में आप मौर्यों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियों के साथ सिकंदर द्वारा भारत पर किए गए आक्रमण का अध्ययन करेंगे।

मौर्य साम्राज्य

प्राचीन भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में मौर्य वंश से नवयुग का श्रीगणेश होता है। मौर्य काल में ही समस्त भारत को सर्वप्रथम एक ही छत्र और शासन के अंतर्गत एक सूत्र में संगठित कर दिया गया था जिससे भारत का सर्वांगीण विकास हुआ। मौर्यों की छत्रछाया में भारत ने शांति, बंधुत्व और सांस्कृतिक एकता के आधार पर एक नवीन विश्व का निर्माण किया।

डॉ. मुखर्जी के अनुसार, मौर्य वंश का आगमन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। जिस कठिन परिस्थिति में इस वंश की नींव पड़ी व सुदृढ़ता प्राप्त की उसे देखकर वास्तव में उसका स्थान बहुत ऊंचा है।

मौर्य कौन थे? यह प्रश्न अत्यंत विवादास्पद है। मौर्यों की जाति एवं वंश क्या है? इस संबंध में प्रमुख तर्क निम्नांकित हैं–

- **मौर्य शूद्र थे**–कुछ विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रंथों को आधार मानकर चंद्रगुप्त मौर्य व उसके वंश को शूद्र कहा है। पुराणों में कहा गया है 'ततः प्रभृति रजानी भविष्य शूद्रोनयः' एवं पुराणों की टीका में चंद्रगुप्त मौर्य को राजा नंद की पत्नी मुरा से उत्पन्न बताया है। मुद्राराक्षस में भी लिखा है नंदकुलमनेन पितृकुलभूत कृतघ्नेन घातितमंय् उसे कुलहीन व वृषल कहा गया है। दुढिराज ने लिखा है कि वह शूद्र नंद का पुत्र था। परंतु उसके विपक्ष में अनेक विद्वानों ने तर्क दिए हैं और कहा है कि मौर्य शूद्र नहीं थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में लिखा है– 'येन शास्त्रं च शस्त्र च नंदराजगता च भुः' अर्थात उस व्यक्ति ने (चंद्रगुप्त) शस्त्र और शास्त्रों को नंदों की दासता से मुक्त कराया। नीलकंठ शास्त्री का मानना है, फ्मुरा का समीकरण काल्पनिक व अशुद्ध व्याकरण पर आधारित है। मुरा से मौरेय बनता है मौर्य नहीं। अतः प्रमाणित नहीं होता कि मौर्य शूद्र थे।
- **मौर्य पारसी थे**–चंद्रगुप्त कालीन भारत व फारस की कतिपय सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रथाओं और विधियों के साक्ष्य देखकर स्पूनर ने मौर्यों को पारसी कहा है कितु भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों ने इसका खंडन किया है।
- **मौर्य क्षत्रिय थे**–जैन, बौद्ध साहित्य व अधिकांश इतिहासकार मौर्यों को क्षत्रिय मानते हैं। महावंश में लिखा है–''ब्राह्मण चाणक्य ने नवें घनानंद का विनाश कर

टिप्पणी

चंद्रगुप्त को संपूर्ण जम्बूद्वीप का सम्राट बनाया, वह क्षत्रिय था।य् स्वयं सम्राट अशोक ने एक स्त्री से कहा था–देवी अहं क्षत्रिय। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट महाबोधिवंश, पुण्याश्रव कथाकोष एवं अभिलेखीय साक्ष्य भी मौर्य के क्षत्रिय होने की पुष्टि करते हैं। डॉ. ईश्वरी प्रसाद का मानना है कि फ्वर्तमान साक्ष्यों और पुरा सामग्री के आधार पर मौर्यों को क्षत्रिय मानना चाहिए।''

मौर्य कला और वास्तु कला

मौर्य कला भारतीय कला के इतिहास में युग प्रवर्तक है। मौर्य सम्राट असाधारण निर्माता थे। यदि कहा जाए कि भारतीय कला का इतिहास मौर्यकाल से प्रारंभ होता है तो अतिशयोक्ति न होगी। निःसंदेह पूर्ववर्ती युग में कला अवश्य थी परंतु उच्चकोटि की नहीं थी। डॉ. स्मिथ ने ठीक कहा है कि कठोर पाषाण को चिकना बनाने की कला इस पूर्णता तक पहुंचा दी गई थी कि यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग कलात्मक शक्तियों के लिए यह एक खोई हुई कला ही थी। कुछ इतिहासकार इस कला की उत्कृष्टता को स्वीकार नहीं करते। गोखले के अनुसार – भारत की कला का इतिहास भाषा की दृष्टि से एक पृष्ठ और पुरातत्व की दृष्टि से खाली अलमारी की भांति है। मौर्यकला को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है–

- **राजप्रासाद**–चंद्रगुप्त का पाटलिपुत्र में राजप्रासाद स्थित था। सभा ऊंचे स्तंभ पर आश्रित था जिस पर सुंदर मूर्ति चित्रित थी। एरियन का मानना है– चंद्रगुप्त का राजभवन एशिया के प्रसिद्ध सूसा व एकबेतन के भवनों से कहीं अधिक शानदार था। राजप्रासाद के तीन भाग थे–(1) राजशाला व सैनिकों के परकोटे (2) सभा मंडप (3) राजा का अंतपुर। फाह्यान का मत है– यह प्रासाद मानवकृति नहीं है वरन देवों द्वारा निर्मित है। प्रासाद के स्तंभ पत्थरों से बने हैं और उन पर अद्वितीय चित्र उभरे हैं। इसी प्रकार स्पूनर ने भी कहा है यदि वे कलाकार आज पुनः इस संसार में आ जाएं तो वे विचार करेंगे कि आज भी काष्ठ कला में उनके सीखने के लिए कुछ नहीं है।
- **स्तूप**–स्तूपों में मृतकों को अवशेष के रूप में रखा जाता था। यह उल्टे कटोरे के आकार का पत्थर व ईंटों से निर्मित गोल गुंबद था। स्तूप के ऊपर काष्ट और पत्थर का छत्र था व चारों ओर प्रदक्षिणा पथ था। अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने 84000 स्तूपों का निर्माण कराया। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, फ्भरहूत रेलिग पर वज्रासन मंदिर का जो चित्र अंकित है उसमें अशोक द्वारा निर्मित हस्ति सिर युक्त उल्टे कमल के आकार वाली शिर से सुशोभित गोलाकार स्तंभ है।
- **गुहा भवन**–गुफाएं कठोर चट्टान को काटकर बनायी जाती थीं। गुफाओं के आंतरिक भाग को अत्यधिक चिकना बनाया जाता था। ये भिक्षुओं का निवास स्थान था। 3 बारबरा व नागार्जुनी समूह में 4 गुहाएं प्राप्त हुई हैं, जिन्हें सातधर की संज्ञा दी जाती है। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार–कठोर शिलाओं को काटकर 30 से 40 फुट लंबी गुफा बनाने और उसके अंदरूनी भाग को चिकना करने के लिए जितना परिश्रम करना पड़ता था वह गहरी धार्मिक भावना के बिना असंभव था।

टिप्पणी

- **नगर निर्माण कला**–अशोक ने दो नए नगरों का निर्माण कराया श्रीनगर व देवपट्टन। इसके अतिरिक्त सुदर्शन झील का भी निर्माण इस युग में किया गया था।
- **स्तंभ कला**–पाषाणों से स्तंभों का निर्माण कराया गया। शिला स्तंभों अथवा लाट स्थूलाकार या पिडाकार एक विशालकाय पाषाण है। इन स्तंभों की लंबाई 40 फीट तथा इसका व्यास 3 फीट 7 इंच है। 150 फीट लंबे पाषाण स्तंभ पर आज सिह मूर्ति बनी हुई हैं। स्तंभों का भार 50 टन है। स्तंभों के 3 भाग थे– आधारपीठिका भाग पृथ्वी पर गढ़ा हुआ होता है तथा पशुपक्षियों व धर्मचक्र के सुंदर चित्र अंकित है। तना–भाग गोल पत्थर का बना सुंदर पॉलिश का बना होता था। इसकी मोटाई ऊपर की ओर कम होती जाती है। यह 50 फीट लंबा हाथी की सूड़ के समान होता था। शीर्ष भाग शीर्ष स्तर घंटा कृति हैं इसके ऊपर पशु–पक्षियों के चित्र अंकित हैं। स्मिथ ने कहा है– इतनी प्राचीन इतनी सुंदर पशुओं की मूर्तियां किसी देश में मिलना दुर्लभ है। स्तंभों की संख्या 40 है जिनमें प्रमुख–सारनाथ, सांची, रामपुरवा, रुम्मिन देई, निग्लिवा आदि हैं। स्मिथ लिखते हैं–उन्होंने वे कलाएं विकसित कर रखी थीं जिन्हें 20वीं सदी में निर्मित कर पाना शक्ति से बाहर है।

  वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में–नारी सौंदर्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति आकर्षक रूप, तिरछी आंखें लज्जावनत चेष्टाएं मूर्ति की खूबियां हैं। मौर्य कालीन विशिष्ट चमक इसके सौंदर्य रूप में चार चांद लगा देती है। इस मूर्ति की चिकनाहट और गतिशीलता इसे प्राणमय एवं सजीव बना देती है। मौर्य कालीन मूर्तिकला में धार्मिकता व यूनानी कला का मिश्रण था। मूर्तियां बलिष्ठ व स्थूलता से बनाई जाती हैं।

कुछ इतिहासकार मौर्य कला पर ईरानी प्रभाव मानते हैं। उन्होंने अपने तर्कों में कहा है कि अशोक के स्तंभों की घंटाकृति, स्तंभ व चमकदार पॉलिश आदि पर यूनानी प्रभाव था परंतु इसका खंडन अनेक इतिहासकारों ने किया है, उनका निम्न मत है–

1– मौर्य स्तंभ चमकदार पॉलिश द्वारा निर्मित व गोलाकार हैं जबकि यूनानी स्तंभों में पॉलिश का अभाव है।

2– अशोक स्तंभ एकाश्मक पत्थर के हैं जबकि पर्शियन पत्थरों के टुकड़ों से निर्मित हैं।

3– यूनानी कलाकृतियां मिस्त्री व राज मिस्त्री द्वारा बनाई जाती थीं जबकि वे अशोक के बढ़ई द्वारा बनाई जाती थीं।

इस तथ्य को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि मौर्य कला पर यूनानी प्रभाव नहीं था क्योंकि कलाकृतियों पर थोड़ा बहुत ईरानी प्रभाव परिलक्षित होता है। चमड़े की कला व महल बनाने की कला यूनानी व भारतीय कला का सम्मिश्रण था। डॉ. शास्त्री के शब्दों में– अशोक ने प्राचीन समस्याओं का डिजाइन तथा कुछ विदेशी उदाहरणों के आधार पर संभवतः उनका प्रारूप तैयार करने के लिए विदेशी कलाकारों को निपुण किया परंतु उनकी साज–सज्जा का निर्माण कार्य पूर्ण रूप से भारतीयों द्वारा तैयार किया गया तथा भारतीय कला की शुद्धता के इन स्मारकों को रखा गया।

मौर्य संस्कृति की सामाजिक स्थिति

मौर्य काल सांस्कृतिक उपलब्धियों व सामाजिक संगठन के लिए भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध था। इस काल में हमारी गौरवशाली संस्कृति प्रवाहमान रही।

टिप्पणी

इस युग में मनुष्य सुखी व समृद्धशाली थे। जीवन की आवश्यकताएं ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन की सुख सुविधाएं भी इन लोगों को प्राप्त थीं। सामाजिक दशा इस प्रकार थी–

1– **वर्ण व वर्णाश्रम व्यवस्था**–समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र के अनुसार– समाज 4 वर्णों में विभाजित था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, जबकि मैगस्थनीज ने लिखा है–भारतीय समाज 4 वर्णों में नहीं 7 जातियों में विभक्त था। ये जातियां–(1) कृषक (2) दार्शनिक (3) गोप शिकारी (4) मजदूर (5) क्षत्रिय (6) अध्यक्ष (7) मंत्री या सभासद। कोई भी व्यक्ति अपनी जाति व्यवसाय छोड़कर दूसरा कार्य नहीं कर सकता था, परंतु मैगस्थनीज द्वारा 7 जातियों का उल्लेख उचित प्रतीत नहीं होता परंतु इतना निश्चित था कि वर्ण व्यवस्था अत्यंत जटिल हो गई थी।

आश्रम व्यवस्था भी प्रचलित थी। जीवन को 4 आश्रमों में बांटा गया था– 1– ब्रह्मचर्य, 2– गृहस्थाश्रम, 3– वानप्रस्थाश्रम, 4– संन्यास। कौटिल्य के अनुसार–चारों वर्णों के लिए सत्य, सुचिता, अहिंसा, दया, क्षमा, धर्म व कर्तव्य आवश्यक था। दास प्रथा भी प्रचलित थी।

2– **विवाह**–पारिवारिक जीवन की आधारशिला विवाह था। विवाह का मुख्य उद्देश्य संतानोत्पत्ति था। बहुविवाह भी प्रचलित था। सामान्यतः एक जाति में ही विवाह होता था। विवाह एक प्रमुख संस्कार माना जाता था। विवाह 8 प्रकार के थे–(1) ब्रह्म विवाह (2) दैव विवाह (3) आर्य विवाह (4) प्रजापत्य विवाह (5) असुर विवाह (6) गंधर्व विवाह (7) राक्षस विवाह (8) पैशाच विवाह।

स्त्रियों की दशा वैदिक काल की अपेक्षा निम्न थी। सती प्रथा व विधवा विवाह का भी प्रचलन था। अरिस्तोबुलुस का मत है–पति की मृत्योपरांत स्त्रियां भी सहर्ष पति के शव के साथ जल जाया करती थीं या जला दी जाती थीं। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त नहीं थे। वेश्यावृत्ति के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। कौटिल्य के अनुसार–प्रत्येक वेश्या आय का एक भाग कर के रूप में देती थी। स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार था।

3– **मनोरंजन के साधन**–मनोरंजन के साधनों की प्रचुरता एवं विविधता से उनके लौकिक जीवन की समृद्धता स्पष्ट होती है। आखेट, मल्लयुद्ध, रथदौड़, घुड़दौड़, पशुओं की लड़ाई, नृत्य, चौपड़, संगीत इनके मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। लोग अनेक उत्सवों व समारोह आदि मनाते थे।

आर्थिक दशा

मौर्यकाल में जनता का आर्थिक जीवन अत्यंत विकसित हो गया था। कृषि उद्योग व व्यापार में अभूतपूर्व उन्नति हुई जिससे जनता की स्थिति सुदृढ़ हुई। तत्कालीन आर्थिक दशा निम्नवत थी–

1– **कृषि**–मौर्य काल में मुख्य व्यवसाय कृषि था। आर्थिक जीवन कृषि पर आधारित था। कृषि मुख्यतः गांवों में होती थी। तीन प्रकार की भूमि थी–(1) कृष्ट (जुती

टिप्पणी

हुई भूमि) (2) अकृष्ट (बिना जुती भूमि) (3) स्थल (इसके अंतर्गत बंजर भूमि आती थी)। प्रमुख फसलें गेहूं, चावल, मूंग, कपास व तिल थीं तथा भूमिकर 1/6 से 1/4 लिया जाता था। मैगस्थनीज ने लिखा है–भारत में कभी भी अकाल नहीं पड़ा था। अनाज कभी महंगे नहीं हुए। वर्ष में दो फसलें काटी जाती थीं। कृषक सुखी व समृद्ध थे।

2– **उद्योग धंधे**–मौर्य काल में उद्योग धंधे अत्यंत उन्नतशील थे। सर्वाधिक प्रसिद्ध वस्त्र उद्योग था। कौटिल्य के अनुसार–मौर्य युग में चीनी, रेशमी वस्त्र और देशी रेशमी वस्त्र में एक–दूसरे से काफी प्रतिद्वंद्विता थी। इसके अतिरिक्त धातुओं व हाथी दांत आदि के कार्य अत्यंत उन्नतशील थे। इसके अतिरिक्त कुंभकार, लौहकार, बढ़ई आदि ने भी अपने उद्योगों का विस्तार कर लिया था।

3– **व्यापार**–देशीय व विदेशी दोनों व्यापार होते थे। वस्त्र आभूषण कलाकृतियों, सुगंधित पदार्थ, घोड़े आदि का निर्यात किया जाता था। यूनानी लेखकों के अनुसार, भारत और यूनानी राज्यों का व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। भारत के लिए पाश्चात्य जगत के साथ व्यापारिक संबंध काफी महत्वपूर्ण व हितकर थे। जुलाहों, तेलियों, ठठेरों आदि के संघों का वर्ण है जिन्हें राजनीतिक व आर्थिक शक्तियां प्राप्त थीं। समृद्धशाली उद्योगों से आंतरिक और बाह्य व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था। भारत ऐश्वर्य एवं भोग विलास की वस्तुएं और सुंदर मलमल भी बाह्य देशों को भेजता रहा।

4– **उत्पादन का भौतिक और सामाजिक आधार**–प्रथम सहस्राब्दि ई.पू. के उत्तरार्द्ध में खेती के लिए लोहे का उपयोग होने लगा था। इसके परिणामस्वरूप काफी मात्रा में अधिशेष उत्पादन हुआ। इस अधिशेष से न केवल समाज का भौतिक आधार परिवर्तित हुआ, बल्कि नए सामाजिक वर्ग भी सामने आए। यह नया सामाजिक वर्ग मुख्य रूप से नए विकसित हो रहे शहरों में रहने लगा।

यूनानी लेखक एरियन के मत में शहर इतने अधिक थे कि उनकी सही संख्या बताना मुश्किल है। इस वक्तव्य से यह आभास होता है कि इस काल में शहरों की संख्या तेजी से बढ़ी होगी। मैगस्थनीज ने सुव्यवस्थित और सुगठित नगर प्रशासन की चर्चा की है, इस बात से भी इन नगरीय केंद्रों में बढ़ रही जनसंख्या का संकेत मिलता है। इन शहरों में रहने के नियम बड़े कड़े और कठोर थे। हालांकि इस काल की नगर योजना का कोई ठोस सबूत उत्खनन से प्राप्त नहीं हो सका ओर मौर्यकालीन वास्तुकला के अवशेष भी बहुत कम मात्र में प्राप्त हुए हैं, परंतु उत्तर प्रदेश और बिहार में हुए उत्खननों से प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि उस काल में इमारत बनाने के लिए पक्की ईंटों का उपयोग होता था। घर लकड़ियों से बनाए जाते थे। मैगस्थनीज ने मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र में बने लकड़ी के घरों की चर्चा की है। कुम्हरार (आधुनिक पटना) में हुई खुदाई के दौरान मौर्यकाल के खंभों वाले विशाल कक्ष के अवशेष प्राप्त हुए हैं। खुदाई के दौरान बहुत–सी मौर्यकालीन कड़ियां प्राप्त हुई हैं, जिन्हें लगाकर कुओं से पानी खींचा जाता होगा। इन कड़ियों का उपयोग घरेलू कार्य के लिए होता होगा। बाद के कई वर्षों में यह तकनीक देश के अन्य भागों में भी फैल गई। कुओं से पानी खींचने के लिए कड़ियों का उपयोग और पकी ईंटों का व्यापक प्रयोग इस काल में हुए भौतिक विकास को प्रमाणित करता है। इससे यह भी पता चलता है कि लकड़ी की प्राप्ति सुलभ थी। पकी ईंटों के उपयोग, उत्तरी काले

चमकीले मृदभांडों की प्राप्ति और अन्य अवशेषों से पता चलता है कि मौर्य साम्राज्य के नगर देश के विभिन्न भागों में स्थित थे।

टिप्पणी

गंगा घाटी में शहरों का उदय हुआ, भौतिक समृद्धि बढ़ी, इसका प्रमाण उपरिवर्णित भौतिक अवशेष हैं। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय तकनीकी आधार काफी मजबूत था। अतः डी.डी. कोसांबी और आर.एस. शर्मा ने जोरदार ढंग से यह तथ्य सामने रखा है कि यह तकनीकी आधार लोहे के अधिक उपयोग के कारण मजबूत हुआ। मगध साम्राज्य के आसपास (आज के दक्षिण बिहार के आसपास) लोहे की खानें थीं और महत्वपूर्ण जल और स्थल मार्ग पर उसका नियंत्रण था। उत्खनन के दौरान विभिन्न प्रकार के लोहे के औजारऋ जैसे मूठ वाली कुल्हाड़ी, हंसिया और शायद हल का फाल भी प्राप्त हुए हैं। इन औजारों की सहायता से पूर्वी गंगा घाटी के घने जंगलों को काटने में आसानी हुई होगी और कृषि क्षेत्र में कुशलता भी बढ़ी होगी। दक्षिण बिहार के लौह–क्षेत्र में लोहे के छोटे–छोटे टुकड़े बिखरे मिले हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि लोहा गलाने की तकनीक बहुत विकसित नहीं थी। इस काल की बहुत–सी स्थानीय भट्टियां प्राप्त हुई हैं, इससे मालूम होता है कि शायद आम आदमी भी लोहे का उत्पादन और उपयोग करता था। अर्थशास्त्र में इस बात का भी जिक्र है कि उस समय लोहा बनाने की उच्च कोटि की विभिन्न तकनीकों की भी जानकारी थी।

परंतु, गंगा घाटी से लोहे का प्रयोग देश के अन्य भागों तक नहीं फैला। मौर्य पूर्व और मौर्यकालीन अवशेषों से पता चलता है कि भारत के दूसरे हिस्से में भी लोहे का प्रयोग तथा उपलब्धता के प्रमाण अलग से मिले हैं। यह स्पष्ट है कि गंगा घाटी की मिट्टी भारी और दुम्मटी थी, इसलिए जुताई के लिए हल में भारी लोहे की जरूरत पड़ती थी। लोहे का उपयोग खेती के लिए किया जाता था, परंतु यह उपयोग यहीं तक सीमित नहीं था। लोहे के उपयोग पर राज्य का अधिकार था। अर्थशास्त्र में इस बात का जिक्र है कि कुछ खास किस्म के खननों पर राजा का एकाधिकार होना चाहिए। यह सलाह संभवतः इसलिए भी दी गई थी क्योंकि कुछ खास धातुओं का उपयोग सेना के लिए औजार बनाने के लिए किया जाता था। विकासशील खेतिहर समुदायों के लिए एक मजबूत तकनीकी आधार पर आवश्यकता तो होती है, साथ ही साथ सस्ती श्रम शक्ति की भी जरूरत होती है ताकि अनाज और अन्य वस्तुओं का उत्पादन किया जा सके। उत्पादन के सामाजिक आधार को जानने के लिए यह समझना जरूरी है कि इस श्रम शक्ति को कैसे संयोजित किया जाता था और इन पर नियंत्रण किस प्रकार रखा गया था? हम पहले इस बात का जिक्र कर चुके हैं कि गंगा घाटी में नए प्रकार की खेती, खासकर धान की खेती शुरू हुई। धान की खेती में श्रम–शक्ति की ज्यादा जरूरत पड़ती है, खासकर रोपाई और कटाई के समय। किसान को इस समय अपने परिवार के सदस्यों के अलावा अन्य लोगों की भी सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार की खेती इस काल के दौरान लोकप्रिय हो चुकी थी। हमें इस बात का भी पता चलता है कि इस काल में नई भूमि पर खेती के लिए काफी जोर दिया जाता था। निश्चित रूप से इन नई बस्तियों में श्रम–शक्ति का अभाव रहता होगा। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि किस प्रकार राज्य नई बस्तियां बसाने के लिए प्रोत्साहन देता था।

टिप्पणी

इस संदर्भ में इन इलाकों में शूद्रों को बसाने की बात भी की गई है। वैसे भी खेतिहर मजदूर अधिकतर शूद्र थे और उनसे ही शारीरिक श्रम का काम लिया जाता था। बहुल जनसंख्या वाले इलाकों या विजित राज्यों से उन्हें इन नई बस्तियों में लाया जाता था। कलिंग युद्ध के बाद लगभग डेढ़ लाख लोगों को नई बस्तियों में खेती के काम में लगाया गया था। अर्थशास्त्र में सलाह दी गई है कि इन बस्तियों में विदेशियों को भी बसाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। इसी प्रकार, बढ़ई और व्यापारी जैसे अन्य समुदायों को भी संभवतः बसाया गया होगा। नए इलाकों में बसने वाले शूद्रों को वित्तीय सहायता, पशुधन, बीज, औजार आदि प्रदान करने का प्रावधान था। अनजुती भूमि पर खेती करने के लिए यह एक प्रकार का प्रोत्साहन था। उजड़ी बस्तियों को भी इसी प्रकार आबाद किया गया। खेती की पैदावार को बढ़ाने के लिए ऐसा करना जरूरी था।

कई मामलों में नई बस्तियां सीधे राजा के नियंत्रण में होती थीं। इस प्रकार की राजकीय भूमि को सीता भूमि कहते थे। कभी–कभी यह जमीन गांव के पहले के अधिकारियों को जुताई के लिए दे दी जाती थी। अगर कोई किसान खेती में किसी प्रकार का ढीलापन दिखाता था और उसके कारण उत्पादन में कमी आती थी तो उसे दूसरी जगह भेज दिया जाता था। ये गांव राजकीय भूमि के हिस्से थे, अतः स्वाभाविक रूप से राजा और उनके अधिकारियों का उन पर सख्त नियंत्रण था।

इस प्रकार, मौर्य काल में खेती का व्यापक विस्तार हुआ। कच्चे माल और मानव–शक्ति पर नियंत्रण और उनके उपयोग के कारण यह विस्तार तेजी से हो सका।

कृषि अर्थव्यवस्था की सामान्य विशेषताएं

अर्थशास्त्र में स्थायी बस्तियां बसाने पर जोर दिया गया है ताकि कृषि अर्थव्यवस्था का विस्तार हो सके। इन बस्तियों से करों, खासकर भूमि–कर की प्राप्ति होती थी और ये राजकीय आय के स्थायी स्रोत थे। बस्तियां बसाने की इस प्रक्रिया को जनपद निवेश कहा जाता था, परंतु इसकी ठीक–ठीक प्रक्रिया क्या थी, यह स्पष्ट रूप से मालूम नहीं है। आर.एस. शर्मा के अनुसार, यह मान लेना उचित होगा कि इस प्रकार गंगा के मैदान के अधिकांश इलाकों में खेती की जाने लगी और इसके साथ–साथ दूरस्थ इलाकों में भी कृषि अर्थव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया जाने लगा होगा।

कृषि के विकास से किसान या जोतदार का महत्व धीरे–धीरे बढ़ने लगा। मैगस्थनीज भारतीय समाज पर टिप्पणी करता हुआ बताता है कि मौर्य समाज सात वर्णों में विभक्त था। इसमें दार्शनिक के बाद किसान का स्थान है, सैनिक तीसरे स्थान पर है। हालांकि उसका भारतीय समाज का विभाजन संबंधी दृष्टिकोण बिल्कुल सही नहीं है, परंतु यह महत्वपूर्ण बात है कि खेती में लगे किसानों की बड़ी संख्या ने उसका ध्यान आकृष्ट किया। यूनानी स्रोत, खासकर इस बात को रेखांकित करते हैं कि खेतिहरों के पास अस्त्र–शस्त्र नहीं होते थे। मैगस्थनीज यह बताता है कि युद्ध के दौरान किसानों को क्षति नहीं पहुंचाई जाती थी, परंतु इस कथन पर विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि कलिंग युद्ध में मरने वालों की जो संख्या अशोक के अभिलेख में बताई गई है, उसमें काफी कृषक भी शामिल होंगे।

इन इलाकों में निश्चित रूप से स्वामित्व, जोत नीलामी और बिक्री पर राजा और राज्य का लगभग पूर्ण अधिकार था। वस्तुतः अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष या कृषि

टिप्पणी

निरीक्षक का जिक्र है, जो शायद इन इलाकों में कृषि कार्य का निरीक्षण करता होगा। ये इलाके निश्चित रूप से उपजाऊ होंगे और इनमें काफी उपज होती होगी। इन राजकीय खेतों के उद्‌भव के बारे में कुछ कह पाना मुश्किल है। यह संभव है कि पूर्व–मौर्य काल में ये खेत भूमिधारकों के निजी नियंत्रण में रहे होंगे। इन्हीं इलाकों में खेती के लिए राज्य के निरीक्षण में दासों को नियुक्त किया गया होगा। अर्थशास्त्र में विस्तार से तृतीय तकनीक के विकसित ज्ञान का उल्लेख किया गया है। यह भी संभवतः इसी प्रकार के खेतों के संदर्भ में वर्णित है।

मौर्य साम्राज्य के अन्य खेतिहर इलाकों को जनपद राज्य–क्षेत्र कहा जाता था। इन इलाकों में संभवतः निजी तौर पर लोग खेती करते थे। जातक कथाओं में बार–बार गृहपति और ग्रामभोजकों की चर्चा आती है। ये भूमिपति थे, जो अपनी जमीन पर खेती करने के लिए मजदूर की नियुक्ति करते थे। दूसरी तरफ, मजदूरों की स्थिति बहुत दयनीय थीं, कहीं–कहीं दासों का भी जिक्र हुआ है। सीता और जनपद दोनों तरह के इलाकों में राजा व्यक्तिगत जमीन रख सकता थाऋ परंतु कहीं भी इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। इस तरह, हालांकि संपूर्ण भारत के भूमि–स्वामित्व के सभी पहलुओं पर विस्तार से चर्चा नहीं की जा सकती है परंतु यह कहा जा सकता है कि गंगा घाटी में ही विभिन्न प्रकार की स्वामित्व–प्रणालियां कायम थीं, इसके कारण स्वाभाविक रूप से खेती की विभिन्न व्यवस्थाएं और कृषि विकास के कई स्तर सामने आए।

अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार की कृषि व्यवस्था की चर्चा की गई है, जिनका निरीक्षण अधिकारीगण किया करते थे। इसके अंतर्गत ऐसी भूमि की चर्चा की गई है, जिन पर राज्य अथवा राजा का सीधा नियंत्रण था। इसके अतिरिक्त जमीन और मकान की बिक्री का भी जिक्र किया गया है। इससे पता चलता है कि एक व्यक्ति जमीन का मालिक हो सकता था, परंतु वह उतनी ही जमीन अपने अधिकार में रख सकता था, जितनी वह खुद बो सके।

राज्य–स्वामित्व वाली भूमि में खेती की सफलता का महत्वपूर्ण कारण था राज्य द्वारा सिंचाई की सुविधा प्रदान करना। खेतिहरों की भलाई के लिए जल–आपूर्ति संबंधी कुछ नियम बनाए गए थे। मैगस्थनीज बताता है कि जमीन मापने और खेत में पानी पहुंचाने वाली नालियों का निरीक्षण करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि जहां राज्य द्वारा सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी, एक नियमित जल–कर वसूल किया जाता था। यह कुल उत्पादन का पांचवां, चौथाई या तिहाई हिस्सा होता था। चूंकि यह कर केवल सिंचित भूमि पर लगाया जाता था, अतः इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि राज्य कम वर्षा वाले क्षेत्र में ही सिंचाई सुविधा उपलब्ध करवाता था ताकि इन इलाकों में सिंचाई की नियमित आपूर्ति से अच्छी फसल प्राप्त की जा सके। चंद्रगुप्त मौर्य के एक राजपाल पुष्यगुप्त ने गिरनार के निकट सौराष्ट्र में एक बांध बनवाया था, जिससे एक विशाल झील तैयार हो सके। यह सुदर्शन तड़ग झील के नाम से जाना जाता है। यह झील काफी प्रसिद्ध है। यह झील आठ सौ वर्षों यानी पांचवीं शताब्दी ई. तक सिंचाई का स्रोत बनी रही।

भू–राजस्व संगठन

यूनानी लेखक बताते हैं कि कुछ गांव कर से मुक्त थे। परंतु ऐसे गांव अपवाद थे और वस्तुतः ये ऐसे गांव थे, जिनसे सैनिकों की नियुक्ति की जाती थी। यह भी अनुमान

टिप्पणी

लगाया जाता है कि नई भूमि पर खेती को प्रोत्साहित करने के लिए एक सीमित समय के लिए कुछ गांवों को कर से मुक्त रखा जाता होगा।

मौर्य राज्य की आमदनी का स्थायी और अनिवार्य स्रोत भू–राजस्व ही हो सकता था। अतः लोगों से अधिक से अधिक कर वसूलने के लिए भू–राजस्व प्रणाली को सुव्यवस्थित किया गया। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि प्राचीन भारत की कर–व्यवस्था के क्षेत्र में मौर्य शासन एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मौर्य शासक भू–राजस्व के निर्धारण पर विशेष बल देते थे और करों का लेखा–जोखा रखने के लिए अलग से एक विभाग था, जिसका प्रमुख अधिकारी समाहर्ता कहलाता था। कोषाध्यक्ष सन्निधाता के नाम से जाना जाता था। चूंकि राजस्व वस्तु के रूप में भी प्राप्त किया जाता था। अतः इस प्रकार की आय को संग्रहीत करना सन्निधाता का ही कार्य था।

यूनानी लेखकों के अनुसार, किसान कर के रूप में कुल उपज का चौथाई हिस्सा राज्य को देते थे। उनके अनुसार किसान नजराना भी देते थे। भूमि कर (भाग) राजस्व का प्रमुख आधार था। ग्रंथों में प्राप्त विवरण के अनुसार, भाग कर कुल उपज का छठा हिस्सा होता था, लेकिन ऐसा अनुमान है कि मौर्य काल में यह हिस्सा चौथाई तक पहुंच गया था। अशोक लुम्बिनी शिलालेख में कहता है कि बुद्ध के जन्म स्थल लुम्बिनी की यात्र के दौरान उसने उस गांव को बलि कर से मुक्त कर दिया था और भाग कर को घटाकर कुल उपज का आठवां हिस्सा कर दिया। यहां ध्यान देने योग्य बात है कि बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा रखने के बावजूद अशोक ने उस गांव (लुम्बिनी) को पूर्णतया कर मुक्त नहीं किया।

भू–राजस्व का एक प्रचलित तरीका था–बटाई। बटाईदारों को पहले बीज, हल–बैल आदि और खेती के लिए जमीन दी जाती थी। इस मामले में कृषक संभवतः कुल उपज का आधा हिस्सा राज्य को दे देता था।

इन करों के अतिरिक्त किसानों को दूसरे कई प्रकार के नजराने पेश करने पड़ते थे। मौर्यों ने कुछ नए कर शुरू किए और पहले से लगे करों को और भी प्रभावी बनाया। पिड कर एक प्रकार का रिवाजी कर था, जो किसानों से समय–समय पर लिया जाता था। इस कर का निर्धारण सामूहिक रूप से होता था, जिसमें कई गांव शामिल होते थे। अक्सर गांवों को उनके क्षेत्र से गुजरती हुई राजकीय सेना के लिए खाद्य सामग्री की व्यवस्था करनी पड़ती थी। हिरण्य नामक कर के स्वरूप के बारे में ठीक से पता नहीं है, परंतु संभवतः यह एक प्रकार का नकद कर था। वैदिक काल से चला आ रहा बलि कर मौर्यों के अधीन भी कायम रहा। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने जिन करों का जिक्र किया है, उनसे कृषकों पर अतिरिक्त भार ही पड़ता होगा। अर्थशास्त्र में इस बात की भी सलाह दी गई है कि यदि इसके बावजूद राज्य को अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए और अधिक करारोपण करना पड़े तो आपात स्थिति के दौरान लागू किए जाने वाले करों की सहायता ले सकता है। इस प्रकार के करों में प्रमुख है युद्ध कर, जिसे प्रणय कहा जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है प्रेम से दिया गया उपहार। इस कर का उल्लेख सबसे पहले पाणिनी ने किया था, परंतु पहली बार विस्तार से इसका विवरण अर्थशास्त्र में ही मिलता है। यह कुल उपज का एक–तिहाई या एक–चौथाई होता था तथा यह हिस्सा भूमि की उर्वरता पर निर्भर था। इस कर का उल्लेख करते हुए प्रायः इसे स्वेच्छा से दिया जाने वाला कर

टिप्पणी

बताया जाता है, परंतु यथार्थ में यह निश्चित रूप से अनिवार्य कर हो गया होगा। इसके अतिरिक्त आपातकाल में किसानों को दो फसल उगाने के लिए बाध्य किया जा सकता था। इस बात पर बार–बार बल दिया गया है कि अकाल के समय में इस प्रकार का कदम उठाना जरूरी हो जाता था, क्योंकि इस समय भू–राजस्व की वसूली काफी कम हो जाती होगी।

भू–राजस्व मौर्य अर्थव्यवस्था का आधार था, इसलिए अर्थशास्त्र में राज्य की राजस्व व्यवस्था पर काफी गंभीरता और सावधानीपूर्वक विचार किया गया है। काफी सूझ–बूझ के साथ भूमि की उर्वरता के आधार पर विभिन्न गांवों पर अलग–अलग कर लगाए जाने का प्रावधान रखा गया है। विभिन्न प्रकार के राजस्व वसूल करने वाले और उसका निर्धारण करने वाले अधिकारियों की इसमें विशेष रूप से चर्चा की गई है। अतः यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया जा सकता है कि मौर्य काल में करारोपण और वसूली की पद्धति सुदृढ़ थी और राज्य के बड़े हिस्से से अपार राजस्व वसूल किया जाता था। इसी राजस्व के बल पर सरकारी तंत्र और सेना का रख–रखाव संभव हो सका।

व्यापारिक संगठन

इस काल में व्यापार आकस्मिक रूप से विकसित नहीं हुआ। यह लंबे आर्थिक परिवर्तन का एक हिस्सा था, जिसकी शुरुआत मौर्य काल से काफी पहले हो चुकी थी। जातक कथाओं में बार–बार ऐसे व्यापारियों के काफिलों का जिक्र आता है जो काफी मात्र में सामान देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में पहुंचाते थे। मौर्य शासन द्वारा सुरक्षा प्रदान किए जाने के कारण आंतरिक व्यापार तेजी से फला–फूला। पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया को जाने वाले प्रमुख व्यापारिक मार्ग उत्तर पश्चिमी भारत से होकर गुजरते थे। उत्तरी भारत के प्रमुख व्यापारिक मार्ग गंगा नदी के किनारे–किनारे और हिमालय की तलहटी से गुजरते थे। मगध साम्राज्यों के प्रमुख केंद्र–राजगृह और कौशाम्बी (इलाहाबाद के निकट)–इस प्रकार आपस में जुड़े हुए थे। मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र बड़े महत्वपूर्ण स्थल पर बसी हुई थी, जहां से यह चारों ओर से नदी और स्थल मार्ग से जुड़ी हुई थी। उत्तरी मार्ग वैशाली होता हुआ श्रावस्ती और कपिलवस्तु तक जाता था। कपिलवस्तु से यह मार्ग कलसी, हजारा होता हुआ पेशावर तक जाता था। मैगस्थनीज ऐसे मार्ग की भी चर्चा करता है, जो उत्तर–पश्चिमी प्रदेश को पाटलिपुत्र से जोड़ता था, दक्षिण की ओर पाटलिपुत्र एक मार्ग द्वारा मध्य भारत तक और दक्षिण–पूर्व में कलिंग तक जुड़ा हुआ था। यह पूर्वी मार्ग अंततः दक्षिण की ओर मुड़ जाता था और आंध्र तथा कर्नाटक तक पहुंचता था। पूर्वी मार्ग का दूसरा हिस्सा गंगा डेल्टा होता हुआ ताम्रलिप्ति तक पहुंचता था, जहां से दक्षिण और दक्षिण–पूर्व इलाके तक जाया जा सकता था। कौशाम्बी से पश्चिम की ओर एक रास्ता उज्जैन तक जाता था। यह रास्ता और आगे पश्चिम में गुजरात के समुद्र तट तक नर्मदा के दक्षिण पश्चिम तक जाता था, जिसे दक्षिणपथ यानी दक्षिणी रास्ता के नाम से जाना जाता था। पश्चिम एशिया के देशों का रास्ता तक्षशिला (इस्लामाबाद के निकट) होकर जाता था।

नई बस्तियों के विस्तार से लोगों का आवागमन बढ़ा और इसके परिणामस्वरूप भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में संचार कायम हुआ। इससे स्वाभाविक रूप से

टिप्पणी

व्यापार में वृद्धि हुई। राज्य के प्रयत्न से गंगा घाटी के वन काटे गए और इस प्रकार तटों के साफ हो जाने से नदी के यातायात में तेजी आई। बिदुसार और अशोक के शासनकाल में शांति की नीति अपनाई गई और यूनानियों से मित्रतापूर्ण संबंध कायम किया गया इससे विदेशी व्यापार में भी वृद्धि हुई।

व्यापार के अनेक तरीके विकसित थे। यह सहज रूप से उत्पादन के तरीके और इसके संगठन से जुड़ा हुआ था। उत्तर भारत में कारीगर उत्पादन या हस्तशिल्प उद्योग श्रेणियों के आधार पर संगठित था। यह व्यवस्था मौर्य काल के पहले से चली आ रही थी। मौर्यों के अधीन शिल्पियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। प्रत्येक श्रेणी नगर के एक भाग में बसी हुई थी जिससे एक श्रेणी के सदस्य एक साथ रह सकते थे और कार्य कर सकते थे। आमतौर पर उनमें पारिवारिक संबंध पाया जाता था। ज्यादातर पुत्र अपने पिता के व्यवसाय को अपनाते थे और इस प्रकार हस्तशिल्प अधिकांशतया वंशानुगत होता था। उस काल के अभिलेखों में इस बात का उल्लेख है कि मौर्य काल के बाद ये श्रेणियां काफी शक्तिशाली हो गईं। मैगस्थनीज ने भी श्रेणियों की गणना सात जातियों–वर्गों में की है। इस काल की श्रेणियों में प्रमुख थे– विभिन्न प्रकार के धातुकर्मी, बढ़ई, कुंभकार, चर्मकार, चित्रकार, बुनकर आदि। उत्तरी काली पॉलिश के बर्तन हस्तशिल्प के उत्तम नमूने हैं। यह बर्तन बनाने का विशिष्ट हस्तशिल्प था और गंगा घाटी के बाहर कम ही पाया जाता है। इससे पता चलता है कि देश के इस भाग में यह तकनीक विकसित हुई और शायद यह एक विशेष प्रकार की मिट्टी से ही बनाया जा सकता था।

शिल्पी के समान व्यापारी भी श्रेणियों में विभक्त थे। व्यापारियों का एक समूह किसी खास शिल्पी समुदाय से जुड़ा होता था, जिससे वितरण में सुविधा होती थी। वे भी शहर के किसी खास हिस्से में रहते थे, जो बाद में उनके व्यवसाय से संबद्ध हो गया।

यह ध्यान देने की बात है कि मौर्यों के शासनकाल में राज्य प्रशासन ने व्यापार के संगठन पर भी ध्यान दिया। इस प्रकार के प्रशासनिक नियंत्रण से उत्पादन और व्यापार में काफी सुधार हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रशासन ने प्रत्यक्षतः श्रेणी संगठन में हस्तक्षेप किया और उसे बदलने की कोशिश की। राज्य का नियंत्रण वस्तुओं के वितरण पर होता था और यहां तक कि राज्य खुद उत्पादक भी बना। दूसरे स्तर पर इसने कुछ शिल्पों को कुछ–कुछ लघु उद्योग के रूप में विकसित किया। इस क्रम में उसने अस्त्र बनाने वाले, जहाज बनाने वाले, पत्थर काटने वाले आदि शिल्पियों को सीधे नियुक्त किया। इन्हें कर नहीं देना पड़ता था क्योंकि ये राज्य को अनिवार्य श्रम सेवा अर्पित करते थे, परंतु अन्य शिल्पियों जैसे सूत कातने वाले, बुनकर तथा खानों आदि में काम करने वालों को कर देना पड़ता था।

व्यापार और वस्तु उत्पादन को व्यवस्थित करने के सारे कार्य राज्य नीति का हिस्सा थे। आर्थिक गतिविधियों और राजस्व पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखने के लिए राज्य को यह नीति अपनानी पड़ी। मैगस्थनीज ने वाणिज्य अधीक्षक का जिक्र किया है, जो वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था और बाजार में किसी वस्तु की मात्रा, बहुत अधिक आ जाने की स्थिति में हस्तक्षेप भी करता था। अर्थशास्त्र में उसका उल्लेख पण्याध्यक्ष के रूप में हुआ है। इसमें कई ऐसे अधिकारियों का जिक्र

टिप्पणी

है, जो विभिन्न आर्थिक गतिविधियों की देख–रेख करते थे। समस्याध्यक्ष बाजार की निगरानी करता था और व्यापारियों पर नियंत्रण रखता था। पौटवाध्यक्ष या माप–तौल अधीक्षक माप–तौल के स्तर पर सख्त नियंत्रण रखता था। नावाध्यक्ष के अधीन राज्य की नावें रहती थीं, जिनसे यातायात होता था। वह नदी यातायात पर नियंत्रण रखने में सहायता प्रदान करता था और उतराई भी वसूल करता था। सभी व्यापारियों को कर और चुंगी शुल्क देना पड़ता था। यह शुल्क वस्तु के मूल्य के 15वां हिस्से से 25वें हिस्से तक होता था। इस शुल्क की वसूली का काम शुल्काध्यक्ष करता था।

राज्य द्वारा उत्पादित वस्तुओं की देख–रेख दूसरे अधिकारीगण किया करते थे। इस प्रकार की वस्तुओं को राजपण्य कहते थे। राज्य उसी वस्तु के उत्पादन में हाथ लगाता था जो उसके काम–काज के लिए अनिवार्य था और जिनसे अच्छा राजस्व प्राप्त हो सकता था। कभी–कभी राज्य की वस्तुएं निजी व्यापारियों द्वारा भी वितरित की जा सकती थीं, क्योंकि उनकी वितरण–व्यवस्था सुव्यवस्थित थी और काफी दूर तक फैली हुई थी। इन परिवर्तनों के बावजूद यह कहना गलत नहीं होगा कि अधिकांश शिल्पी या तो निजी तौर पर या श्रेणी–व्यवस्था के अंतर्गत काम करते रहे। ये श्रेणियां इन उत्पादकों के बीच सौहार्द–स्थापित करने का काम करती थीं, साथ ही साथ उन पर नियंत्रण भी रखती थीं। यहां तक कि शिल्पी भी श्रेणी में शामिल होना फायदेमंद मानते थे, क्योंकि अकेले काम करने में खर्च अधिक आता था और प्रतियोगिता काफी बढ़ जाती थी। राज्य को भी इन श्रेणियों से कर वसूलने में सुविधा होती थी। अंततः स्थानीय तौर पर केंद्रित होने और एक खास शिल्प में विशेषज्ञता हासिल करने के कारण उस व्यापार विशेष में खूब तरक्की हुई, परंतु इस काल में श्रेणियां संपूर्ण भारत में नहीं फल–फूल रही थीं। खासकर दक्षिण में, मौर्य काल के बाद भी उनका उल्लेख मुश्किल से मिलता है। श्रेणियों के विकास के लिए शहरी वातावरण अधिक उपयुक्त था।

मौर्यकालीन भारत में सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक परिवर्तन

कृषि, व्यापार और उद्योग पर राज्य का नियंत्रण मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि राज्य के निर्वाह के लिए विभिन्न प्रकार के करारोपण आवश्यक थे। मौर्य साम्राज्य को सुव्यवस्थित रूप में चलाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्रोतों की आवश्यकता थी। मगध और उसके आसपास के इलाकों से प्राप्त स्रोत साम्राज्य के कार्यकलापों के लिए पूरे नहीं पड़ते थे। अतः देश के दूसरे प्रदेशों के स्रोतों पर नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की गई। इसके लिए कलिंग, कर्नाटक के पठार और पश्चिम भारत का उदाहरण लिया जा सकता है, जहां अशोक के अभिलेख पाए जाते हैं। इस प्रकार के सुदूर प्रदेशों की कुछ खास आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए मौर्य शासक विभिन्न पद्धतियां अपनाते थे। यह पद्धति उस प्रदेश से प्राप्त स्रोतों पर आधारित होती थी। उदाहरणस्वरूप कलिंग की विजय से मौर्यों को एक उर्वर कृषि भूमि मिली और उन मार्गों पर नियंत्रण स्थापित हो सका, जो दक्षिण में स्थित खानों तक जाते थे। इसी प्रकार कर्नाटक पर कब्जा जमाने का मूल उद्देश्य सोने और बहुमूल्य रत्नों के स्रोतों पर अधिकार प्राप्त करना था।

जिन इलाकों में मौर्य अभिलेख प्राप्त नहीं हुए हैं, उन इलाकों पर आर्थिक नियंत्रण किस प्रकार का था? रोमिला थापर का विचार है कि ऐसे क्षेत्रों में मौर्यों के

टिप्पणी

राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण का आकलन मुश्किल है। उत्तरी दक्कन, पंजाब, सिंध और राजस्थान इसी प्रकार के इलाके थे। इनमें से जिन इलाकों में मौर्यों का प्रभाव था, वहां भी बड़े पैमाने पर किसी प्रकार के फेर–बदल का प्रयत्न नहीं किया गया। मौर्यों का मुख्य उद्देश्य स्रोतों का दोहन था और वह इसके लिए क्षेत्र विशेष के प्रभावशाली वर्ग पर निर्भर रहते थे। यह ध्यान देने की बात है कि इस काल में गंगा घाटी के बाहर अधिकांश प्रदेशों में आर्थिक विकास का स्तर एक–सा नहीं था। इस असमान विकास के कारण इन सभी क्षेत्रों में कोई मूलभूत परिवर्तन लाना और पुनर्रचना करना काफी कठिन काम था।

अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों में जनजातियों या कबीलों (अतविक, अरण्यकार) का जिक्र हुआ है, जो साम्राज्य के कई हिस्सों में बसे हुए थे। अन्य इलाकों की तरह इनके इलाके विकसित नहीं थे। कौटिल्य ने राज्य को सुझाव दिया कि इन कबीलों को व्यवस्थित कृषि जीवन की ओर उन्मुख किया जाना चाहिए। उसने अर्थशास्त्र में पूरे एक अध्याय में कबीलाई व्यवस्था को भंग करने और उसके लिए सही और गलत–सभी तरह के तरीके अपनाने की सलाह दी है। अधिक से अधिक भूमि पर खेती करने के लिए आवश्यक था कि पांच से दस परिवारों के एक समूह को एक साथ स्थाई तौर पर बसाया जाए। अशोक इन कबीलों को एक पिता की निगाह से देखता था, परंतु वह उन्हें एक जगह चेतावनी भी देता है कि अगर उन्होंने महामात्यों के आदेश का पालन न किया तो उन्हें सख्त सजा दी जाएगी। जंगल में रहने वाले इन कबीलों पर नियंत्रण दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण था–

1– पहला, नई खेतिहर बस्तियों की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि कबीले उनके आर्थिक विकास में बाधा न पहुंचाए।

2– दूसरे, ज्यादातर व्यापार मार्ग कबीलाई क्षेत्रों के बगल से या उनसे होकर गुजरते थे। अतः इन क्षेत्रों पर नियंत्रण आवश्यक था।

यह बता पाना तो मुश्किल है कि कितने कबीलाई समूह कृषक बन पाए, परंतु यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रक्रिया को राज्य ने बढ़ावा दिया। भारत के विभिन्न भागों के पुरातात्विक प्रमाण बताते हैं कि बहुत से ऐसे इलाके थे, जो इस युग में पुरी तरह शहरी केंद्र के रूप में विकसित नहीं थे। तीसरी शताब्दी ई. पू. के महापाषाणीय स्थलों, दक्कन और दक्षिण भारत के कई हिस्सों को देखने से पता चलता है कि वहां खेती आरंभिक अवस्था में थी, चरवाहे समुदायों का अस्तित्व था और शिल्प उद्योग की सीमित जानकारी थी।

तीसरी शताब्दी ई.पू. में भारत जैसे विशाल देश में पूर्ण रूप में परिवर्तन लाना संभव भी नहीं था, परंतु मौर्य शासन के दौरान कुछ भौतिक और सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों की शुरुआत हो चुकी थी, जो आगे की शताब्दियों में फलीभूत हुई।

मौर्य साम्राज्य के कई क्षेत्रों, जैसे उत्तरी और पश्चिमी बंगाल, कलिंग, दक्कन और इनके दक्षिण प्रदेश में आरंभिक ऐतिहासिक सांस्कृतिक पद्धति की शुरुआत मौर्यकाल या मौर्यकाल के बाद की अवधि से मानी जाती है। इसका अर्थ यह है कि मौर्यकाल और मौर्यकाल के बाद प्रभावकारी मानवीय बस्तियों (जैसे शहरों और नगरों) का विकास हुआ है, जिसमें विभिन्न सामाजिक समूह रहा करते थे। वे सिक्कों का उपयोग करते थे। उनकी एक लिपि थी और काफी मात्र में वे परिष्कृत वस्तुओं का

टिप्पणी

सेवन करते थे। भौतिक जीवन में ही नहीं अपितु सामाजिक संगठन और विचारों में भी बदलाव आया। सामाजिक संगठन में अधिक जटिलता आई। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक समूहों के बीच और अंततः एक संस्था के रूप में राज्य में अलगाव पैदा हुआ। मौर्यों के बाद कई क्षेत्रों में स्थानीय राज्य विकसित हुए। यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि मगध साम्राज्य के संपर्क में आने वाले भारत के अनेक हिस्सों में सामाजिक–आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया शुरू हुई जो समाज में हो रहे अधिशेष उत्पादन से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी।

धार्मिक जीवन

जिस समय भारत के राजनीतिक नभ मंडल पर मौर्य साम्राज्य रूपी सूर्य उदित हो रहा था, उसी समय भारत के धार्मिक विचारों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। इस युग में ब्राह्मण धर्म का प्राधान्य अधिक था। वैदिक देवी–देवताओं की उपासना अभी भी प्रचलित थी। इंद्र, वरुण, स्कंध, शिव, विष्णु आराध्य देव थे। यज्ञादि व अनुष्ठान व्यक्ति अपने उद्धार हेतु करता था। इसके अतिरिक्त अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन देने से यह धर्म भी बहुत विकसित हुआ। बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के अतिरिक्त जैन धर्म, आजीवक संप्रदाय भी प्रचलित थे। एक अन्य दूसरा संप्रदाय जिसका नियमित रूप से उत्कर्ष हो रहा था, वह था भागवत धर्म, जिसने भक्ति पर अधिक जोर दिया। इसके साथ ही ब्राह्मण धर्म की एक शाखा शैव मत भी प्रगति पर था।

चंद्रगुप्त मौर्य

चंद्रगुप्त मौर्य, मौर्य वंश का संस्थापक था। इसके प्रारंभिक जीवन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। महावंश टीका से पता चलता है कि चंद्रगुप्त का जन्म 345 ईसा पूर्व मौर्य वंश के क्षत्रिय कुल में हुआ था। इसके पिता मौर्य नगर के राजा थे। एक राजा ने मौर्य नगर पर आक्रमण किया और मौर्य राजा को मार डाला उसकी विधवा पत्नी रक्षा हेतु अपने भाई के यहां रहने लगी। वहीं चंद्रगुप्त का जन्म हुआ। सुरक्षा विचार से चंद्रगुप्त को एक ग्वाले को दे दिया गया। उसने एक शिकारी को इस बालक को बेच दिया। वह बालकों का नेता था। चाणक्य ने चंद्रगुप्त की प्रतिभा से प्रभावित होकर 1000 कार्षापण में चंद्रगुप्त को खरीद लिया। उस समय चंद्रगुप्त की आयु 8 से 9 वर्ष की थी। चाणक्य चंद्रगुप्त की प्रतिभा से अत्यधिक प्रसन्न था अतः वह चंद्रगुप्त को अपने साथ ले आया तथा उसे हर प्रकार की शिक्षा देकर पारंगत कर राजा बना दिया। कुछ विद्वानों का मानना है कि वह गांव प्रधान का पुत्र था तथा उस गांव में मोरों की संख्या अधिक थी जिससे यह मौर्य कहलाए।

चंद्रगुप्त मौर्य की दिग्विजय–चंद्रगुप्त मौर्य एक महान सेनानायक एवं कुशल योद्धा था। चंद्रगुप्त की प्रतिभा, महत्वाकांक्षी व्यक्तित्व व चाणक्य की प्रगाढ़ कूटनीति का ज्ञान किसी भी विरोधी शक्ति का सामना करने को तैयार था। 322 ईसा पूर्व सिहासनासीन होने के पश्चात उसने अनेक युद्ध लड़े जो निम्नांकित हैं–

- मगध पर आक्रमण–चंद्रगुप्त ने मगध पर अपना प्रथम अभियान किया था। महावंश टीका के अनुसार, चंद्रगुप्त ने शक्तिशाली सेना एकत्रित कर मगध पर आक्रमण किया परंतु मगध के लोगों ने विद्रोह कर दिया। चंद्रगुप्त व चाणक्य ने वहां से भागकर एक महिला के घर में शरण ली। वहां एक महिला अपने

टिप्पणी

बच्चे को खाना खिला रही थी। बच्चे ने रोटी के बीच के भाग को खाने की चेष्टा की जिससे उसका मुंह जल गया तब उस महिला ने कहा–तुमने चंद्रगुप्त की ही तरह गलती की है। उसने सीमाप्रांतों को अधीन किए बिना ही राज्य के मध्य ग्रामों और नगरों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया इसीलिए जनता उसके विरुद्ध हो गई। ऐसा करना उसकी मूर्खता का प्रतीक है। यह सुनकर चंद्रगुप्त को अपनी गलती का अहसास हुआ और उन्होंने पुनः अपनी सेना संगठित की।

- पश्चिमोत्तर भारत से विदेशी सत्ता का उन्मूलन–प्रथम अभियान में पराजय के पश्चात चंद्रगुप्त ने व्यवस्थित ढंग से आक्रमण किया। वह पंजाब पर अधिकार करना चाहता था परंतु वहां से यूनानियों को हटाना आवश्यक था। अतः चंद्रगुप्त ने अनेक कार्य किए जैसे धन प्राप्ति हेतु प्रयास किया, अपनी सेना में वृद्धि हेतु अनेक जातियों के योद्धाओं को शामिल किया तथा जनता को विदेशी शासन के विरुद्ध भड़काकर जनमत प्राप्त किया। जस्टिस का मत है, ''चंद्रगुप्त ने विभिन्न स्थानीय लोगों को अपनी सेना में भर्ती किया जिन्हें वह चोर डाकू की संज्ञा देता है।''
- सिकंदर व चंद्रगुप्त–सिकंदर ने भारत के अनेक भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था अतः चंद्रगुप्त उससे भेंट करना चाहता था। परंतु सिकंदर से भेंट के समय चंद्रगुप्त की धृष्टता के परिणामस्वरूप सिकंदर ने मृत्यु का आदेश दिया कितु चंद्रगुप्त वहां से भाग निकला। उपर्युक्त घटना के प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं।
- पर्वतक से संधि–मगध पर आक्रमण के लिए उसने पर्वतक नामक राजा से संधि की। पर्वतक ने उसे बहुत सहायता प्रदान की परंतु कुछ समय पश्चात चंद्रगुप्त ने विषकन्या द्वारा पर्वतक की हत्या करवा दी।
- मगध विजय–शक्तिशाली सेना संगठित कर चंद्रगुप्त ने मगध पर आक्रमण कर दिया। उस समय मगध का सम्राट धनानंद था। चंद्रगुप्त ने धनानंद को पराजित कर उसके वंश को समाप्त कर दिया। मुद्राराक्षस के अनुसार, इस युद्ध में चाणक्य ने नवनंदों की हत्या करवाई तथा अंतिम प्रतिनिधि की हत्या करवाकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। धनानंद की हत्या के पश्चात चंद्रगुप्त स्वयं मगध का सम्राट बन गया।
- सेल्यूकस से युद्ध–सेल्यूकस सिकंदर का सेनापति था। वह सिकंदर की ही भांति वीर व महत्वाकांक्षी था। वह सिकंदर द्वारा विजयी क्षेत्रों पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था अतः उसने चंद्रगुप्त पर आक्रमण किया, कितु पराजित हुआ। वी.सी. पांडेय लिखते हैं– सेल्यूकस ने जब भारत पर आक्रमण किया उस समय महापराक्रमी चंद्रगुप्त का शासन स्थापित हो चुका था जो युगप्रवर्तक कूटनीतिज्ञ चाणक्य की चिरबुद्धि से संरक्षित था। इसमें चंद्रगुप्त को विजय प्राप्त हुई । अंततः दोनों की संधि हो गई।

  संधि की शर्तें–

  1– सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त को 500 हाथी भेंट स्वरूप दिए।

  2– सेल्युकस ने अपनी पुत्री हेलना का विवाह चंद्रगुप्त से करना स्वीकार किया।

टिप्पणी

डॉ. ईश्वरी प्रसाद इस विवाह को प्रथम अंतर्राष्ट्रीय विवाह मानते हैं।

3– सेल्यूकस ने 4 प्रदेश गडरोसिया, आर्कोसिया, एरिया, परिपनसदी चंद्रगुप्त को दिए। स्मिथ के अनुसार, 2000 साल से अधिक हुए जब भारत के प्रथम सम्राट जिसने एक वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था जिसके लिए ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते थे।

4– मैगस्थनीज को यूनानी राजदूत के रूप में भारत भेजा जिसने इंडिका की रचना की थी।

- पश्चिमी भारत पर विजय–चंद्रगुप्त ने पश्चिमी भारत पर विजय प्राप्त कर अपने साम्राज्य में वृद्धि की जिसमें गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, काठियावाड़ अत्यंत महत्वपूर्ण थे। मुद्राराक्षस में लिखा है–हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के राजा भयभीत और नतशीश होकर चंद्रगुप्त के चरणों में शीश झुकाया करते थे। जूनागढ़ अभिलेख में चंद्रगुप्त द्वारा सुदर्शन झील के निर्माण के प्रमाण मिलते हैं।
- दक्षिण भारत पर विजय–दक्षिण राज्य, चेर, चोल, पाण्डय राज्यों को जीतकर चंद्रगुप्त ने राजनीतिक एकता स्थापित की। महावंश टीका में लिखा है–'सकले जम्बूद्वीप रज्जे सामिभिसिचि सो।' इस प्रकार चंद्रगुप्त ने संपूर्ण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर भारत को एकता के सूत्र में बांध दिया। डॉ. चौधरी ने लिखा है– इस महायोद्धा ने जहां एक ओर कुख्यात शासन से मुक्त किया तो वहीं दूसरी ओर विदेशी दासता से मुक्ति दिलाई। उसकी राजनीतिक एवं सैनिक सफलताएं महान हैं।

चंद्रगुप्त अपने अंतिम समय में जैन धर्मावलंबी भद्रबाहु के श्रवणवेलगोला चला गया जहां 298 ईसा पूर्व में इस महान सम्राट की मृत्यु हो गई।

अर्थव्यवस्था का विकास

मौर्य काल में अधिकांशतः शिल्पी, व्यापारी और सरकारी कर्मचारी रहते थे। अर्थव्यवस्था का निर्माण सामान के निर्माताओं और व्यापारियों की गतिविधियों पर आधारित होता था। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में व्यापारिक लेन–देन भी बढ़ता है। इस काल में यह लेन–देन गंगा घाटी से पश्चिमी और मध्य भारत, दक्कन तथा दक्षिणी भारत तक फैल गया। ग्रामीण बस्तियों के प्रसार और गृहपतियों की समृद्धि ने शहरी केंद्रों के और प्रसार के लिए सामाजिक आधार प्रदान किया। कई मामलों में अमीर ग्रामीण परिवारों ने शहरों से संपर्क स्थापित किया और व्यापारी–समुदायों को वित्तीय सहायता प्रदान की।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दुर्गनिवेश या दुर्गविधान का जिक्र है जिससे पता चलता है कि शहरों को दीवार से घेरा गया था। यह भी बताया जाता है कि इन शहरों में पुजारी, सैनिक, व्यापारी, शिल्पी और अन्य लोग रहते थे। इस उद्धरण में शहर की रक्षा के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें उनकी बनावट का भी उल्लेख है। इसका उद्देश्य था–आर्थिक नियंत्रण को सुव्यवस्थित करना। वस्तुतः

टिप्पणी

अर्थशास्त्र में शहरों (दुर्गों) को जनपदों के समान राजस्व के स्रोत के रूप में देखा गया है। शहरों से प्राप्त कर से राज्य को अच्छी आमदनी होती थी, अतः मौर्यों ने शहर के उत्थान और प्रशासन पर विशेष ध्यान दिया। एक बात ध्यान देने की है कि केवल दुर्ग या राजधानी में रहने वाली श्रेणियों पर कर लगाए जाने का जिक्र हुआ है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रामीण इलाकों में रहने वाली श्रेणियां करों से मुक्त थीं। इसका कारण यह हो सकता है कि शहर में रहने वाले लोगों को नियंत्रित और व्यवस्थित करना ज्यादा आसान होता है।

मैगस्थनीज ने मौर्यों की राजधानी का विस्तार से वर्णन किया है, इससे यह भी पता चलता है कि शहर का प्रशासन कैसा था और शहरी अर्थव्यवस्था के कौन–से हिस्से राज्य के हित में नियंत्रित किए जाते थे। वह बताता है कि पाटलिपुत्र का प्रशासन तीस अधिकारियों के जिम्मे था। ये अधिकारी छह समितियों में विभक्त थे, प्रत्येक समिति में पांच–पांच सदस्य थे। इन छह समितियों में से चार आर्थिक क्रियाकलापों से संबद्ध थीं। ये समितियां औद्योगिक उत्पादन, व्यापार और वाणिज्य तथा तैयार माल की सार्वजनिक बिक्री का निरीक्षण करती थीं और बेचे जाने वाले सामान पर कर वसूल करती थीं। अन्य दो समितियां विदेशियों के कल्याण और जन्म तथा मृत्यु के पंजीकरण से संबद्ध थीं। आर्थिक गतिविधियों के समुचित विकास की दृष्टि से नगरों में कानून और व्यवस्था संबंधी प्रशासन भी महत्वपूर्ण हो गया।

नगर प्रशासन का यह विवरण मौर्य साम्राज्य के केंद्र में बसे सभी प्रमुख बड़े शहरों पर लागू होता है। पर्याप्त सूचनाओं के अभाव में यह बताना कठिन है कि छोटे शहरों, तटीय शहरों और तीर्थ–स्थलों के प्रशासन का सही स्वरूप क्या था। इससे महत्वपूर्ण बात यह है कि मौर्यों की अर्थव्यवस्था ने शहरों के उदय और समृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। शहरी अर्थव्यवस्था की समृद्धि के लिए लोगों का आवागमन और विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच परस्पर संवाद कायम होना आवश्यक है और इस काल में ऐसा संभव हुआ क्योंकि साम्राज्य के बड़े शहरों और प्रमुख क्षेत्रों में काफी हद तक राजनीतिक स्थिरता व्याप्त थी।

अर्थव्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें मुद्रा का चलन बढ़ा और लेन–देन मुद्रा में होने लगा। हालांकि मुद्रा का चलन मौर्यों के जमाने में पहले से चला आ रहा था, परंतु वाणिज्य के विकास के कारण मौर्य काल में यह आम उपयोग की चीज हो गई। व्यापार में मुद्रा अर्थव्यवस्था की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है, परंतु अर्थव्यवस्था में मुद्रा के बढ़ते हुए महत्व का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि अधिकारियों को भी शायद वेतन नकद ही दिया जाता था। अर्थशास्त्र में इस बात का जिक्र है कि 48,000 और 60,000 के बीच वार्षिक वेतन देने का प्रावधान था। इस प्रकार की शक्तिशाली नकदी अर्थव्यवस्था को सुचारू ढंग से चलाने के लिए सिक्कों की ढलाई और चांदी तथा तांबे जैसी धातुओं का महत्व बढ़ गया होगा। मौर्यकालीन पंच मार्क्ड चांदी के सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि मौर्यों ने मुद्रा अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से लागू किया। ये पंच मार्क्ड सिक्के मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश और बिहार में पाए गए हैं, जो साम्राज्य का केंद्रीय स्थल था।

मौर्यों के अधीन शहरी अर्थव्यवस्था पर राज्य का पूरा नियंत्रण था। इस क्रम में राज्य कुछ महत्वपूर्ण कार्यक्षेत्रों को एकाधिकार क्षेत्र में परिणत कर देता था। अर्थशास्त्र

टिप्पणी

में खनिज अधीक्षक (आकाराध्यक्ष) का जिक्र हुआ है जो नई खानों की खोज करता था और पुरानी खानों को फिर से खोलने का प्रयत्न करता था। नमक खनन के क्षेत्र में भी राज्य का एकाधिकार था। विभिन्न प्रकार की धातुओं का उपयोग केवल सिक्का ढालने के लिए ही नहीं होता था, बल्कि उससे अस्त्र भी बनाए जाते थे। इसी कारण अर्थशास्त्र में लौह अधीक्षक (लोहाध्यक्ष) का जिक्र हुआ है। सैनिकों के लिए अस्त्र उपलब्ध कराने के अलावा, राज्य कृषि के लिए औजार भी प्रदान करता था। खनन और खनिज पदार्थों के व्यापार पर एकाधिकार से मौर्य साम्राज्य काफी महत्वपूर्ण कच्चे मालों को अपने कब्जे में रख सका। इनके समुचित उपयोग के फलस्वरूप कृषि और कृषि क्षेत्रों में उत्पादन काफी बढ़ा।

एक बार शहरी केंद्रों पर आर्थिक नियंत्रण स्थापित होने और इनके प्रशासन को सुव्यवस्थित करने के बाद, इन शहरों के माध्यम से विभिन्न जनपदों पर नियंत्रण मजबूत किया गया। वाणिज्यिक लेन–देन में वृद्धि होने के कारण, आदान–प्रदान और व्यापार के केंद्रों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। अगले उपभाग में हम इस बात पर विचार करेंगे कि किन विभिन्न तरीकों से सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन मौर्यकालीन भारत के विभिन्न हिस्सों तक पहुंचा। अर्थव्यवस्था के दूसरे मामलों के समान ही इन केंद्रों पर मौर्यों का नियंत्रण विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न स्तर का था।

अशोक का धम्म (धर्म)

अशोक का व्यक्तित्व विश्व इतिहास में अद्वितीय स्थान रखता है। वह मात्र अपनी साम्राज्य विशालता के लिए ही विख्यात नहीं है वरन वैयक्तिक चरित्र एवं अपने उद्देश्यों एवं आदर्शों के लिए भी प्रसिद्ध है। वह एक कुशल शासक, श्रेष्ठ सम्राट व आदर्श मानव था। एच.जी. वेल्स ने लिखा है, प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र ऐसे राजा को जन्म नहीं दे सकता। अशोक की तुलना आज भी विश्व इतिहास में किसी अन्य से नहीं की जा सकती।

- प्रारंभिक जीवन–देवानां प्रियदर्शी सम्राट अशोक के जन्म व प्रारंभिक जीवन के विषय में प्रमाणों का अभाव है। उनके पिता का नाम बिदुसार व माता का नाम धम्मा था। दीपवंश के अनुसार, बिंदुसार की 16 रानियां और 101 पुत्र थे। सिहली अनुश्रुतियों के अनुसार, अशोक अत्यंत निर्दयी एवं रक्तपिपासु था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात उसने अपने 99 भाइयों की हत्या करके गद्दी प्राप्त की थी। यही कारण है कि 273 ईसा पूर्व बिंदुसार की मृत्यु के पश्चात 4 वर्ष अशोक ने अपने भाइयों की हत्याएं की थीं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार राजगद्दी प्राप्त करने के लिए उसे अपने भाई सुसीम से संघर्ष करना पड़ा था। बौद्ध ग्रंथ भी इन तथ्यों को स्वीकार करते हैं।
- कलिंग विजय–कलिंग एक शक्तिशाली व स्वतंत्र राज्य था। अशोक के 13वें शिलालेख में कलिंग विजय का उल्लेख मिलता है। राज्याभिषेक के 8वें वर्ष देवताओं के प्रिय सम्राट अशोक ने कलिंग विजय प्राप्त की थी।

कलिंग आक्रमण का कारण साम्राज्य विस्तार की भावना थी। अशोक ने 261 ईसा पूर्व अपनी विशाल सेना के साथ कलिंग पर आक्रमण किया जिसमें 150000 व्यक्ति

टिप्पणी

बंदी बनाए गए व 100000 व्यक्ति मारे गए। इस भीषण रक्तपात को देखकर अशोक का हृदय द्रवित हो गया और उसने दिग्विजय के स्थान पर धम्म विजय की घोषणा की। अशोक के शिलालेख पर उत्कीर्ण विवरणानुसार–सम्राट का आदेश है कि प्रजा के साथ पुत्रवत व्यवहार व जनता से प्यार किया जाए, लोगों को दंड व यातनाएं न दी जाएं। सीमांत जातियों को आश्वस्त किया कि उन्हें सम्राट से कोई भय नहीं है। उन्हें राजा के साथ व्यवहार करने में सुख मिलेगा कष्ट नहीं। राजा यथाशक्ति उन्हें क्षमा करेगा।

डॉ. त्रिपाठी का मानना है कि–'कलिंग विजय के बाद भेरी घोष सदा के लिए मूक हो गया और धम्मघोष का शांतिप्रिय व नेहसिचित नाद दिगंत में गूंज उठा।'

कलिंग विजय ने न केवल अशोक वरन संपूर्ण विश्व इतिहास को एक नवीन धारणा प्रदान की। अशोक ने शांतिप्रियता की नीति अपनाकर विश्व के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत किया।

अशोक की नीति और धम्म

अशोक का धम्म विश्व इतिहास में अत्यंत प्रसिद्ध था परंतु यह प्रश्न विवादास्पद है कि अशोक का धम्म क्या है? अशोक के धम्म का अभिप्राय धर्म से नहीं वरन निष्ठा, आदर व सदाचरण से है। पाश्चात्य इतिहासकारों ने धम्म का अनुवाद दया के धर्म से किया है। द्वितीय स्तंभ लेख में अशोक स्वयं प्रश्न करता है कि 'कियं चु धम्मे?' अर्थात धम्म क्या है? स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है –'आपासिनवे बहुकथाने दया दाने सचे सोचये' अर्थात पापकर्म से निवृत्ति, दया, दान, सत्य कर्म शुद्धि ही धम्म है। द्वितीय लघुशिलालेख में वर्णित है– माता–पिता की सेवा, जीवमात्र का सम्मान, सत्य–ये सब दया धर्म के लक्षण हैं तथा गुरुजनों का सम्मान, गरीबों के प्रति सहानुभूति–ये धर्म के सनातन रूप हैं। 12वें शिलालेख के अनुसार, 'सभी संप्रदायों के व्यक्ति उसकी श्रद्धा के पात्र हैं। चाहे वे श्रमण हों या गृहस्थ। सभी धर्मों के सार में वृद्धि हो, यही मेरी मनोकामना है। तेरहवें शिलालेख में धम्म का सार है–'सर्वभूतानां अक्षति च संयम च।'

धम्म के तत्व–अशोक का धम्म किसी विशेष धर्म पर आधारित न होकर सभी धर्मों की अच्छाइयों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है, जिसे व्यावहारिक सिद्धांत कहते हैं तथा दूसरे वे जिनका परित्याग करना चाहिए वह निषेधात्मक सिद्धांत हैं।

(क) व्यावहारिक सिद्धांत–अशोक ने सभी मानवों से भिन्न सिद्धांतों को अपनाने के लिए कहा है। ये सिद्धांत हैं–

1– अनारम्भो प्राणानां – प्राणवान जीव जंतुओं की हत्या न करना।

2– अविहिंसा भूतानां – अस्तित्ववान जीवों को क्षति न पहुंचाना।

3– मातरि–पितरि सुसूषा – माता–पिता की सेवा करना।

4– थेर सुसूषा – वृक्षों की सेवा करना।

5– गुरुणां अपचिति – गुरुओं का आदर करना।

6– मित्र संस्तुत नाटिकानां – मित्र व परिचितों से सहानुभूति।

टिप्पणी

7– ब्राह्मण समणानां दानं सम्पटिपति – ब्राह्मण श्रमणों से उदारतापूर्वक व्यवहार करना।

8– दासभतकम्हि सम्प्रतिपति – दासों से समानता का व्यवहार करना।

9– अपव्ययता और अपमांडता – अल्प व्यय व अल्प संचय।

इन सब बातों के अतिरिक्त सभी धर्मों की बातों को उदारतापूर्वक सुनना चाहिए। 12वें शिलालेख की पंक्तियों में लिखा है–दास तथा वेतन पाने वाले सेवकों से उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, पशुवध निषेध अत्यंतावश्यक है। इसके अतिरिक्त धम्म का राजनीतिक आदर्श भी था। प्रथम शिलालेख के अनुसार–सभी मेरी प्रजा (संतान) हैं जिस प्रकार मैं अपनी (संतान) प्रजा के लिए इच्छा रखता हूं कि वह सभी पारलौकिक–व–एहलौकिक हितों और सुखों से संयुक्त हों, उसी प्रकार मेरी इच्छा सब मनुष्यों के लिए है। धम्म मंगल का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा, 'इमं तू खो महफल ये अमंगल।' धम्म विजय में कहा कि ऐसी रीति से विजय करो कि दूसरों की उन्नति हो। उनके अनुसार धम्म दान का उच्चतम स्वरूप है। इसका अर्थ किसी को धम्म के विषय में बताना, धम्म में भाग लेना या धम्म से संबंध स्थापित करने से हैं।

(ख) निषेधात्मक सिद्धांत–मानव स्वभाव में कुछ स्वभाव ऐसे हैं जिनका हमें पालन नहीं करना चाहिए। ये हैं–

क्रोध – क्रोधित होना।

ईर्ष्या – दूसरों के प्रति ईर्ष्या भाव रखना।

मान – कभी भी घमंड करना।

निठुलिय – निष्ठुरता।

चंडिय – उग्रता।

इस प्रकार धम्म के अंतर्गत अनेक धर्मों के आदर्श समाहित थे। डॉ. रोमिला थापर का मानना है– धम्म जीवन का एक मार्ग था जो सामाजिक एवं नैतिक जिम्मेदारियों पर आधारित था ... समन्वय उत्पन्न करने वाले सिद्धांतों की खोज में अशोक ने हर प्रश्न के बुनियादी पक्ष पर अपना ध्यान केंद्रित किया और इसके फलस्वरूप धम्म नाम की प्रसिद्ध नीति का जन्म हुआ।

धम्म का स्वरूप

अन्य प्रश्नों के समान ही अशोक के धम्म के स्वरूप में भी पारस्परिक मतभेद हैं। इतिहासकारों के अनुसार धम्म के स्वरूपों का वर्णन निम्नलिखित है–

1– राजधर्म–कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक का धम्म राजधर्म था। फ्लीट का मानना है– अशोक का धम्म किसी प्रकार भी बौद्ध धर्म नहीं कहा जा सकता है। अशोक के शिलालेखों का उद्देश्य बौद्ध धर्म या किसी अन्य धर्म का प्रचार करना नहीं था वरन संप्रदाय को ध्यान में रखते हुए दया तथा न्याय धारण करना है। अशोक ने धम्म को किसी प्रकार भी राजधर्म नहीं कहा है। साथ ही उसने महात्मा बुद्ध का भी उल्लेख किया है। इस तर्क का समर्थन करते हुए

टिप्पणी

सेनार्ट ने भी कहा है कि –अशोक के धम्म में ऐसी कोई बात न थी जिससे हम उसे बौद्ध धर्म कह सकें।

परंतु उपर्युक्त तर्कों का खंडन अनेक विद्वानों ने किया है जो धम्म को राजधर्म होने से अस्वीकार करते हैं।

2– ब्राह्मण धर्म–विल्सन एवं हेरास जैसे विद्वानों का मत है कि अशोक का धम्म ब्राह्मण धर्म था। परंतु इसका खंडन करते हुए विद्वानों ने कहा है कि अशोक के अभिलेखों में कहीं भी ब्राह्मण कार्य–कलापों यज्ञ एवं धार्मिक अनुष्ठानों का वर्णन नहीं मिलता। अतः उसका धर्म ब्राह्मण धर्म नहीं था।

3– सार्वभौम धर्म–डॉ. स्मिथ, भंडारकर, मुखर्जी आदि विद्वानों का मानना है कि अशोक का धम्म सार्वभौम धर्म था। स्मिथ का मानना है यह सिद्धांत मूलतः सभी धर्मों में विद्यमान था, चाहे एक संप्रदाय या एक पंथ इसके किसी अंश को प्रचारित करता हो। इसी प्रकार के विचार मैकफेल व त्रिपाठी के हैं। त्रिपाठी ने लिखा है–यह सभी धर्मों का सार था। परंतु इन तर्कों के विपक्ष में विद्वानों ने कहा है कि उसने जिस धर्म का प्रचार किया वह बौद्ध धर्म ही था।

4– उपासक बौद्ध धर्म–सेनाई, हुत्श, नीलकंठ शास्त्री आदि विद्वानों का मानना है कि अशोक के धम्म का मूल स्रोत बौद्ध धर्म ही था। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए किए गए कार्य इस बात के प्रमाण हैं।

परंतु विद्वानों का तर्क है कि यदि अशोक का धम्म बौद्ध धर्म था तो उसने निर्वाण के स्थान को स्वर्ग क्यों कहा?

अशोक की महानता के कारण

अशोक न केवल भारत वरन विश्व का महानतम सम्राट था। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार कर अपनी वीरता का परिचय दिया। 40 वर्षों तक सफल शासन कर शांतिप्रियता अपनाकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की तथा जनता में प्रशंसा व लोकप्रियता प्राप्त की। एच.जी. वेल्स का मानना है–वह न तो ईसा, न केवल बुद्ध, महावीर व गांधी था और न ही केवल चार्लमेन, चंद्रगुप्त, खलीफ उमर व अकबर था वरन वह इन सभी व्यक्तियों के गुणों से युक्त था। वह श्रेष्ठता की प्रतिमूर्ति था। इसी कारण उसे अशोक महान के रूप में सभी स्वीकार करते हैं। उसकी महानता के कारण निम्नलिखित हैं–

1– कर्तव्यनिष्ठ शासक–अशोक एक कर्तव्यनिष्ठ शासक था। वह प्रजा को अपनी संतान मानता था। उसने कहा था प्रत्येक समय चाहे मैं भोजन कर रहा हूं प्रतिवेदक प्रजा की दशा से मुझे अवगत कराएं। मैं सदैव प्रजा का कार्य करूंगा। प्रजा का हित करना मेरा सर्वोपरि लक्ष्य है।

2– महान विजेता–वह महान विजेता था। उसने न केवल अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा वरन जनता के हृदय को भी जीता था। वेल्स का मत है–यदि अशोक योग्य न होता तो वह अपने विशाल साम्राज्य पर 40 वर्ष तक कैसे कुशलता से शासन करता तथा ऐसा नाम न छोड़ता जो 2000 वर्षों बाद भी हम नहीं भुला सके हैं।

टिप्पणी

3– राष्ट्रीय एकता प्रदान करने वाला–अशोक ने राष्ट्र को एक सूत्र में बांधा जिससे राजनीतिक एकता की स्थापना हो सकी।

4– उदार एवं लोकहितकारी कार्य–अशोक अत्यंत उदार सम्राट था। वह पशु–पक्षियों व जीव–जंतुओं को भी कष्ट नहीं पहुंचाना चाहता था। अतः उसने अनेक धर्मशालाएं बनवाईं, छायादार वृक्ष लगवाए, कुएं, औषधालय आदि का निर्माण कार्य करवाया।

5– धर्म सहिष्णु सम्राट–अशोक धर्म सहिष्णु सम्राट था। वह मानव धर्म को सर्वोपरि मानता था। इसीलिए उसने धम्म का निर्माण कराया जिसमें सभी धर्मों की अच्छाइयां शामिल थीं। धम्म का ही दूसरा नाम नैतिकता था।

6– कुशल धर्म प्रचारक–अशोक ने अपने धर्म का प्रचार अत्यधिक कुशलता से किया जिससे अत्यधिक लोग आकर्षित हुए। राय चौधरी का मानना है, ''अशोक ने धर्म प्रचार में ऐसे कार्य किए जो तीनों महाद्वीपों तक फैले हैं, जिनके कारण गंगा की घाटी का संप्रदाय संसार के एक महान संप्रदाय में बदल गया।''

इसके अतिरिक्त अनेक कारण थेऋ जैसे–उसका व्यक्तित्व, कलाप्रेमी, महान अहिसा प्रेमी, उपदेशक व प्रजा हितैषी सम्राट था। राधा कुमुद मुखर्जी का मानना है कि वह एक व्यक्ति व शासक के रूप में महान था। डॉ. को पलस्टन ने अशोक की प्रशंसा में लिखा है–वह बौद्ध धर्म का प्रवर्तक ही न था बल्कि यूनानी के स्थान पर बौद्ध धर्म का अविजित सिकंदर भी था। वह ऐसा निःस्वार्थ नेपोलियन था जो यश के स्थान पर कल्याण से प्रेरित था।

1.4.3 दिल्ली सल्तनतकालीन व्यवस्था

1192 ई. तराइन की निर्णायक विजय के बाद दिल्ली सल्तनत की स्थापना तुर्कों द्वारा की गई। दिल्ली सल्तनत की स्थापना करने वालों में पहला महत्वपूर्ण वंश 'ममलूक वंश' था। विजेता अपनी मातृभूमि और फारस से संस्थाएं व संस्कृति लाए थे, जिनमें से अधिकतर गजनवियों के पंजाब में पहले से प्रचलित थीं और जो नाम के अतिरिक्त, भारतीय प्रथा में ज्ञात थीं। ममलूकों ने उस समय की प्रचलित शासकीय धारणाओं और आदर्शों में अल्पमत हस्तक्षेप के साथ अपना राज आरंभ किया। तुर्की आगमन द्वारा प्रेरित परिवर्तन राजनीतिक अधिक था प्रशासनिक कम। प्रो. नुरुल हसन के अनुसार, तुर्की शासन काल में भी पुराना सामंतवादी समाज बना रहा। सल्तनत युग में भू–दानों (Land grants) की संख्या में बढ़ोतरी हुई। जातियों का प्रगुणन होता रहा तथा कला, भाषा एवं साहित्य में भी क्षेत्रीयवाद प्रवृत्ति जोर पकड़ती गई। प्रो. हसन के अनुसार, मध्यकालीन भारत में किसानों द्वारा उत्पादित कृषि का अधिकांश भाग सुल्तानों एवं अमीरों के पास चला जाता था परंतु कृषि उत्पादनों से जुड़े पहलुओं तथा ग्रामीण जीवन पर जमींदारों का नियंत्रण था। कृषि के नवीन स्वरूप के कारण शहरीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो रही थी। लखनऊ, दिल्ली आदि बड़े–बड़े शहरों तथा कई कस्बों की स्थापना एवं विकास हुआ।

सल्तनत की स्थापना का प्रभाव अधिकांश क्षेत्रों में पड़ा, जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं–नगरीय सभ्यता व क्रांति, भाषा, जातीय भेद–भाव, अन्य देशों के साथ व्यापारिक व राजनीतिक संबंध आदि। प्रशासकीय भाषा में तुर्क विजय का प्रभाव पड़ा। राजपूत युग

टिप्पणी

में प्रशासन व अन्य कार्यों के उपयुक्त भाषाएं एवं बोलियां प्रत्येक प्रदेश में भिन्न–भिन्न थीं। सल्तनत के समय अधिकृत समस्त प्रदेशों में उच्चवर्गीय प्रशासन में फारसी भाषा के प्रचलन से प्रशासकीय भाषा में एकरूपता आई। इसी काल में भक्ति आंदोलन आरंभ हुआ। भारतीय एवं सूफी संतों ने अपने–अपने प्रांतों की भाषा व बोलियों में रचनाएं कीं। भक्ति आंदोलन इस युग का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

इस प्रकार संक्षेप में तुर्की आगमन से देश के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में धीरे–धीरे किंतु उल्लेखनीय परिवर्तन हुए।

सल्तनतकालीन प्रशासनिक व्यवस्था

मध्यकालीन भारत में सरकार की प्रशासनिक व्यवस्था भारतीय तथा विदेशी व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण थी। यह मुख्यतः अरबी एवं फारसी पद्धति पर आधरित थी, किंतु सैन्य संगठन तुर्क, मंगोल पद्धति से किया गया था, जबकि हिदुओं की भू–राजस्व पद्धति को भी कायम रखा गया था, इस प्रकार प्रशासनिक पद्धति मिश्रित ढंग की थी।

केंद्रीय शासन

केंद्रीय शासन में सुल्तान और उनके मंत्रियों की प्रधानता थी। इन्हीं के सहयोग से केंद्रीय शासन को संचालित किया जाता था।

सुल्तान– राज्य में सुल्तान की श्रेष्ठता निर्विवाद थी। सुल्तान पूर्णतया स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते थे तथा वे अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे। वह संपूर्ण प्राधिकरण का शीर्षस्थ बिंदु था। वह राज्य का सर्वोच्च संचालक, न्यायाधिकरण में सबसे बड़ा निर्णायक, कानून का सूत्रधार और सेनाओं का प्रधान सेनापति होता था। वह पूर्ण रूप से निरंकुश होता था और उसकी सत्ता पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। उसकी शक्ति का आधार धार्मिक मान्यता एवं सैन्य बल था। यद्यपि परामर्श व सहयोग के लिए सुल्तान के पास विश्वास–पात्र अधिकारियों, अमीरों और मंत्रियों की एक परिषद भी होती थी, किंतु उनकी सलाह को मानने के लिए वह बाध्य नहीं था।

मंत्रिपरिषद– यद्यपि सुल्तान शासनतंत्र का प्रधान केंद्र बिंदु था, किंतु विभिन्न विभागों का कार्य वह सुचारू रूप से अकेला नहीं करता था इसलिए उसे शासन में सहायता के लिए मंत्रियों एवं अधिकारीगणों की आवश्यकता पड़ती थी।

मंत्रिपरिषद को 'मजलिस–ए–खास' कहा जाता था। इसमें सुल्तान कार्यकारिणी, विधायी तथा वित्तीय महत्व के प्रश्न पर विचार किया करता था। किंतु परिषद की सलाह सुल्तान के लिए बाध्यकर नहीं थी फिर भी मुहम्मद तुगलक को छोड़कर लगभग सभी योग्य और शक्तिशाली सुल्तानों ने मंत्रिपरिषद की सलाहों को यथासंभव स्वीकार किया। सभी को 'मजलिस–ए–खास' में न बुलाकर सुल्तान अपनी मर्जी से कुछ को ही बुलाता था। सुल्तान 'बार–ए–खास' दरबार में अपने सभी दरबारियों, खानों, अमीरों, मलिकों और अन्य रईसों को बुलाता था। सुल्तान 'बार–ए–आजम' (जन सभा हॉल) में राजकाज का अधिकांश कार्य पूरा करता था। यहां विद्वान मुल्ला और न्यायवेत्ता उपस्थित रहते थे और वे सुल्तान को परामर्श देते थे।

वजीर अथवा मुख्यमंत्री– वजीर सुल्तान का प्रधानमंत्री होता था। बाद में उसे 'ख्वाजा जहां' भी कहा जाने लगा। जब तक सुल्तान राजधनी में रहता था वह प्रत्यक्ष रूप से सभी विभागों के प्रशासन का उत्तरदायित्व रखता था। उसकी अनुपस्थिति

टिप्पणी

में वजीर उसके बदले कार्य संचालन करता था। वह सुल्तान का मुख्य परामर्शदाता था, जो प्रायः गोपनीय और संदिग्ध प्रश्नों पर परामर्श देता था। वह वित्तीय विभाग जिसमें दीवान–ए–इंसराफ (लेखा परीक्षा विभाग), दीवान–ए–विजारत (राजस्व विभाग), दीवान–ए–इमारत (लोक निर्माण विभाग), दीवान–ए–कोही (कृषि विभाग), सम्मिलित थे– के मंत्रियों का प्रभारी था। वह गुप्तचर और डाक विभागों, धर्मार्थ संस्थाओं और शाही कारखानों का भी प्रभारी होता था।

दीवान–ए–रिसालत (अपील मंत्री)– इस मंत्री के कार्यों के संबंध में मतभेद है।

डॉ. आई. एच. कुरैशी का कथन है कि इसका संबंध धार्मिक विषयों से है तथा धार्मिक व्यक्तियों को जो भत्ते दिए जाते थे उसका कार्य भार इसी पर था। डॉ. एच. एम. हबीबुल्ला का मत है कि वह विदेश मंत्री था।

अरीज–ए–मुमालिक (सेना मंत्री)– यह सेना का प्रधान होता था। इसका मुख्य कार्य सैनिकों की भर्ती करना, सैनिकों और घोड़ों का हुलिया लिखना तथा सैनिकों का निरीक्षण करना था किंतु वह प्रधान सेनापति नहीं होता था। सैन्य–नीति से संबंधित सभी मामलों का निर्णय स्वयं सुल्तान करता था, परंतु इसमें वह अरीज–ए–मुमालिक की सलाह लिया करता था।

दीवान–ए–इंसा (आलेख विभाग)– यह आलेख विभाग का अध्यक्ष होता था। इसको दबीर–ए–खास या अमीर मुंशी भी कहते थे। इसके विभाग से सुल्तान के फरमान जारी होते थे और वही सुल्तान तथा प्रांतपतियों के बीच होने वाले पत्रचारों की व्यवस्था करता था।

नायब– नायब का पद प्रायः दुर्बल, अयोग्य और किशोर शासकों के समय में किसी कुशल सैनिक और प्रभावशाली अमीर को प्रदान किया जाता था परंतु कभी–कभी प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए भी शक्तिशाली सुल्तान किसी को यह पद दे देते थे, जैसा कि अलाउद्दीन ने भी किया। नायब सुल्तानों के समस्त अधिकारों का सुल्तान के नाम से प्रयोग करता था और शासन के सभी विभागों तथा अंगों का निरीक्षण किया करता था।

काजी–उल–कुजात (मुख्य न्यायाधीश)– यह सुल्तान के बाद सर्वोच्च न्यायाधिक अधिकारी था। मुख्य अपील के न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश भी यही हुआ करता था। अधीनस्थ न्यायालयों में काजियों के सभी फैसलों, फौजदारी या दीवानी की अपीलें यहां भेजी जाती थीं। यह राज्य के धर्मिक मामलों की देख–रेख भी करता था जिसमें सदस्यों की देख–भाल और विद्वान तथा जरूरतमंदों, दरवेशों को खैरात देना भी शामिल था।

सद्र–उस–सुदूर (धर्म–विभाग)– यह धर्म विभाग का अध्यक्ष होता था। प्रधान काजी और सद्र–उस–सुदूर का पद सामान्यतः एक ही व्यक्ति को दिया जाता था। राजकीय दान विभाग इसी के अधीन रहता था। वह यह भी देखता था कि साम्राज्य के मुसलमान इसलामी सिद्धांतों का प्रयोग अपने दैनिक जीवन में करते हैं या नहीं। सुपात्रों को दान देने की व्यवस्था भी यही किया करता था। दान–विभाग का कोष केवल मुस्लिम जनता पर व्यय किया जाता था जो 'जकात' नामक कर से प्राप्त किया जाता था।

टिप्पणी

प्रांतीय शासन

प्रशासन की समुचित व्यवस्था के लिए दिल्ली सल्तनत अनेक प्रांतों में विभक्त थी। प्रांतों के शासन का संचालन प्रांतपति किया करता था। जिसे नायब, वली और मुक्ति कहा जाता था।

डॉ. आशीर्वादी लाल का यह मत उचित ही जंचता है कि सल्तनत कभी भी एक–से प्रांतों में विभक्त नहीं था और न उन सबकी शासन व्यवस्था एक ही ढंग की थी। सूबों की संख्या बीस से पच्चीस होती थी। तेरहवीं सदी में सुलतानों ने सल्तनत को सैनिक क्षेत्रों में विभक्त किया था जिन्हें 'इक्ता' कहा जाता था। इक्ता का प्रधान एक शक्तिशाली सैनिक अधिकारी हुआ करता था और उसे मुक्ति कहते थे।

प्रांतपतियों की नियुक्ति तथा निष्कासन सुल्तान के द्वारा किया जाता था। उन्हें अपनी आय–व्यय का हिसाब केंद्रीय शासन को देना पड़ता था। उन्हें उनके अधीनस्थ प्रांतों की अथवा उसके कुछ खास क्षेत्र को जागीर के रूप में दिया जाता था। वह अपने कार्यों के लिए सुल्तान के प्रति उत्तरदायी होता था। युद्ध अथवा संकट के समय प्रांतपति अपनी सेना से सुल्तान की सहायता भी किया करता था। इस काल के प्रांतपति स्वेच्छानुसार पड़ोसी हिदू राजाओं पर आक्रमण भी कर सकते थे। विजय होने पर लूट के माल में से एक हिस्सा सुल्तान को भेज दिया जाता था।

स्थानीय शासन

तेरहवीं शताब्दी में प्रांतों अथवा इक्तों का प्रशासन के लिए विभाजन नहीं था, किंतु चौदहवीं शताब्दी में सल्तनत के विस्तार के कारण प्रशासकीय सुविधा के लिए उन्हें जिलों (शिक्क) में विभाजित किया गया, फिर भी प्रत्येक प्रांत में इस प्रकार विभाजन नहीं था। शिक्क अथवा जिले का शासक 'अमील' या 'नजीम' होता था। एक शहर या सौ गांवों के समूह का शासक 'अमीर–ए–सदा' होता था। इसकी सहायता के लिए कनिष्ठ अफसर और कर्मचारी होते थे। इनमें उल्लेखनीय थे– मुतसरिफ, कारकुन, बलाहर, मुकद्दम, चौधरी, पटवारी पियादा आदि। शासन की छोटी इकाई गांव होता था। गांवों का शासन सामान्यतः पंचायतों पर छोड़ दिया गया था, जिसका उत्तरदायित्व एक मुक्ती पर होता था। गांवों में मुकद्दम (मुखिया), पटवारी और कारकून (लेखक) आदि भी होते थे।

राजस्व व्यवस्था

इसलाम के अनुसार शरा में आय के पांच साधन बतलाए गए हैं– उशर, खिराज, जकात, खम्स तथा जजिया। दिल्ली के सभी सुल्तानों ने जनता पर इन्हीं करों को आरोपित किया, किंतु कभी–कभी उन पर कुछ अन्य कर भी लगाए गए।

उशर : यह मुसलमानों से लिया जाने वाला भूमि का कर था। जिस भूमि की सिंचाई प्राकृतिक साधन से होती थी वहां से पैदावार का दसवां भाग और जिस भूमि की सिंचाई कृत्रिम साधनों से होती थी वहां से पैदावार का पांचवां भाग भूमि कर के रूप में लिया जाता था।

खिराज : यह गैर–मुसलमानों पर भूमि कर था जो पैदावार का 1/10 से 1/2 तक लगाया जाता था।

टिप्पणी

जकात : यह धार्मिक कर था जो संपन्न मुसलमानों को देना पड़ता था। यह उनकी आय का ढाई प्रतिशत होता था।

खम्स : यह लूट की संपति का 1/5 भाग होता था जो राजकोष में जमा हो जाता था। लूट का शेष 4/5 भाग सैनिकों में वितरित कर दिया जाता था।

जजिया : यह गैर–मुसलमानों से वसूल किया जाने वाला धार्मिक कर था। इस कर को चुकाने पर उनके जान–माल की रक्षा सरकार द्वारा की जाती थी और उन्हें सैनिक सेवा से मुक्त कर दिया जाता था। इस कर की अदायगी के लिए गैर मुसलमानों को तीन श्रेणियों में बांटा गया था– प्रथम श्रेणी के लोग 48 दिरहम द्वितीय श्रेणी के 24 तथा तृतीय श्रेणी के 12 दिरहम की दर से यह कर देते थे।

राज्य की आय के कुछ अन्य साधन भी थे। जैसे खानों से प्राप्त आय, भूमि में गड़े हुए धन की प्राप्ति, निर्यात–आयात–कर आबकारी, यात्र–कर, चारागाह–कर, गृह कर, लावारिस या संपत्ति कर, सिंचाई कर आदि। मुसलमानों को अपनी व्यापारिक वस्तुओं पर ढाई प्रतिशत तथा हिदुओं को पांच प्रतिशत चुंगी देनी पड़ती थी। इसके अलावा अमीरों एवं संपन्न व्यक्तियों द्वारा की गई बहुमूल्य भेंट भी सुल्तान की आय के सधन थे।

भूमि कर : राज्य की आय के साधनों में भूमि–कर प्रमुख था। प्राचीन काल की तुलना में सल्तनत युग में लगान व्यवस्था में काफी परिवर्तन आ गए थे। मुसलमानों ने भू–राजस्व की उन्नति में योग दिया।

संपूर्ण भूमि को चार भागों में विभाजित किया गया था– खालसा, इक्ता की भूमि, हिदू सामंतों की भूमि तथा वक्फ की भूमि।

अलाउद्दीन के शासन काल में जमीन की माप करायी गई और भूमि कर की दर को बढ़ा कर पचास प्रतिशत कर दिया गया। बकाए लगान की वसूली अत्यंत ही कठोरता के साथ की जाती थी। मुहम्मद तुगलक के शासन काल में एक सी राजस्व व्यवस्था की नीति अपनाने की चेष्टा की गई थी जो पूरी न हो सकी। फिरोज ने कुरान द्वारा निर्धारित केवल चार कर ही वसूल किए और बाकी करों को हटा दिया। लोदियों के समय राज्य की समस्त भूमि अफगान अमीरों में बांट दी गई।

सैन्य संगठन : इस युग में चार प्रकार की सेना थी। प्रथम, वे सैनिक जिनकी नियुक्ति सुल्तान के द्वारा की जाती थी और वे सुल्तान की स्थायी सेना में रहते थे। द्वितीय, जो प्रांतों और सूबेदारों की सेना में भरती होते थे। तृतीय, वे सैनिक थे जो केवल युद्ध काल में अस्थायी तौर पर ही भर्ती किए जाते थे। उनका वेतन निश्चित नहीं था। युद्ध के अवसर पर ही उन्हें वेतन तथा रसद आदि दिए जाते थे और चतुर्थ, वे सैनिक थे जो काफिरों से लड़ने के लिए युद्ध में सम्मिलित होते थे। ये मुस्लिम स्वयंसेवक थे। इन्हें राजकोष से वेतन नहीं मिलता था, परंतु युद्ध में लूटी संपत्ति में हिस्सा अवश्य मिलता था।

पैदल सेना, अश्वारोही सेना, गज सेनाः सेना के मुख्य तीन भाग थे–पदाति (पैदल) सेना, घुड़सवार (अश्वरोही) और गज (हाथी) सेना। पदाति सेना को 'पापक' कहते थे। इनमें भारतीय मुसलमान, दास और हिदू होते थे। संख्या की दृष्टि से यह भाग सबसे बड़ा था किंतु युद्ध में इनका महत्व अश्वरोहियों के बाद था। तृतीय, गज सेना थी। सुल्तान को अपनी गज सेना पर काफी भरोसा रहता था। हाथियों को

युद्ध–कला का प्रशिक्षण दिया जाता था। गज सेना के अध्यक्ष को 'सहना–ए–पिल' कहते थे। मुहम्मद तुगलक की सेना में हाथियों की संख्या तीन हजार थी।

टिप्पणी

तोपखाना : सेना के उपर्युक्त भागों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य भाग थे जो उन दिनों सैनिक दृष्टिकोण से बहुत संगठित और महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते हैं तोपखाना की व्यवस्था थी, किंतु यह आधुनिक ढंग से संगठित नहीं था। सिर्फ बारूद की सहायता से गोले फेंकने की मशीनें थीं। इन मशीनों को 'मंगनीक' तथा 'अर्रोद' कहते थे इनके द्वारा आग के गोले और आग के तीर आदि फेंके जाते थे।

न्याय प्रशासन

सुल्तान राज्य का प्रधान न्यायाधीश होता था। कुरान के नियमों की रक्षा करना, फरियादों को सुनना और अंतिम निर्णय देना उसका कर्तव्य था। न्याय के लिए सुल्तान सप्ताह में दो बार दरबार का आयोजन करता था। अपील के अलावा वह मुकदमों की प्रथम सुनवाई भी करता था। निर्णय में काजी, मुख्य सदर और मुफ्ती सुल्तान की सहायता करते थे। न्याय की समुचित व्यवस्था के लिए सुल्तान काजियों, अमीरदारों आदि की नियुक्ति करता था। राजधनी में सुल्तान के अतिरिक्त प्रधान काजी फैसला किया करता था। कस्बों और गांवों में पंचायतें थीं जहां स्थानीय पंच, लोगों के झगड़ों आदि का फैसला करते थे।

न्याय कुरान के नियमों तथा शरा के अनुरूप होता था। न्यायालयों की कोई उचित क्रमबद्ध श्रृंखला नहीं थी और उनका कोई निश्चित क्षेत्रधिकार भी नहीं था। फरियादी अपने नगर के काजी से लेकर प्रांतीय काजी, प्रधान काजी और सुल्तान तक जा सकता था। न कोई लिखित न्याय व्यवस्था थी और न न्यायालयों की कार्यविधि में एकरूपता पायी जाती थी। न्यायालयों की कार्यवाही भी लिखित नहीं होती थी। परंपरागत कानून आदि भी नहीं के बराबर थे और काजी स्वविवेक से ही नियमों की व्याख्या करते थे। न्याय प्रशासन में उलेमा का बोलबाला था।

दंड–विधान अत्यंत ही कठोर थे। प्रायः मृत्यु दंड, अंग–भंग और संपत्ति अपहरण दंड के रूप में दिए जाते थे। अपराधी से अपराध स्वीकार करवाने के लिए अनेक प्रकार की यातनाएं दी जाती थीं। वकील नहीं होते थे तथा न्याय निष्पक्ष अथवा एक समान नहीं होता था। समुचित ढंग से बने हुए व्यवस्थित कारागार नहीं थे।

पुलिस तथा डाक व्यवस्थाः शांति सुरक्षा और व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक पुलिस विभाग था जिसका प्रमुख कोतवाल होता था। दिल्ली में अलग से एक कोतवाल रहता था। पुलिस का प्रबंध अपर्याप्त था। सिर्फ महत्वपूर्ण नगरों में ही कोतवाल रहते थे। प्रत्येक नगर तथा प्रांत में 'मुफतसीब' रहते थे। कस्बों तथा गांवों में पुलिस का कोई प्रबंध नहीं रहता था।

पुलिस विभाग के अधीन–गुप्तचर विभाग भी होता था। बलबन तथा अलाउद्दीन ने गुप्तचर विभाग को अच्छे ढंग से संगठित किया था। गुप्तचरों का जाल सा बिछा रहता था जो सुल्तान को साम्राज्य में होने वाली प्रत्येक घटनाओं की निरंतर सूचना देते रहते थे। गुप्तचरों के सहयोग से सुल्तान राज्य की सुरक्षा और नियंत्रण की समुचित व्यवस्था करता था।

टिप्पणी

सूचनाएं, संदेश, आदेश आदि के लाने ले जाने तथा परस्पर संबंध बनाए रखने के लिए राज्य में डाक विभाग की भी व्यवस्था थी। विभिन्न क्षेत्रों में डाक–चौकियां स्थापित की गई थीं। प्रत्येक कोस पर तेज दौड़ने वाले डाक के हरकारे रखे जाते थे। डाक लाने ले जाने के लिए अश्वरोही भी नियुक्त किए जाते थे। कालांतर में डाक चौकियों के स्थान पर सरायों का भी निर्माण किया गया जहां यात्रियों के ठहरने की समुचित व्यवस्था रहती थी। वहां दुकानें और बाजार भी होते थे।

सल्तनत कालीन प्रशासन की समीक्षाः उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सल्तनत युग की प्रशासकीय व्यवस्था दोषपूर्ण थी। सुल्तानों में प्रशासकीय अनुभव, योग्यता और सृजनात्मक क्षमता नहीं थी और एक दो को छोड़कर वे समुचित सुधार लाने में असमर्थ थे। उनकी राजस्व प्रणाली, सैन्य संगठन, न्याय व्यवस्था, पुलिस आदि सभी व्यवस्थाएं दोषयुक्त थीं। उनका स्वरूप राष्ट्रीय नहीं था। हिदुओं को प्रशासन अथवा सैनिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। प्रशासन को जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था। भारतीय मुसलमानों को भी महत्वपूर्ण पदों पर बहाल नहीं किया जाता था। अतः वे भी खुश नहीं थे। जन–कल्याण और प्रजा के भौतिक तथा नैतिक विकास की राज्य को चिंता नहीं थी। शासक और शासितों में परस्पर प्रेम, सहानुभूति, सद्भावना, निष्ठा आदि का सर्वथा अभाव था। ऐसी व्यवस्था न तो लोकप्रिय हो सकती थी और न ही स्थायी।

अपनी प्रगति जांचिए

5. महाजनपदों का उदय–विकास कब हुआ?
   (क) वैदिक काल में (ख) पौराणिक काल में
   (ग) उत्तर वैदिक काल में (घ) आधुनिक काल में
6. सम्राट अशोक की महानता का कारण है–
   (क) श्रेष्ठ सम्राट व आदर्श मानव होना
   (ख) विशाल साम्राज्य का संचालन
   (ग) बौद्ध धर्म
   (घ) पूर्वोक्त सभी

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (घ)
3. (ख)
4. (क)
5. (ग)
6. (घ)

1.6 सारांश

टिप्पणी

मनुष्य के व्यक्तित्व की दिशा को संस्कृति ही निश्चित करती है। हालांकि संस्कृति सार एवं निर्देशों को ही इंगित करती है। ये सार एवं निर्देश सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के रूप में प्रदर्शित होते हैं। मनुष्य का व्यवहार समाज की संस्कृति के द्वारा ही परिभाषित होता है। समाज की संस्कृति के अनुरूप ही उस समाज के सदस्यों एवं व्यक्तियों का व्यवहार भी होगा। भारतीय समाज में स्त्रियों को सम्मान देने की संस्कृति है जिस कारण व्यक्तियों को स्त्रियों को सम्मान, चाहे या अनचाहे सार्वजनिक रूप से देना ही होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यों के जीवन निर्वाह की पद्धति के रूप में संस्कृति को लिया जा सकता है।

अभौतिक संस्कृति का भौतिक संस्कृति के सामने आगे बढ़ने का प्रयास सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। जब हम दूसरी संस्कृतियों के तत्वों से परिचित होते हैं तो उनकी नवीनता एवं उपयोगिता से प्रभावित होकर उन्हें अपनाने का प्रयास करते हैं। इसी से सामाजिक परिवर्तन होता है। दूसरी संस्कृति के तत्व अपनाने के प्रयास से हम अपनी मूल संस्कृति के प्रतिमानों को भी बनाए रखना चाहते हैं। यह द्वैधवृत्ति सामाजिक परिवर्तन का कारण मानी जाती है। सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में यह अधिक संबंध है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है इसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। ऐसा नहीं है कि प्राकृतिक पर्यावरण का सामाजिक पर्यावरण से प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं है। प्रत्येक समाज में संस्कृति के दोनों अंग विद्यमान हैं।

सिंधु सभ्यता के पतन के पश्चात सप्तसिंधु प्रदेश में एक नई सभ्यता का विकास हुआ जो 'आर्य सभ्यता' के नाम से विख्यात है। इस सभ्यता को जानने का एकमात्र साधन हमारे प्राचीन एवं पवित्र वेद हैं इसलिए इसे 'वैदिक सभ्यता' भी कहा जाता है। वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति का भारतीय इतिहास में बहुत श्रेष्ठ स्थान है। आर्यों ने भारत में पहले से बस रही जातियों द्वारा विकसित सभ्यता और संस्कृति के उपयोगी तत्वों को अपनाकर अपनी संस्कृति के साथ उनका समन्वय करते हुए भारत की एक उन्नत सभ्यता और संस्कृति की परंपरा का विकास किया। वस्तुतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सुंदर स्वरूप मूलतः आर्यों के कठिन परिश्रम और साधना के फलस्वरूप ही बन पाया है।

उत्तरवैदिक काल के पश्चात भारत अनेक गणराज्यों में विभक्त था। धीरे–धीरे इन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार किया और सीमाओं का भी विस्तार हुआ। अतः जनपदों ने महाजनपदों का रूप ले लिया। इसी समय धार्मिक क्रांति का भी युग था। जैन व बौद्ध धर्म ने भारतीय धर्म में एक क्रांति–सी ला दी थी। मगध राज्य का उत्थान हुआ और इसने अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया था। भारतीय इतिहास में महाकाव्य काल से ईसा पूर्व छठी शताब्दी के बीच का दीर्घकाल विभिन्न घटनाओं से परिपूर्ण है। इन घटनाओं और इस काल के राजवंशों का स्पष्ट ऐतिहासिक वर्णन यत्र–तत्र

उपलब्ध है, इसीलिए महाभारत काल से लेकर गौतम बुद्ध के आविर्भाव के समय का राजनीतिक इतिहास शृंखलाबद्ध नहीं किया जा सका।

टिप्पणी

1.7 मुख्य शब्दावली

- **समाजीकरण** : मनुष्य को प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाने वाली प्रक्रिया
- **प्रयोजन** : उद्देश्य
- **इंद्रियजन्य** : इंद्रियों से उत्पन्न
- **पारलौकिक** : अदृश्य लोक से संबंधित
- **प्रादुर्भाव** : उत्पन्न होना, उद्भव
- **औजार** : यंत्र, उपकरण
- **मृत्योपरांत** : मृत्यु के बाद
- **शिल्पी** : निर्माता, शिल्पकार
- **संहिता** : नियमावली

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति का अर्थ बताइए।
2. संस्कृति की समग्रता से क्या आशय है?
3. प्रागैतिहासिकता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. आर्य सभ्यता किसे कहते हैं?
5. महाजनपदों का उद्भव कब हुआ?
6. तक्षशिला राज्य का संबंध किस युग से था और यह कहां से संबंधित था?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति को परिभाषित करते हुए भारतीय संस्कृति की विवेचनाओं का उल्लेख कीजिए।
2. प्रागैतिहासिक संस्कृति से संदर्भित विविध तथ्यों पर प्रकाश डालिए।
3. प्राचीन एवं वैदिक संस्कृति की रूपरेखा स्पष्ट कीजिए।
4. महाजनपदों के अभ्युदय एवं विविध वंशों का वर्णन कीजिए।
5. मौर्यकालीन व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड

टिप्पणी

2. भारतीय दर्शन– डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि.।
3. भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इतिहास (प्राचीन काल से 18वीं शताब्दी तक), Indu Books Services Pvt. Ltd.
4. भारतीय विज्ञान का इतिहास, लाल मणि ओझा, नोशन प्रेस, 1st Edition April 2021.
5. चौधरी, राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, 2003.
6. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद, 2005.
7. मुखर्जी, राधाकमल, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन : एनशिएंट एंड क्लासिकल ट्रेडिशंस, 2006.
8. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2002.
9. झा, डी.एन., प्राचीन भारत की रूपरेखा, पीपुल्स पब्लिशर्स हाउस, नई दिल्ली, 2005.
10. शर्मा, रीता, प्राचीन भारत का इतिहास, वोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1991.
11. त्रिपाठी रामशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1998.
12. पांडेय, विमल चंद, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, (वॉल्यूम–II), सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

इकाई 2 धार्मिक धारणाएं और प्रयोग (स्वरूप)

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 धार्मिक धारणाएं एवं उनकी अवस्थिति
  2.2.1 प्राचीन धार्मिक धारणाएं : वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्म
  2.2.2 मध्यकालीन धार्मिक धारणाएं : भक्ति आंदोलन, सूफीवाद
  2.2.3 आधुनिक धार्मिक धारणाएं : धर्मनिरपेक्षता–भौतिकतावाद बनाम अध्यात्मवाद
2.3 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.4 सारांश
2.5 मुख्य शब्दावली
2.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.7 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

भारत धार्मिक देश है। विश्व की चार प्रमुख धर्म–परंपराओं की जन्म स्थली भारत है। हिंदू, जैन, बौद्ध तथा सिक्ख धर्म भारत की देन है। इसके साथ ही विविध भक्ति आंदोलनों एवं सूफीवाद से भी भारतीय जनता प्रभावित है। भारत एक ऐसा देश है, जहां धार्मिक विविधता और धार्मिक निरपेक्षता को कानून व समाज दोनों द्वारा मान्यता प्रदान की गई है।

वैदिक साहित्य आर्यों के धार्मिक जीवन के क्रमिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इसमें आर्यों के प्रारंभिक धार्मिक विश्वासों के साथ–साथ भारत में बसने के बाद विकसित आर्य संस्कृति के परिपक्व धार्मिक विश्वासों का उल्लेख मिलता है।

बुद्ध के समकालीन अनेक अरूढ़िवादी धर्मोपदेशकों में एक वर्द्धमान थे जो अनुयायियों में महावीर के नाम से प्रख्यात थे। बौद्ध धर्म के इतिहास से जैन धर्म का इतिहास (विजेताओं का धर्म), जिसकी उन्होंने स्थापना की, नितांत भिन्न है। यह अपनी सुदृढ़ स्थापना में सफल रहा और कुछ स्थानों में तो अत्यधिक प्रभावपूर्ण रहा, परंतु इसका प्रसार भारत से बाहर न हुआ।

भक्ति आंदोलन का विकास 700–1200 ई. के बीच दक्षिण भारत में हुआ। उत्तर भारत में दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन का स्वरूप भिन्न था। सगुण–निर्गुण, राम भक्ति परम्परा, कृष्ण भक्ति परंपरा, अद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि इसी के विभिन्न रूप हुए।

सूफी मत को बहुत से सूफियों ने प्राचीन धर्म माना है और बताया है कि इसके मूल प्रवर्तक स्वयं आदिम पुरुष थे। परन्तु कुछ लोग इसके प्रथम प्रचारक–मुहम्मद साहब को बताते हैं किंतु कुछ अन्य इसके मौलिक सिद्धांतों का 'कुरान शरीफ' में अभाव पाकर इसके प्रचार का श्रेय अली या अन्य किसी महापुरुष को देना चाहते हैं जो पैगम्बर का साथी रह चुका हो।

औद्योगिक समाज तर्कपरकता और बौद्धिककरण की विशिष्टताओं के अलावा सबसे ऊपर विश्व की माया से परे पहचाना जाता है। संस्कृति का धर्मनिरपेक्षीकरण न

सिर्फ मनुष्य की सोच में विवेक की बढ़ोत्तरी करता है बल्कि 'पवित्र की अवनति' का भी कारण होता है, जो अकसर लोगों और चीजों के प्रति प्रवृत्तियों का 'अलौकिकीकरण' ठहराया जाता है।

टिप्पणी

इस इकाई में हम प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक कालीन भारत की धार्मिक धारणाओं तथा उनकी अवस्थिति का अवलोकन करेंगे।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्म की धारणाओं को समझ पाएंगे;
- भक्ति आंदोलन एवं सूफीवाद का आकलन कर पाएंगे;
- धर्मनिरपेक्षता की अर्थवत्ता–महत्ता जान पाएंगे;
- अध्यात्मवाद के मर्म को समझ पाएंगे।

2.2 धार्मिक धारणाएं एवं उनकी अवस्थिति

भारत विविध धर्मों, विचारधाराओं एवं अध्यात्म से सुसज्जित देश है। भारत की धार्मिक धारणाओं एवं उनकी जिंदगी को मूलतः निम्नांकित क्रम में समझा जा सकता है–

2.2.1 प्राचीन धार्मिक धारणाएं : वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्म

प्राचीन अथवा सनातनी धर्म का आधार–ग्रंथ ऋग्वेद है। ऋग्वेद में पुरुष देवताओं की प्रधानता थी। उसमें 33 देवताओं का उल्लेख है। इस प्रकार आर्यों का धर्म बहुदेववाद पर आधारित था। आर्यों के सभी देवता प्रकृति के विभिन्न तत्वों के प्रतीक थे। इस प्रकार यह माना जाता है कि आर्यों के धर्म का आधार प्रकृति पूजा था। आर्यों के देवताओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1– **पृथ्वी के देवता**–वे देवता जो पृथ्वी के प्रतीक थे। इनमें पृथ्वी, अग्नि, सोम और बृहस्पति आदि थे।

2– **अंतरिक्षीय देवता**–वे देवता जो वायुमंडल के प्रतीक थे। इनमें इंद्र, वायु, मारुत, प्रजन्य, रुद्र, आपह आदि थे।

3– **आकाशीय देवता**–वे देवता जो आकाश के प्रतीक थे। इनमें वरुण, मित्र, सूर्य, ऊषा, सावित्री, पूशान, आदित्य, विष्णु, अश्विनी कुमार आदि थे।

आर्यों में यज्ञ, आहुति और पशुबलि को प्रधानता दी गई थी, जिनके द्वारा वे देवताओं को प्रसन्न करके शक्ति, संपत्ति और विभिन्न पदार्थों एवं सुविधाओं को प्राप्त करने की आशा करते थे। आर्यों ने मृत्यु के पश्चात के जीवन तथा स्वर्ग एवं नर्क की कल्पना की थी। परंतु वह जीवन उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण न था। वे इस जीवन से प्रेम करते थे और उसकी वृद्धि एवं संपन्नता के लिए देवताओं को प्रसन्न करते थे। इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म की कुछ विशेषताएं थीं–

1– धर्म उपयोगितावादी था क्योंकि आर्य निरंतर देवताओं को प्रसन्न करके अपने लिए सुख, सुविधा, शक्ति, आयु, संपत्ति आदि की इच्छा करते थे।

टिप्पणी

2– आर्यों के देवता उदार थे और यदि उन्हें प्रसन्न कर लिया जाता था तो वे मनुष्य को सभी कुछ दे देते थे।

3– देवताओं में पुरुष देवता की प्रधानता थी।

4– मूर्ति पूजा का सर्वथा अभाव था।

5– धर्म का आधार जीवन के प्रति निराशा न था बल्कि आशा और उत्साह का था।

6– धर्म में पुरोहित वर्ग का प्रभाव महत्वपूर्ण न था अपितु गृहपति ही समस्त धार्मिक कार्यों की पूर्ति कर लेता था। विशेष अवसरों पर ही पुरोहितों की आवश्यकता होती थी।

7– कर्म सिद्धांत और जीव के 'आवागमन का सिद्धांत' अभी तक पूर्ण रूप से मान्य नहीं थे।

अतः ऋग्वैदिक सभ्यता की कुछ ऐसी विशेषताएं थीं जो इस सभ्यता को सबसे अलग करती हैं। डॉ. आर.सी. मजूमदार ने ऋग्वेद के महत्व के बारे में लिखा है–'हिदू सभ्यता के क्रमिक विकास को स्वीकार करना न्यायपूर्ण है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आज 30 करोड़ हिंदू इसे पवित्र में पवित्रतम मानकर सम्मान प्रदान करते हैं।'

जैन धर्म

जैन धर्म का इतिहास बौद्ध धर्म के इतिहास की भांति रोचक नहीं है। यद्यपि यह उतना महत्वपूर्ण कभी नहीं था, किंतु वह अपनी जन्मभूमि में अति जीवित रहा, जहां आज भी लगभग उसके दो करोड़ अनुयायी हैं, जिनमें अधिकांशतः धनसंपन्न व्यापारी हैं।

वर्द्धमान संबंधी कथाएं बुद्ध संबंधी कथाओं की अपेक्षा अल्पाकर्षक हैं तथा अधिक आडम्बरपूर्ण और अविश्वसनीय भी हैं। बौद्ध साहित्य में उनको बुद्ध का प्रतिद्वंद्वी कहा गया है। उनकी ऐतिहासिकता संदेह की सीमा से परे हैं। वे ईसा से 540 वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे तथा ज्ञात्रिकों के प्रधान सिद्धार्थ के पुत्र थे। यह ज्ञात्रिक वैशाली के लिच्छिवियों के सहयोगी थीं। उनकी मां त्रिशला लिच्छिवी प्रधान चेकट की भगिनी थी। इस प्रकार बुद्ध की भांति वे एक समुदाय द्वारा संचालित क्षत्रिय जाति की संतान थे जो उस समय एक शक्तिशाली राजनीतिक सत्ता थी। यद्यपि एक राजकुमार की भांति उनकी शिक्षा हुई, विवाह हुआ तथा एक पुत्री उत्पन्न हुई, किंतु उनकी वास्तविक रूचि मुक्ति की खोज में थी। तीस वर्ष की आयु में जब उनके माता–पिता का देहावसान हो गया, उन्होंने अपना गृह त्यागकर संन्यास जीवन ग्रहण किया। प्रथम उन्होंने एक संन्यासी वर्ग निर्ग्रंथियों' के अनुसार, जिसकी स्थापना किसी पार्श्व ने 200 वर्ष पूर्व की थी, अपनी साधना प्रारंभ की। बाद में निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग उस संघ के सदस्यों के लिए किया गया जिसकी महावीर ने स्थापना की और पार्श्व जैन धर्म के चौबीस शिक्षकों अथवा तीर्थकरों में से तेईसवें तीर्थकर कहलाए। लगभग बारह वर्ष तक वर्धमान एक स्थान से अन्य स्थान भोजन की भिक्षा मांगते, चिंतन करते, विवाद करते तथा अपने शरीर को सभी प्रकार की यंत्रणाएं प्रदान करते हुए भ्रमण करते रहे। प्रथम उन्होंने एक परिधान शरीर पर धारण किया जिसे उन्होंने कभी बदला नहीं, किंतु तेरह मास के उपरांत उन्होंने उस भार को भी पृथक कर लिया और उनका शेष जीवन पूर्ण नग्नता

में व्यतीत हुआ। लगभग छह वर्ष तक एक अन्य संन्यासी गोशाल मक्खलि उनकी कठोरताओं में उनका सहभागी रहा, परंतु अंत में दोनों में विवाद हुआ और गोशाल ने वर्द्धमान को छोड़ दिया और आजीविकों के संप्रदाय की स्थापना की।

टिप्पणी

अपने संन्यास तथा तप के तेरहवें वर्ष में वर्द्धमान को पूर्ण ज्ञान तथा निर्वाण की प्राप्ति हुई। वे 'अर्हंत' तथा 'जिन' बन गए। शीघ्र ही उन्हें महान यश तथा अनेक अनुयायियों का विशाल जनसमुदाय प्राप्त हो गया। तीस वर्ष तक उन्होंने गंगा मैदान में अपने धर्म की शिक्षा प्रदान की। इन्हें उन्हीं राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ जो बुद्ध के संरक्षक थे। वे अपने विरोधी गोशाल के और संभवतया बुद्ध के उपरांत भी जीवित रहे तथा 72 वर्ष की आयु में उपवास के कारण मगध की राजधानी राजगृह के समीप एक छोटे–से–स्थान पावा में उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के संबंध में, जो संभवतया ईसा से 468 वर्ष पूर्व हुई, विरोधात्मक कथाएं प्रचलित हैं।

लगभग दो शताब्दियों तक जैन लोग, भिक्षुओं की एक छोटी–जी जाति तथा साधारण अनुयायियों की एक जाति के रूप में रहे, जिनका महत्व प्रतिद्वंद्वी संप्रदाय आजीविकों की अपेक्षा न्यून रहा। एक दृढ़ प्रतिष्ठित जैन कथा के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य राज्य परित्याग के उपरांत जैन संप्रदाय में एक भिक्षु के रूप में सम्मिलित हो गया और ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में शक्ति की उन्नति हुई। चंद्रगुप्त मौर्य के काल में एक महान दुर्भिक्ष के कारण अनेक जैन भिक्षुओं ने गंगा के मैदान से दक्षिण की ओर प्रव्रजन किया जहां उन्होंने अपने धर्म के महत्वपूर्ण केंद्र स्थापित किये।

इस प्रव्रजन के कारण मठीय अनुशासन के विषय पर जैन धर्म में मतभेद का उदय हुआ। भद्रबाहु ने, जो संप्रदाय में वयोवृद्ध था जो प्रव्रजन का नेता था, महावीर द्वारा स्थापित नग्नता के नियम की स्थिरता पर आग्रह किया। भिक्षुओं के नेता स्थूलभद्र ने, जो उत्तर में रहा था, अपने अनुयायियों को दुर्भिक्ष की कठिनाइयों तथा अव्यवस्थाओं के कारण श्वेत परिधान धारण करने की आज्ञा प्रदान की। इस भांति जैनियों के दिगंबर (दिशाएं ही जिनके वस्त्र हैं, अर्थात नग्न) तथा श्वेतांबर (श्वेत वस्त्र धारण करने वाले) दो संप्रदायों की उत्पत्ति हुई। ईसाब्दोपरांत प्रथम शताब्दी तक इस मतभेद को अंतिम रूप प्राप्त नहीं हुआ और दोनों संप्रदायों के बीच कोई मूल सैद्धांतिक अंतर नहीं थे। बाद को नग्न संप्रदाय के अधिकांश भिक्षु जनता में वस्त्र धारण करने लगे, किंतु विभाजन अद्यावधि विद्यमान ही रहा है।

परंपरागत स्वरूप के अनुसार एक पवित्र मौखिक साहित्य महावीर के समय से चला आ रहा था, किंतु भद्रबाहु इसके अंतिम पूर्ण ज्ञाता थे। उनकी मृत्यु के पश्चात स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में एक विशाल सभा बुलाई और यथासंभव सर्वश्रेष्ठ बारह अंगों अथवा धाराओं में धर्म सिद्धांतों की पुनः रचना की गई, जिसने पहले 14 पूर्वों का स्थान ग्रहण किया। नवीन सिद्धांतों को केवल श्वेतांबरों ने स्वीकार किया। दिगंबरों ने यह मांग की कि प्राचीन सिद्धांत सर्वथा लुप्त हो गए हैं अतएव वे नवीन ग्रंथों की स्वयं आयोजना करने के हेतु अग्रसर हुए, जिनमें से अनेक अब भी अप्रकाशित हैं। श्वेतांबर संप्रदाय के सिद्धांत ग्रंथ अंतिम रूप से निश्चित हो गए। ईसाब्दोपरांत पांचवीं शताब्दी में काठियावाड़ के एक नगर बल्लभी में आयोजित सभा में उन्हें लेखबद्ध कर दिया गया। इस समय तक ग्रंथ अति विकृत हो चुके थे और एक अंग पूर्णतया नष्ट हो चुका था, जबकि कुछ अल्प महत्त्व के ग्रंथों तथा सिद्धांतों में बारह उपांगों के रूप में नवीन सामग्री का समावेश कर दिया गया। मध्यकाल में प्राकृत तथा संस्कृत दोनों में

कुछ विशाल व्याख्या ग्रंथों की रचना हुई और अनेक ऐसे दार्शनिक भिक्षु थे जिन्होंने संप्रदाय के धर्मग्रंथों की व्याख्या की। कुछ भिक्षुओं का ध्यान असांप्रदायिक साहित्य एवं ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की ओर गया। इससे उनकी पवित्रता को कोई हानि नहीं हुई।

टिप्पणी

मौर्य एवं गुप्तकालों के मध्य जैन धर्म के अवशेष पूर्व में उड़ीसा से लंका एवं पश्चिम में मथुरा तक प्राप्त हो सकते हैं, किंतु उत्तरवर्ती कालों में यह धर्म प्रधानतया काठियावाड़ गुजरात तथा राजस्थान के भागों में, जहां श्वेतांबर संप्रदाय की बहुलता थी तथा प्रायद्वीप के मध्य भाग, आधुनिक मैसूर और दक्षिणी हैदराबाद, जहां दिगंबरों का आधिपत्य था – दो क्षेत्रों में केंद्रित हो गया था। जैनियों की जन्मभूमि गंगा की घाटी पर इसका कोई प्रभाव न था।

पश्चिमी भारत के मुख्य राजाओं से श्वेतांबरों को अधिक सहयोग प्राप्त हुआ तथा चालुक्य राजा कुमारपाल के शासकाल में जो गुजरात तथा काठियावाड़ पर बारहवीं शताब्दी में राज्य करता था, उसकी स्थिति अत्यधिक प्रतिष्ठापूर्ण थी। कहा जाता है कि एक जैन विद्वान हेमचंद्र के पथ–प्रदर्शन में कुमारपाल ने जैन सुधार का सूत्रपात किया, परंतु उसकी मृत्यु के उपरांत संप्रदाय का अधिकांश प्रभाव नष्ट हो गया और यद्यपि वह आज भी पनप रहा था, परंतु उसे वह महत्ता कभी प्राप्त न हुई। इसी प्रकार प्रारभिक मध्ययुग में दिगंबरों का दक्षिण पर अधिक प्रभाव था जिसके निमित्त अनेक महत्वपूर्ण राजा धन्यवाद के अधिकारी हैं, किंतु जैसे ही शैव एवं वैष्णव धर्मों की वृद्धि हुई, जैन धर्म का प्रभाव शनैः शनैः कम होता गया। जैन धर्म बौद्ध धर्म की भांति मूलतः इस रूप में नास्तिकवादी है कि वह देवताओं को अस्वीकार न करते हुए भी विश्व–व्यवस्था में उसका कोई महत्त्वपूर्ण कार्य स्वीकार नहीं करता। एक जैन इस पर आस्था नहीं रखता कि किसी विशेष देवता के द्वारा संसार की सृष्टि, सुरक्षा तथा समाप्ति होती है। बौद्ध और जैन दोनों मतों के अनुसार संसार सार्वभौम नियम के अनुसार संचालित–सक्रिय होता है।

विश्व शाश्वत है

जैन दर्शन के अनुसार विश्व शाश्वत है। इसका अस्तित्व असंख्य चक्रों में विभाजित है। प्रत्येक चक्र में दो अवधियां होती हैं। एक 'उत्सर्पिणी' और दूसरी 'अवसर्पिणी'। प्रत्येक अवधि समस्त उद्देश्यों में अपनी पूर्ववर्ती अवधि के समान होती है। जिसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, सब मिलाकर तिरेसठ 'श्लाका पुरुष' (महान व्यक्ति) होते हैं, जो नियमित मध्यांतरों पर चक्र में निवास करते हैं। शैखरीय समय में मनुष्यों के आकार वृहद् होते हैं और उन्हें अपार आयु का जीवन प्राप्त होता है। उन्हें नियम अथवा संपत्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि कल्पवृक्ष उनकी याचना पर उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वर्तमान युग में संसार का शीघ्रता से ह्रास हो रहा है। इस युग का अंतिम तीर्थकर अंतिम निर्वाण प्राप्त कर चुका है और शनैः शनैः सत्य धर्म का लोप हो जाएगा। यह ह्रास की प्रक्रिया 40,000 वर्ष तक बनी रहेगी जबकि मनुष्य आकार–प्रकार में वामन हो जाएंगे और उनका जीवन केवल बीस वर्ष का होगा। वे गह्वरों में निवास करेंगे और समस्त सभ्यता यहां तक कि अग्नि के उपयोग का भी उन्हें विस्मरण हो जाएगा। तब परिस्थिति करवट लेगी और उनमें पुनः सुधार प्रारंभ होगा। फिर एक बार ह्रास होगा। इसी प्रकार अनंत काल तक यह क्रम चलता रहेगा।

टिप्पणी

हिंदू तथा बौद्ध धर्म के सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान के विपरीत जैनियों के सृष्टि विज्ञान में विश्व विनाशकारी प्रलय सम्मिलित नहीं है। जीवों (जीवनों) और अजीवों (निर्जीव सत्ताओं) के पारस्परिक क्रिया–संबंधों के आधार पर विश्व कार्य चलते हैं। वे अजीव तत्व हैं– आकाश, धर्म – जो गति का साधन अथवा स्थिति है, अधर्म– जो स्थिरता का साधन अथवा स्थिति है, काल (समय) तथा पदार्थ (पुद्गल)। आत्माएं पशु था वनस्पति जीवन की ही संपत्ति नहीं है अपितु ऐसे तत्वों को भी है जैसे पाषाण, शिलाखंड, प्रवहमान जल तथा अनेक अन्य प्राकृतिक पदार्थ– जिन्हें अन्य संप्रदाय जीवित स्वीकार नहीं करते।

आत्मा स्वाभाविक रूप में उज्ज्वल, सर्वज्ञाता तथा आनंदमय है। विश्व में असंख्य आत्माएं हैं जो सब मूलतः समान हैं, किंतु सूक्ष्म अणुरूपीय पदार्थ की संलग्नता के कारण उसमें विभेद है। ये सूक्ष्म पदार्थ जो मानव दृष्टि से अदृष्ट हैं, कर्म हैं। यह अन्य धर्म प्राणियों में अभौतिक सत्ता है, परंतु उसकी व्याख्या मौलिक दृष्टि से की गई है। स्वभावितः उज्ज्वल आत्मा धूमिल पड़ जाती है और इस प्रकार प्रथम उसे आध्यात्मिक तदुपरांत भौतिक शरीर की प्राप्ति होती है। आत्मा के अंधकार की तुलना शनैः–शनैः रजकणों से आवृत होते हुए किसी स्निग्ध एवं उज्ज्वल धरातल से की गई है। गति के फलस्वरूप कर्म आत्मा से संलग्न रहता हैः प्रत्येक तथा कोई भी गति किसी–न–किसी प्रकार के कर्म को प्रेरणा देती है, परंतु क्रूर तथा स्वार्थी स्वभाव की गतिविधि से औरों की अपेक्षा अधिकाधिक भयावह कर्मों की उत्पत्ति होती है। पूर्वार्जित कर्म और अधिक कर्मार्जन का पथ प्रशस्त करता है और इस प्रकार पुनर्जन्म के चक्र की निरंतरता अनंत काल तक बनी रहती है।

इस आधार पर पुनर्जन्म से मुक्ति का एकमात्र साधन, पूर्व से आत्मा संलग्न कर्म का दुरापसरण तथा और अधिक कर्माजन की समाप्ति है। वह एक समय सापेक्ष एवं कठिन प्रक्रिया है और यह विश्वास किया जाता है कि अनेक आत्माएं इसकी संप्राप्ति में कभी सफल नहीं होंगी अपितु अनंत काल तक पुनर्जन्म ग्रहण करती रहेंगी। कर्म की निर्जरा (समाप्ति) तप के द्वारा प्राप्त होती है और कर्म के आश्रव तथा बंध का सम्वार सावधानी से अनुशासित आचरण द्वारा प्राप्त होता है जिनके परिणामस्वरूप भयावह परिमाण का इसमें प्रवेश नहीं होता और वह तुरन्त छिन्न–भिन्न हो जाता है। जब आत्मा अंतिम रूप से मुक्त हो जाती है, यह तुरन्त उच्चतम स्वर्ग के ऊपर विश्व की अंतिम सीमा पर पहुंच जाती है जहां वह निष्क्रिय सर्वज्ञ आनंद में अनंत काल तक निवास करती है। यही जैनियों के लिए निर्वाण है।

यद्यपि जैन दर्शनिकों ने अपने धार्मदेशों का विकास किया और अतिसूक्ष्म ज्ञान–शास्त्र के सिद्धांत की सृष्टि की, किंतु यह मूल शिक्षाएं निश्चित रूप से अपरिवर्तित रही। महावीर और अन्य तेईस तीर्थंकरों की आराधना उसी भांति होती रही थी जिस भांति बुद्ध तथा हिंदू देवताओं की होती रही, परंतु जैन धर्म ने अपने अनीश्वरवाद में कभी किसी समन्वय की स्थापना नहीं की और इस संप्रदाय में ऐसी कोई प्रगति नहीं हुई जिसकी बौद्ध धर्म की महायान शाखा से कोई तुलना की जा सके। जैन धर्म एकमात्र कठिन संयम–शिक्षाओं के आधार पर 2,000 से अधिक वर्षों तक अनुजीवित रहा।

साधारण व्यक्ति के लिए पूर्ण मुक्ति संभव नहीं। यह जैन धर्म की बौद्ध तथा हिंदू धर्म से भिन्नता है जो कुछ अत्यपवाद रूपों में इसे अंगीकार करते हैं। निर्वाण

टिप्पणी

प्राप्ति हेतु मनुष्य को अपने वस्त्र सहित समस्त सामग्री का परित्याग कर देना चाहिए। केवल उपवासों के दीर्घक्रम, आत्मोत्पीड़न, अध्ययन एवं चिंतन के द्वारा वह स्वयं को कर्म से मुक्त कर सकता है और केवल कठोरतम आत्मानुशासन के द्वारा अपनी आत्मा में नवीन कर्म के प्रवेश का अवरोध कर सकता है। अतएव मुक्ति के लिए भिक्षु का जीवन आवश्यक है।

जो भी हो, बहुत प्रारंभ में ही अनेक जैन भिक्षुओं ने नग्नता के नियम का परित्याग कर दिया और आज दिगंबर संप्रदाय के भिक्षु भी –इसका पालन नियमित रूप से नहीं करते। उपदेशक स्तरीय जैन संत दिगम्बर रहते हैं। जैनियों के दोनों संप्रदाय, जो भी हो, यह स्वीकार करते हैं कि पूर्ण मुक्ति के लिए यह आवश्यक है। विश्व आज शीघ्रता से ह्रासोन्मुख है और कोई भी आत्मा आज न निर्वाण प्राप्त करती है, न इस भविष्य में प्राप्त करने की आशा रखती है। अतएव इस पतनोन्मुख युग में मानवीय दुर्बलता के निमित छूट के रूप में वस्त्र धारण कर लिए जाते हैं।

जैन भिक्षुओं के शासन–तंत्र में पराकाष्ठीय कठोरता थी और आज भी है। भिक्षु के दीक्षा संस्कार के समय उसके बाल काटे नहीं जाते अपितु समूल खींच लिए जाते थे। वह स्वयं को अनेक कठिनाइयों का आश्रय बनाता था, जैसे कि भारतीय ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्नकालीन सूर्यताप में तपस्या करना अथवा दीर्घकाल तक किसी असुविधाजनक मुद्रा में रहना। यद्यपि जैन धर्म में हिंदू मतावलम्बियों की कुछ कौतुकीय तपस्याओं का निषेध था तथापि भिक्षुओं के मिताहारों के बीच–बीच अनेक उपवास आया करते थे और अनेक जैन भिक्षु स्वयं महावीर के उदाहरण का अनुसरण करते हुए आमरणोपवास किया करते थे।

एक भिक्षु का जीवन पांच संकल्पों से शासित था, अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रहाचर्य, अपरिग्रह। इन संकल्पों की बड़ी कठोर व्याख्या की जाती थी। आक्रमण एवं हिंसा, चाहे ऐच्छिक हो अथवा आकस्मिक, कर्मांतर प्रवेश के बड़े सबल कारण थे, अतएव उनका विशेष रूप से परित्याग किया जाता था। आमिषाहार भिक्षु एवं साधारण को समान रूप से वर्जित था। कीट–जीवन तक की बड़ी सावधानी के साथ रक्षा की जाती थी। बौद्ध भिक्षुओं की भांति जैन जीवाणुओं के जीवन की रक्षा के हेतु पानी छानकर पिया करते थे। जैन भिक्षु सामान्यतया अपने साथ पक्षि–पंखों के झाड़न रखते थे और अपने मार्ग से पिपीलिकाओं एवं अन्य कीटाणुओं को उड़ाते चलते थे जिससे कि पैर के नीचे कुचलकर मर न सकें। वे अपने मुखों पर आवरण रखते थे कि वायुगत कोई अणुतम जीवन भी श्वास से अंतप्रवेश कर मर न सकें। कोई भी साधारण जैन कृषि व्यवसाय नहीं कर सकता था क्योंकि इसमें केवल वनस्पति जीवधारियों के ही नाश को नहीं अपितु भूमिस्थ अनेक जीवधारियों के नाश की संभावना थी। इस प्रकार अहिंसा की दृढ़ता में जैन धर्म किसी भी अन्य भारतीय धर्म से बहुत आगे बढ़ गया था। यह स्वरूप आज भी जैन संतों में दृष्टव्य है। खासकर दिगम्बर जैन संतों में।

जैन धर्म भारत में जीवित रहा जबकि बौद्ध धर्म नष्ट हो गया क्योंकि प्रथम संप्रदाय ने अपने जनसाधारण की अधिक सावधानी से देखभाल की। संभवतया बौद्ध की अपेक्षा जैन भिक्षुओं ने जनसाधारण की ओर अधिक ध्यान दिया और जैन धर्म में जनसाधारण संघ का एक निश्चित सदस्य था जिसे समय पर अवकाश लेने तथा यथाशक्ति एक निश्चित अवधि तक भिक्षु की भांति जीवन व्यतीत करने का प्रोत्साहन दिया जाता था। बौद्ध धर्म की भांति जैन–धर्म की व्यावहारिक शुचिता तथा मितव्ययिता

के व्यवसायोचित गुणों का प्रोत्साहन करता था और बहुत प्रारंभ में ही सर्वसाधारण जैनियों की जाति सर्वोपरि वाणिज्य वृत्ति जाति बन गई। आबू तथा श्रवण बेलगोला के महान मंदिर मध्ययुगीन साधारण जैन की विशाल संपत्ति और धर्मनिष्ठा के प्रमाण है।

टिप्पणी

जैन धर्म के कोई विशेष सामाजिक धर्मादेश नहीं थे। एक जनसाधारण के पारिवारिक संस्कार–यथा जन्म, विवाह एवं मृत्यु वही थे जो हिंदुओं के थे। किसी समय जैन धर्म में स्तूपों की उपासना पद्धति प्रचलित थी जैसी कि बौद्ध धर्म में, किंतु वह अनुजीवित न रही। ईसवी युग के प्रारंभ में तीर्थंकरों को मंदिरों में मूर्ति के रूप में, प्रतिष्ठित किया जाता था। मध्ययुग तक यह आराधना लगभग हिंदू पूजा–पद्धति के समकक्ष पहुंच गई और उसमें पुष्प, गंध, दीप आदि समर्पित किए जाते थे। हिंदुओं के मुख्य–मुख्य देवता उपाश्रित स्थिति में जैनियों के मंदिर तक पहुंच गए। यद्यपि यह आस्तिकवाद से कोई वास्तविक समझौता न था तथापि जैन संप्रदाय हिंदू धर्म व्यवस्था में सरलता से खप गया और इसके सदस्य अपनी–अपनी पृथक जातियां बनाए रहे।

जैनियों का धार्मिक साहित्य रोचक नहीं है और बहुधा यह पांडित्यपूर्ण है। यद्यपि जैनी लोग ईमानदारी तथा दया सरीखे गुणों की उद्‌भावना करते हैं, तथापि नकारात्मकता तथा स्वार्थपरता के अधिक समीप प्रतीत होता है। जैन धर्म का अपने अहिंसा के गुण से प्रायः कोई विशेष प्रेम नहीं है, परंतु उसका भाव केवल शाकाहार तथा क्षुद्र जीवों की आकस्मिक हत्या से सावधान रहना है। हां, जैन ग्रंथों में ऐसे अवतरण हैं जो प्रेम तथा मानवीय सहानुभूति प्रकट करते हैं। अहिंसा के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए प्रारंभिक 'आचारांग सूत्र' लिखता है–

"एक ज्ञानी को न तो प्रसन्न होना चाहिए न क्रुद्ध। उसे समस्त पदार्थों की प्रसन्नता का ज्ञान तथा विचार होना चाहिए..... जीवन अनेकों को प्रिय है जिनका खेतों तथा भवनों पर स्वामित्व है, जिन्हें रंगे हुए वस्त्र, सूत्र तथा कर्णाभरण प्राप्त हैं। और जिनका उनसे मोह हो जाता है ..... केवल वही इन वस्तुओं की कामना नहीं करते जिनका चरित्र नियंत्रति है। अतएव जन्म–मरण का ज्ञान रखते हुए तुम्हें निश्चलता से मार्गानुसरण करना चाहिए।

मुत्यु के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है। समस्त प्राणियों को स्वयं अपने से प्रेम है, वे आनंद से प्रेम और पीड़ा से घृणा करते हैं, वे विनाश से दूर भागते और जीवन से अश्लिष्ट रहते हैं। वे जीवित रहने की लालसा करते हैं। सभी पदार्थों को जीवन प्रिय है।''

बौद्ध धर्म

बुद्ध की परंपरागत कथा को भी प्राचीन युग के अनेक योद्धाओं की भांति उच्चवर्गीय आलोचनाओं से पर्याप्त हानि सहन करनी पड़ी है। उनके जन्म तथा प्रारंभिक जीवन की गाथा बौद्ध ग्रंथों की केवल उत्तराकालीन रचनाओं में ही प्राप्त होती है तथा नियम व्यवस्था के उन अंशों में जिनका लक्ष्य शिक्षाओं को शब्दशः अंकित करना हैं, उसके संबंध के प्रसंग तक किसी प्रकार विश्वसनीय नहीं हैं। धर्म–चक्र संबंधी उपदेश की प्रामाणिकता भी जिसके विषय में यह विश्वास है कि ज्ञान प्राप्ति के उपरांत बुद्ध का वह प्रथम उपदेश था जो समस्त बौद्ध संप्रदायों की मूल शिक्षा का आधार है, संदिग्ध है। जिस रूप में वह आज प्राप्त है उस रूप में निमयों के पूर्वतम अंशों में नहीं है। ऐतिहासिक बुद्ध के बौद्ध धर्म से स्पष्टतः भिन्न सिद्धांतों के विषय में संदेह विद्यमान है।

टिप्पणी

कुछ विद्वानों का कथन है कि वे सिद्धांत औपनिषदीय शिक्षाओं से कुछ ही भिन्न थे। जबकि एक अन्य की धारणा थी कि बुद्ध ने पुनर्जन्म के सिद्धांत को अस्वीकार किया और केवल स्वतः स्पष्ट–सत्यों की, जो एक जन्म परवर्ती जन्म के कर्मों से प्रभावित होता है, शिक्षा दी। अस्तु, हम यहां बुद्ध के जीवन पर नहीं वरन उनके अनुयायियों के बुद्ध के जीवन संबंधी विश्वासों पर, तथा बुद्ध की शिक्षाओं पर विचार करते हैं।

बुद्ध के जीवन–संबंधी कुछ तत्व तर्कतः निश्चित हैं। वह हिमालय की तराई में निवास करने वाले एक छोटे–से शाक्य, नामक कबीले के प्रधान के पुत्र थे। वह संन्यासी हो गए और उन्होंने एक नवीन धर्मादेश की घोषणा की जिसे असंख्य शिष्यों का सहयोग प्राप्त हुआ। कौशल तथा मगध के राज्यों तथा गंगा के उत्तरी कबीलों के प्रदेशों में कई वर्ष के धर्म प्रचार के पश्चात 80 वर्ष की आयु में ईसा पूर्व लगभग 486 तथा 477 वर्षों के मध्य संभवतः उनकी मृत्यु हुई। उनके जीवन की गाथा, जिस रूप में उनके अनुयायी वर्णन करते हैं, इस रूपरेखा से कहीं अधिक स्पष्ट एवं अतिरंजित है और यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अफगानिस्तान के पूर्व संपूर्ण एशिया में उसने संख्यातीत जनों को प्रभावित किया।

शाक्यों के राजा शुद्धोधन की पटरानी महामाया ने एक रात्रि को स्वप्न देखा कि वह एक हिमालयस्थ स्वर्गीय सरोवर अनवतप्त को ले जायी गई, जहां जगत की चार दिशाओं के स्वर्गीय दिगाधिपतियों के साथ उसने स्नान किया। एक विशाल गज अपनी सूंड़ में एक कमल पुष्प लेकर उसके समीप गया और उसकी कुक्षि में प्रविष्ट हो गया। दूसरे दिन बुद्धिमान जनों ने इस घटना की व्याख्या स्पष्ट की– रानी के गर्भ में एक आश्चर्यजनक पुत्र का आगमन हुआ है जो या तो सार्वभौम महाराजाधिराज होगा अथवा एक महान संत उपदेशक। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु के समीप शाल वृक्षों की एक कुंज में लुम्बिनी में पुत्र का जन्म हुआ। इस समय रानी पिता के गृह प्रसवकाल के लिए जा रही थी।

लड़के का नाम जन्मोपरांत पंचम दिवस पर बड़े उत्सव के साथ सिद्धार्थ रखा गया। उसका गोत्रीय अभिधान गौतम था जिससे सर्वत्र बौद्ध साहित्य में उसका उल्लेख किया जाता है। भविष्यवक्ताओं ने भविष्यवाणी की कि वह एक सार्वभौम सम्राट होगा। उन वक्ताओं में से एक अपवाद था जिसने कहा कि चार लक्षण उसे संसार की यंत्रणा का विश्वास दिला देंगे और वह एक सार्वभौम उपदेशक हो जायेगा। इसी भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध कर देने के विचार से महाराज शुद्धोधन ने दृढ़ निश्चय किया कि वह संसार के दुखों से कभी अवगत न हो। बड़े ही आनंदपूर्ण प्रासादों में उसका पालन हुआ, जिनके उद्यानों से मृत्यु, रोग तथा दुख दैन्य का प्रत्येक लक्षण दूरापसृत कर दिया गया था। उसने राजकुमारोचित प्रत्येक कला का ज्ञान प्राप्त किया तथा विद्यार्थी के रूप में वह सर्वश्रेष्ठ था। उसका विवाह यशोधरा के साथ हुआ। यशोधरा को उसने एक वृहत प्रतियोगिता में अपनी शक्ति एवं प्रतिभा के प्रदर्शन के आधार पर जीता, जिससे समस्त अन्य प्रतियोगियों को जिनमें उसका चचेरा भाई देवदत्त भी था, लज्जित होना पड़ा।

अपनी संपूर्ण समृद्धि एवं सफलता की विद्यमानता में भी उसे आंतरिक सुख न था और अपने पिता के समस्त प्रयत्नों के पश्चात भी वे पूर्व–कथित चार लक्षण, जो उसके जीवन लक्ष्य के निर्णायक थे, उसे दृष्टिगोचर हो ही गए। देवता लोग उसके भाग्य से अवगत थे और उन्होंने ही वे चारों चिह्न उसके समक्ष उपस्थित किये। एक

टिप्पणी

दिन जब वह अपने स्वामीभक्त सारथी चाण के साथ राज्योद्यान के समीप रथ हांक रहा था, उसने एक जराग्रस्त व्यक्ति को देखा जो दौर्बल्य तथा वृद्धावस्था की अंतिम सीमा पर था। (वास्तव में वह एक देवता था जिसने यह छद्मवेष धारण किया था कि सिद्धार्थ गौतम बुद्ध बन सकें।) सिद्धार्थ ने चाण से प्रश्न किया, ''यह घृणा का पात्र कौन जीवधारी है।'' जब उसे यह ज्ञात हुआ कि सभी मनुष्य निश्चय ही वृद्ध होंगे तो उसे अत्यधिक मानसिक आकुलता हुई। यह प्रथम चिह्न था।

कुछ समय पश्चात इसी प्रकार सिद्धार्थ के सामने एक अत्यधिक रुग्ण व्यक्ति आया, जो ब्रणों से आवृत्त–शरीर तथा ज्वर से कम्पित था। तृतीय इससे भी भयानक था– हाहाकार रुदन करने वाले शोकाकुल व्यक्तियों से अनुयायमान एक शव, श्मशान भूमि को ले जाया जा रहा था।

चतुर्थ चिह्न से सिद्धार्थ को आशा एवं संतोष की प्राप्ति हुई. एक परिव्राजक धार्मिक भिक्षु, जो साधारण गेरुए वस्त्र धारण किए था, शांतिपूर्ण एवं मौन, जिसके ढंग से उसका आभ्यांतरिक सुख परिलक्षित होता था। उस पर दृष्टिगत करते ही सिद्धार्थ को यह प्रतीति हो गई कि उनका अभीष्ट किस स्थान पर था। उन्होंने परिव्राजक होना निश्चय किया।

यह सुनने के पश्चात महाराज शुद्धोधन ने अपनी सावधानियों को द्विगुणित कर दिया। सिद्धार्थ सत्य रूप में मानो एक बंदी बना दिए गए। यद्यपि अब भी वह आनंद एवं ऐश्वर्य के मध्य में थे, किंतु उनके हृदय को शांति न थी और वे कभी उन चार चिह्नों का विस्मरण न कर सकें। एक दिन प्रातः उन्हें यह समाचार दिया गया कि यशोधरा ने पुत्र को जन्म दिया है। उन्हें इससे भी सुख प्राप्त न हुआ। उस रात्रि को बड़े उत्सव मनाये गए, परंतु जब सभी निद्रामग्न थे उन्होंने चाण को जगाया जिसने उनके प्रिय अश्वकंथक को पृष्ठापर्याण किया और वे रात्रि के मध्य अश्वारूढ़ होकर दूर चले। उन्हें परिवृत किए हुए अर्द्धदेवों ने अश्व–पदाघातों को गद्दीदार बना दिया जिससे कोई भी उनके इस अभिनिष्क्रमण को न सुन सके।

जब नगर से वे बहुत दूर पहुंच गए उन्होंने राजसी वस्त्रों तथा आभूषणों को उतार दिया और एक संन्यासी का परिधान धारण कर लिया। यह उन्हें उनके एक परिचारक अर्द्धदेव ने प्रदान किया। अपने खड्ग से उन्होंने अपने तरंगित केश–कलाप काट दिए और अपने वस्त्रों के साथ उन्हें चाण के हाथों अपने पिता के पास भेज दिया। दुख के कारण अश्व कंथक मृतवत उदास हो गया, जब उसे यह प्रतीति हुई कि वह अपने स्वामी से स्वर्ग में पुनर्जन्म प्राप्ति हेतु वियुक्त हो रहा है। इस प्रकार परिव्राजक सिद्धार्थ ने शरीरधृत वस्त्र के अतिरिक्त कुछ भी अधिकार में न रखते हुए महाभिनिष्क्रम संपन्न किया।

वे प्रथम तो एक परिव्राजक के रूप में अपना भोजन भिक्षा से प्राप्त करते रहे, किंतु शीघ्र ही उन्होंने इसका परित्याग करके एक अरण्येवी संन्यासी का जीवन ग्रहण किया। एक आलार कालाम नामक साधु से उन्होंने तप की क्रियाओं तथा उपनिषद्–प्रतिपादित ब्रह्म विद्या की शिक्षा प्राप्त की परंतु उन्हें इससे संतोष न हुआ कि व्यक्ति आत्मंयम तथा ज्ञान के द्वारा दुख से निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। अतएव सिद्धार्थ उन पांच संन्यासियों के सहयोगी बन गए जो अपने कर्मों के नाश तथा परमानन्द की प्राप्ति के निमित्त कठिनतम आत्मयंत्रणाओं का अभ्यास कर रहे थे।

टिप्पणी

उनका तप इतना कठिन हो गया था कि पांचों संन्यासियों ने उन्हें अपना नेता स्वीकार कर लिया। छह वर्ष तक उन्होंने अपने आपको इतने कष्ट दिए कि वे गतिमान अस्थिपंजरमात्र शेष रह गए। एक दिन तप तथा क्षुधा से क्षीण वे अचेत हो गए और उनके अनुयायियों ने उन्हें मृत समझ लिया। परंतु कुछ क्षणों पश्चात उन्हें पुनः चेतना प्राप्त हुई और तब उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनका तप एवं उनके उपवास निष्फल गए। उन्होंने पुनः भोजन की भिक्षा मांगनी प्रारंभ की और उनकी काया ने पुनः शक्ति का अर्जन कर लिया। उन पांचों शिष्यों ने इसे उनकी अधोगति समझा और घृणा से उन्हें त्याग दिया।

एक दिन गौतम जो अब पैंतीस वर्ष की आयु के थे, मगध राजा बिम्बिसार के समय में गया के समीप एक विशाल अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। एक समीप के कृषक की कन्या सुजाता दुग्धोदनपूर्ण एक बड़ा पात्र लायी। उसमें से कुछ का भोजन करने के पश्चात उन्होंने स्नान किया तथा उसी सायंकाल पुनः उसी अश्वत्थ के नीचे बैठे हुए उन्होंने एक पावन संकल्प किया– यद्यपि उनकी अस्थियां जीर्ण हैं और रक्त स्वल्प, वह अपना स्थान उस काल तक न छोड़ेंगे जब तक उन्हें दुख की समस्या का उचित समाधान प्राप्त नहीं हो जाता।

बहुत समय तक गौतम ने समस्त प्रकार के प्रलोभनों का सामना किया। संवादवाहक ने आकर सूचना दी कि उनके चचेरे भाई देवदत्त ने विद्रोह कर दिया है। उनके पिता शुद्धोधन को कारागार में डाल दिया है तथा यशोधरा को स्ववश कर लिया है। गौतम अडिग रहे। मार (बौद्ध जिसे असुर मानते हैं) ने अपने दानव समूह को आमंत्रित कर लिया एवं चक्रवात, जलप्लावन तथा भूकंप से उन पर आक्रमण किया, परंतु वह वृक्ष के नीचे पद्यासन पर निश्चल बैठे रहे। तब प्रलोभनकर्ता ने गौतम से उनके सद्भाव तथा परोपकार के प्रतिसाक्ष्य की मांग की। उन्होंने अपने कर से भूमि का स्पर्श किया और भूमि स्वतः एक वज्र स्वर से बोली– ''मैं उसकी साक्षी हूं।''

मार ने तदुपरांत गौतम के दृढ़ निश्चल को डिगाने के हेतु ललित साधनों का उपयोग किया। उसने अपनी तीन पुत्रियों कामना, आनंद और वासना को बुलाया जो उनके सम्मुख नृत्य एवं गायन करती रहीं। उन तीनों ने उन्हें पथभ्रष्ट करने के प्रत्येक साधन का उपयोग किया। उनके कपट सर्वथा प्रभावहीन रहे। उन्होंने गौतम को सार्वभौम साम्राज्य सत्ता भी प्रदान की, परंतु वह नितांत सुदृढ़ बने रहे।

अंततोगत्वा उस दानव समूह ने संघर्ष छेड़ दिया और एकाकी गौतम शनैः शनैः और अधिक गंभीर साधना में निमग्न हो गए। उनचासवें दिन के अरुणोदय के साथ उन्हें सत्य की अनुभूति हुई। उन्हें दुख का रहस्य ज्ञात हुआ और अंततः वह यह जान सके कि क्यों संसार यातनाओं एवं सर्वप्रकार के दुखों से परिपूर्ण है तथा उन्हें पराजित करने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए। अब वह पूर्णतः ज्ञानवान–बुद्ध थे। अतिरिक्त सात सप्ताह तक वे बोधिवृक्ष–ज्ञान नामक पेड़–के नीचे रहे और जिन सत्यों की उन्हें प्राप्ति हुई उन पर विचार करते रहे।

कुछ समय तक वे इस दुविधा में रहे कि क्या उन्हें अपने ज्ञान की संसार में घोषणा करनी चाहिए क्योंकि वह कथन के निमित्त इतना गूढ़ तथा कठिन था कि अल्पजन ही उसे समझ सकेंगे। ब्रह्मदेवता तब स्वयं स्वर्ग से अवतरित हुए और उन्हें संसार की शिक्षा के निमित्त प्रोत्साहित किया। बोधिवृक्ष को छोड़कर उन्होंने बनारस के

समीपस्थ सारनाथ तक यात्र की जहां उनके पुराने पांच शिष्य अपनी भावी तपोसाधना के निमित्त रह रहे थे।

टिप्पणी

इन्हीं पांच संन्यासियों को बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश प्रदान किया और बौद्ध परिभाषा में ''धर्मचक्र–प्रवर्तन किया।'' वे पांचों इतने प्रभावित हुए कि अपनी तत्पश्चर्या का परित्याग करके पुनः बुद्ध के शिष्य बन गए। कतिपय दिनों के उपरांत साठ युवक संन्यासियों के एक वर्ग ने उनका अनुगमन किया। उन्होंने उन सबकों चारों ओर बौद्ध धर्म के उपदेशों का प्रचार करने भेज दिया। शीघ्र ही समस्त गंगा के मैदान में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया तथा उस समय के महानतम सम्राटों ने उनका तथा उनके अनुयायियों का पक्ष ग्रहण किया। अपने साथ उन्होंने संयमशील भिक्षुओं का एक समुदाय एकत्र किया जो उस संस्थान के गेरुआ वस्त्रों के एक जैसे परिधान से तथा स्वयं बुद्ध द्वारा निर्धारित परंपराओं के अनुकूल से अनुशासन में थे। उनके उपदेशों के संदर्भ में अनेक दीर्घ वर्षों के संबंध में अनेक कथाएं प्रचलित हैं।

वे कपिलवस्तु को लौटे तथा अपने पिता, पत्नी एवं पुत्र राहुल और राजसभा के अन्य सदस्यों को, जिनमें उनका ईर्ष्यालु–हृदय चचेरा भाई देवदत्त भी सम्मिलित था, बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। अपनी पालनकर्ती माता तथा चाची कृष्ण गौतमी की प्रार्थना पर अनेक शंकाओं के साथ तपस्विनियों के एक समाज की रचना की अनुमति भी उन्होंने प्रदान की। देवदत्त की उनके प्रति ईर्ष्या इतनी बढ़ी कि एक बार उसने एक विक्षिप्त गज को उनके मार्ग में छोड़कर उनकी हत्या का प्रयत्न किया, किंतु बुद्ध की सुजनता एवं निर्भिकता से प्रभावित होकर वह पशु शांत भाव से उनके चरणों पर विनत हो गया। उन्होंने शाक्यों एवं उनके प्रतिवेशी कुल्यों के कबीले के युद्ध का निवारण, एकत्र सेनाओं के समक्ष जाकर रक्तपात की हानि तथा व्यर्थता सिद्ध करके किया। एक कुख्यात दस्यु अंगुलिमाल के शिविर में वे स्वयं गए तथा उसे एवं उनके अनुयायियों को कुमार्ग से हटाकर दीक्षा दी।

यद्यपि किवदंती के अनुसार बुद्ध के जीवन में अनेक आश्चर्यजनक घटनाएं हुई। प्रारंभिक कथाओं में कुछ ऐसे चमत्कारों का उल्लेख है जो स्वयं बुद्ध ने प्रदर्शित किये। कहा जाता है एक बार किसी प्रतिद्वंद्वी धर्मोपदेशक की चुनौती पर उन्होंने जल संतारण का अद्‌भुत कार्य एवं श्रावस्ती में अन्य चमत्कार दिखाये परंतु उन्होंने भिक्षुओं को ऐसे ऐंद्रजालिक चमत्कार करने के लिए कठोरता से निषेध किया। किसी रोगी को अलौकिक साधनों द्वारा स्वस्थ करने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। इस प्रसंग में बुद्ध की एक मार्मिक कथा अति रोचक है क्योंकि महात्मा ईसा की चमत्कार कथाओं से इसका आश्चर्यजनक वैपरीत्य है। अपने एकमात्र पुत्र के देहावसान पर दुख से जर्जर एक महिला यह सुन करके कि महात्मा बुद्ध समीप आए हुए हैं, पुत्र का शव लेकर उनके सम्मुख इस आशा में उपस्थित हुई कि वह उसके पुत्र को पुनर्जीवन प्रदान कर देंगे। प्रथम उन्होंने समीप के नगर से एक मुट्ठी सरसों ऐसे गृह से लाने का आदेश दिया जिसमें कभी कोई मृत्यु न हुई हो। वह द्वार–द्वार गई, किंतु सत्य ही उसे ऐसा परिवार न मिला। इस अवधि में परिणामतः वह मृत्यु तथा दुख की अनिवार्यता से अवगत हो गई। वह एक भिक्षुणी बन गई।

वर्ष के आठ मास तक बुद्ध उनके अनुयायी एक स्थान से दूसरे स्थान यात्र करते और सर्वसाधारण को नाना प्रकार के उपदेश दिया करते थे। वर्षाट्टतु के चार

टिप्पणी

मास– जो स्थूल रूप से इंग्लैंड के ग्रीष्मकाल के समान होते हैं वे लोग किसी धनवान अनुयायी द्वारा बुद्ध संघ को प्रदत्त उद्यानों में से किसी एक में, तथा नरकुल के उटजों में निवास करते हुए रुक जाया करते थे। यह उटज उत्तरकालीन बौद्ध–विहारों के प्रथम रूप थे। चालीस वर्ष से अधिक तक उनकी ख्याति विस्तृत हुई और संघ सदस्य संख्या तथा प्रभाव में उन्नत हुआ। देवदत्त के षड्यंत्र के अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई बाधा न हुई। यद्यपि उनके शिष्यों में से कुछ के साथ उनके धार्मिक प्रतिद्वंद्वियों ने दुर्व्यवहार किया। उनका धर्मकार्य दीर्घ, नीरव तथा शांतिमय था और इस दृष्टि से महात्मा ईसा के धर्मकार्य से नितांत भिन्न था।

अस्सी वर्ष की आयु में उन्होंने अपना शरीर त्यागा। अपनी आयु का अंतिम वर्षाकाल उन्होंने वैशाली नगर के समीप व्यतीत किया और वर्षा के उपरांत उन्होंने अपने अनुयायियों के साथ उत्तर की और पर्वतीय प्रदेश की यात्र की जहां वे तरुणावस्था में रहे थे। मार्ग में उन्होंने अपने शिष्यों को अपनी मृत्यु के निमित्त तैयार किया। वे बोले कि उनकी काया एक जर्जर शकट के समान थी जो प्रत्येक संधि पर पीड़ा का अनुभव करती थी। उन्होंने घोषणा की कि उन्होंने गुप्त एवं प्रकाश्य शिक्षाओं में कोई विभेद नहीं किया और संपूर्ण सिद्धांतों की शिक्षा उन्हें प्रदान की। उनकी मृत्यु के पश्चात उनके शिष्यों को किसी नवीन शरण की खोज न करनी पड़ेगी। जिस धर्म की शिक्षा उन्हें प्रदान की गई है वही उनका नेतृत्व करेगी। वे आत्मविश्वासी तथा आत्मप्रकाशी बनें और अपने से अतिरिक्त किसी बाह्य शरण को न देखें।

पवग्राम में एक अशिक्षित शिष्य कुंद लौहकार ने उनका स्वागत किया और उन्हें शूकर मांस का भोजन प्रदान किया। इसके शीघ्र पश्चात उन्हें आमातिसार का आक्रमण हुआ। समीप के कुशीनगर स्थान तक जाने के लिए उन्होंने आग्रह किया। यहां नगर के बाहर एक शालवृक्ष के नीचे वे लेट गए और उसी रात्रि को उनकी मृत्यु हुई। उनके अंतिम शब्द थे, ''समस्त संगठित पदार्थ क्षयशील हैं। परिश्रम के साथ चेष्टा करो।'' यह उनका अंतिम परिनिर्वाण था। उनके दुखी शिष्यों ने उनका अंतिम संस्कार किया, और उनकी शरीर–भूमि विभिन्न कबीलों के प्रतिनिधियों तथा मगध के राजा अजातशत्रु के मध्य विभाजित हो गई।

2.2.2 मध्यकालीन धार्मिक धारणाएं : भक्ति आंदोलन, सूफीवाद

दिल्ली सल्तनत का समय इतिहास के उस काल का परिचायक है, जब काफी उथल–पुथल हुई एवं विभिन्न प्रकार की धार्मिक भिन्नताओं का जन्म हुआ। यह काल इतिहास के महत्वपूर्ण कालों में से एक है, जबकि विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के लोग एक साथ रहने लगे।

भारत में इस्लाम के आगमन से हिंदू एवं मुस्लिम संस्कृतियों का मेल–जोल प्रारंभ हुआ। इल्तुतमिश एवं नसीरूद्दीन मुबारक गजनवी जैसे उलेमाओं ने अपनी स्वयं की धार्मिक शिक्षाओं के अधिग्रहण की वकालत की तथा इन्होंने ब्राह्मणों एवं हिंदू समुदाय के प्रति असहिष्णुता का रुख प्रदर्शित किया। इस काल में हिंदू समुदाय काफी रूढ़िवादी था तथा उसने भारत में इस्लाम के आगमन के प्रति अरुचि का भाव दर्शाया।

समय के साथ हिंदुओं एवं मुसलमानों के संबंधों में तनाव बढ़ता गया। मूर्ति पूजा को अस्वीकार कर दिया गया तथा एकेश्वरवाद की आवधारणा तेजी से लोकप्रिय

टिप्पणी

होने लगी। अब अस्तित्व की विद्यमानता के लिये दोनों धर्मों में सामंजस्य का भाव उत्पन्न होना प्रारंभ हो गया। इस समय भक्ति एवं कर्मपथ की अवधारणा वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति की ओर अग्रसर होने लगी। यह वह काल था, जब विभिन्न धर्मों के सह–अस्तित्व की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी।

इस्लाम एवं हिंदुत्व

दिल्ली सल्तनत की स्थापना हो जाने के उपरांत इस्लामी जगत में कई प्रकार के परिवर्तन दर्ज किये गये। इस समय, जो प्रवासी थे, वे निष्ठावान धार्मिक अनुयायी थे। वे सभी इस्लामी प्रार्थनाओं एवं रीति–रिवाजों का पालन करते थे। वे फारसी समाज के साथ आत्मसात थे तथा उनकी विभिन्न रीतियों एवं प्रथाओं का अनुपालन करते थे। इस काल में जब वे हिंदू सभ्यता एवं संस्कृति के संपर्क में आये तो जाति प्रथा और ज्यादा कठोर हो गयी तथा समाज में इसका पदानुक्रम और जटिल हो गया। ऐसा कहा जाता है कि हिंदुओं में ऐसा होने का कारण यह भय था कि कहीं इस्लाम उसे हानि न पहुंचा जाये तथा कहीं वह उसके अस्तित्व को समाप्त न कर दे। तथापि यह पूर्णतया गलत भी नहीं था क्योंकि निःसंदेह कई ऐसे इस्लामी शासक थे जिन्होंने हिंदुओं का दमन किया था तथा हिंदुओं का उत्पीड़न करके उन्हें इस्लाम धर्म को स्वीकार करने हेतु बाध्य किया था।

इसके विपरीत इस्लाम भी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से गहराई से प्रभावित था। इसके प्रभावस्वरूप इस्लाम ने अपने परिधान, संगीत, विवाहोत्सवों एवं कला इत्यादि में काफी परिवर्तन कर लिये थे। इस समय विभिन्न धार्मिक आंदोलनों, इस्लामी रहस्यवाद एवं अन्य धार्मिक अवधारणाओं के उदय की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई, जिनकी वजह से कई सुधारवादी आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ तथा पूरे देश में उनका प्रचार–प्रसार हुआ। यह वह समय था, जब हिंदूवादी दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन आया।

सूफी मत इस्लाम का रहस्यवादी, उदारवादी एवं समन्वयवादी दर्शन है। इसे 'तसव्वुफ' भी कहते हैं। सूफियों ने धर्म में सुधार के लिये कई रहस्यवादी संगठनों की स्थापना की, जिन्हें 'सिलसिला' कहते हैं। अल हुजविरी पहले सूफी संत थे।

सूफी आंदोलन किसी नये धर्म की स्थापना का प्रयास नहीं था बल्कि यह इस्लाम का ही शांतिपूर्ण अभियान था। इसका उद्देश्य इस्लाम की बुराइयों को समाप्त कर लोगों को मानव की समानता और विश्व–बंधुत्व के उच्च आदर्शों का पालन करने के लिये उपदेश देना था। इनके उपासना स्थलों को 'खानकाह' कहते थे।

भक्ति आंदोलन

मोक्ष प्राप्ति हिंदू धर्म का परम लक्ष्य है। हिन्दुओं की सबसे बड़ी कामना मोक्ष प्राप्ति थी। हिंदू धर्म में मोक्ष प्राप्ति के लिये तीन मार्ग बताये गये हैं– ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। भक्ति आंदोलन में भक्ति पर सर्वाधिक जोर दिया गया है।

भक्ति आंदोलन के प्रमुख संतों एवं विद्वानों का संक्षिप्त वर्णन निम्नानुसार है–

रामानुजाचार्य– रामानुजाचार्य विशिष्टताद्वैत सिद्धांत के संस्थापक थे। ये 12वीं शताब्दी के महान द– भारतीय वैष्णव संत थे, जिन्होंने सगुण भक्ति परंपरा का समर्थन किया।

टिप्पणी

इन्होंने राम को आराध्य बनाया। रामानुजाचार्य की गणना प्रख्यात दार्शनिकों और दक्षिण भारतीय वैष्णव सम्प्रदाय के महान आचार्यों में की जाती है। रामानुज, शंकराचार्य के अद्वैतवाद सिद्धांत के प्रमुख आलोचक थे। उनके इस सम्प्रदाय का प्रभाव रामानंद और गोस्वामी तुलसीदास पर भी देखा जा सकता है।

दरिया साहेब– ये बारहवीं सदी के संत थे। ब्रह्म परिचय में इनकी कविताओं का संग्रह है।

माधवाचार्य– ये 13वीं सदी के दक्षिण भारत के प्रसिद्ध संत थे। ये मूलतः कन्नड़ ब्राह्मण थे, जिन्होंने द्वैतवाद नामक दर्शन की स्थापना की। द्वैतवाद के अनुसार, सृष्टि सत्य है। अल्पज्ञ जीवन विष्णु के अधीन कार्यरत हैं। इनके द्वारा आठ मंदिरों का निर्माण भी करवाया गया। इनके शिष्य जयतीर्थ ने सूत्रभाष्य पर समीक्षा लिखी।

रामानंद– रामानंद, रामानुजाचार्य की शिष्य–परम्परा में थे। रामानुज ने श्री वैष्णव–सम्प्रदाय की स्थापना की थी। ये पंद्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध उत्तर–भारतीय संत थे तथा राम की भक्ति करते थे। रामानंद पहले वैष्णव उपदेशक थे, जिन्होंने हिंदी में उपदेश दिया। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन को चलाने का श्रेय रामानंद को ही है। इनका सम्प्रदाय 'रामभक्त सम्प्रदाय' कहलाता है। निर्गुणमार्गी कबीर और सगुणमार्गी तुलसी दोनों रामानंद के शिष्य थे।

वल्लभाचार्य– वल्लभाचार्य, तैलंग ब्राह्मण थे। ये 15वीं सदी के वैष्णव धर्म की कृष्णमार्गी शाखा के संत थे। इनका जन्म वाराणसी में हुआ था। ये भगवान श्रीकृष्ण की श्रीनाथजी के नाम से आराधना करते थे। इन्होंने पुष्टि मार्ग की स्थापना की तथा शुद्धाद्वैतवाद का सिद्धांत दिया। 'सुबोधिनी', 'अणुभाष्य' एवं 'सिद्धांत रहस्य' इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। हिंदी के 'अष्टछाप' के आठ कवियों में प्रथम चार वल्लभाचार्य के ही शिष्य थे। अष्टछाप सम्प्रदाय गुजरात में लोकप्रिय हुआ।

निम्बार्काचार्य– निम्बार्क, तेलुगू ब्राह्मण थे। निम्बार्काचार्य का समय 13वीं–14वीं शताब्दी के मध्य निर्धारित किया जाता है। इन्होंने 'द्वैताद्वैतवाद' के सिद्धांत एवं भेदाभेद' की स्थापना की। इन्होंने कृष्ण के अवतार की भक्ति पर बल दिया। निम्बार्क ने राधाकृष्ण की युगल उपासना का विधान किया, जिसके आधार पर बाद में स्वामी हरिदास ने सखी सम्प्रदाय की स्थापना की।

रैदास– रैदास, 15 वीं शताब्दी के निर्गुण भक्ति–परम्परा के प्रमुख संत थे। वे रामानंद के शिष्य एवं कबीर की परम्परा के उत्तराधिकारी संत थे। रैदास का जन्म एक मोची परिवार में हुआ था। रैदास ने भक्तों को यह उपदेश दिया कि साधना पर बल दें। उन्होंने अपने उपदेश ब्रजभाषा में दिए।

संत ज्ञानेश्वर– इनका काल 13वीं–14वीं सदी में महाराष्ट्र में था। भगवत गीता पर ज्ञानेश्वरी नामक भाष्य लिखा। इनकी रचनायें 'अभंग' कहलाती हैं।

कबीर– रामानंद के शिष्य तथा जाति से ब्राह्मण थे, परंतु इनका लालन–पालन एक जुलाहा परिवार में हुआ। इनकी पत्नी का नाम लोई तथा पुत्र का नाम कमाल था। कबीर, निर्गुण ब्रह्म में विश्वास रखने वाले एक प्रमुख संत थे। कबीर के अधिकांश विचार हिंदू धर्म से प्रभावित हैं, पर मुसलमान सूफी संतों और कवियों का भी उन पर अच्छा प्रभाव था। इनकी मृत्यु मगहर में हुई थी। 'बीजक' इनकी प्रमुख रचना है। इनके एक शिष्य सूरतगोपाल ने वाराणसी में पृथक् संप्रदाय की स्थापना की।

चैतन्य– ये 15वीं सदी के प्रसिद्ध संत थे, जिनका जन्म बंगाल, नादिया में हुआ था। इनकी मृत्यु पुरी में हुई। ये कृष्ण के भक्त थे। कीर्तन की परंपरा इन्होंने ही प्रारंभ की।

टिप्पणी

संस्थापक		मत
शंकराचार्य	–	अद्वैतवाद
माधवाचार्य	–	द्वैतवाद
वल्लभाचार्य	–	शुद्धद्वैतवाद
रामानुजाचार्य	–	विशिष्ट द्वैतवाद
निम्बार्काचार्य	–	द्वैताद्वैतवाद

शंकरदेव– ये 15वीं सदी के संत थे, जिन्होंने असम के एकशरण संप्रदाय की स्थापना की। ये 'असम के चैतन्य' कहलाते थे, इनका धर्म महापुरुषीय धर्म कहलाता था।

दादूदयाल (दादू)– ये 16वीं शताब्दी के संत थे। ये अहमदाबाद के एक धुनिया के पुत्र और मुगल सम्राट शाहजहां के समकालीन थे। इन्होंने गुजरात में ब्राह्मण, ब्रह्म संप्रदाय या परब्रह्म संप्रदाय की स्थापना की। ये निर्गुण उपासक थे तथा सुंदरदास एवं रज्जब इनके प्रमुख शिष्य थे।

मलूकदास– ये 16वीं शताब्दी के संत थे। इनका जन्म इलाहाबाद में हुआ था। ये कबीर के अनुयायी थे।

तुलसीदास– ये 16वीं शताब्दी के संत थे, जो राम के अनन्य उपासक थे। इनके पिता आत्माराम दुबे तथा माता हुलसी थीं। इनकी पत्नी का नाम रत्नावली था। तुलसीदास का समय 1532 ई. से 1623 ई. तक माना जाता है। तुलसीदास, हिंदी के प्रसिद्ध कवि तथा रामानंद की शिष्य–परंपरा के प्रमुख संत थे। उन्होंने 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका', 'गीतावली', आदि प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। तुलसीदास ने जिस 'हनुमान् चालीसा' की रचना की, वह हिंदुओं में अत्यंत प्रचलित है। तुलसीदास उच्चकोटि के कवि होने के साथ–साथ समाज सुधारक संत भी थे। उनकी 'रामशलाका–प्रश्नावली' के द्वारा किसी भी कार्य के अच्छे–बुरे फल की भविष्यवाणी की जा सकती है।

नामदेव– महाराष्ट्र, पहले डाकुओं के सरदार, आदिग्रंथ में भक्तिगीत संकलित, पंढारपुर के विठोवा के परम भक्त, इन्होंने वारकरी परंपरा में स्थान पाया।

मीराबाई– राठौर वंश की राजकुमारी, सिसोदिया वंश की रानी, पिता मेड़ता के रत्नसिंह, राणा सांगा की बहू, पति भोजराज। ये कृष्ण की उपासक थीं।

विभिन्न पंथ एवं उनके संस्थापक

1– निपथ आंदोलन	–	दादू दयाल
2– श्री संप्रदाय	–	रामानुजाचार्य
3– ब्रह्म संप्रदाय	–	माधवाचार्य
4– हरि कीर्तन मंडली	–	चैतन्य
5– रुद्र संप्रदाय	–	विष्णु स्वामी
6– रोशनिया आंदोलन	–	मियां वाजिद अंसारी
7– सनाकादि संप्रदाय	–	निम्बार्काचार्य

टिप्पणी

8– पुष्टि मार्ग – वल्लभाचार्य

9– धरकरी – रामदास

10– धर्मदासी – कबीरदास

11– स्मृति संप्रदाय – शंकराचार्य

- धन्ना– ये जाट थे तथा रामानंद के शिष्य थे। इन्होंने भगवान की मूर्ति को हठी भोजन कराया।
- पीपा– ये राजस्थान के थे तथा रामानंद के शिष्य थे।
- सेना– ये संत ज्ञानेश्वर के शिष्य थे।
- तुकाराम– तुकाराम का समय 1598–1650 ई. माना जाता है। तुकाराम महाराष्ट्र के सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ति कवि और संत थे। इनकी रचनाएं 'अभंग' कहलाती हैं, जिसे इन्होंने कृष्ण को समर्पित किया है। तुकाराम कवि और संत होने के साथ–साथ महान् समाज सुधारक भी थे। इन्होंने 'धारकरी संप्रदाय' की स्थापना की।
- नरसिंह मेहता– पंद्रहवीं सदी के प्रसिद्ध संत, जिन्होंने गुजरात को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। इनके गीत सुरत संग्राम में संकलित हैं। महात्मा गांधी के प्रिय भजन 'वैष्णव जन तो तेणे कहिये' के रचयिता यही थे।
- जगजीवन– सत्रहवीं सदी में सतनामी या सत्यनामी पंथ के ज्ञात संप्रदाय के संस्थापक थे।
- लालगिर या लालबेग– सत्रहवीं सदी में थे। इन्होंने अलखनामी या अलखगिरि संप्रदाय की स्थापना की।
- रामदास– ये शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु थे। इनकी रचना का नाम 'दसबोध' है।
- गोविंद प्रभु– महाराष्ट्र में महानुभाव पंथ के संस्थापक थे।
- चण्डीदास– चण्डीदास, 14वीं सदी के प्रमुख वैष्णव कवि थे। चण्डीदास का संबंध बंगाल से था। इनकी राधाकृष्ण प्रेम–विषयक अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनमें 'श्रीकृष्ण कीर्तन' बहुत लोकप्रिय है।

भक्ति आंदोलन के उदय से संबंधित धारणाएं

किसी भी धार्मिक संप्रदाय की स्थापना में उसके अनुयायियों एवं अन्य संप्रदायों के अनुयायियों में टकराव होना एक सामान्य बात है। इतिहास में भी इस प्रकार के कोई प्रमाण नहीं पाये जाते हैं कि भक्ति आंदोलन की स्थापना हिंदू धर्म को सुरक्षित बनाये रखने के लिये की गयी थी। इतिहासकारों के बीच इसकी पहचान एवं इसकी स्थापना के उद्देश्यों को लेकर मत–मतांतर हैं।

अकसर यह मान लिया जाता है कि भक्ति आंदोलन की स्थापना एक सुरक्षा चक्र के रूप में की गयी थी, जो कि तुर्की आक्रमण के उपरांत हिंदू धर्म के लिये ढाल की तरह काम कर सके। यह भी माना जाता है कि उस समय हिंदू धर्म इस्लामी जगत से जिन चुनौतियों का सामना कर सामना कर रहा था, इनसे निपटने के लिये

टिप्पणी

भक्ति आंदोलन की स्थापना की गयी थी। कुछ विचारकों का मानना है कि भक्ति आंदोलन ने लोगों के बीच बंधुत्व एवं समानता की भावना को प्रोत्साहित किया था। इसके बावजूद, कुछ ऐसे बिंदु हैं, जिनका उल्लेख भक्ति आंदालन के पक्ष तथा इसके सकारात्मक प्रभावों के बारे में किया जा सकता है–

- इस समय दो हिंदू और मुसलमानों में दो पृथक विचारधाराओं की स्थापना हुई लेकिन यह देखा गया कि इनमें कोई भी ऐसा नही था जो लोगों पर अपनी विचारधारा को स्वीकार करने के लिये बलपूर्वक युक्तियों का प्रयोग करता था।
- उस समय सुल्तान एवं निजामुद्दीन औलिया यह महसूस करने में असफल रहे कि हिंदुओं की ताकत क्या है। वे इस बात का आकलन नहीं कर सके कि इस्लाम को बलपूर्वक हिंदुओं पर नहीं थोपा जा सकता है।
- यहां तक कि हिंदू धर्म के समान इस्लाम ने भी बंधुत्व एवं समानता के सिद्धांतों की वकालत की।
- देश में तुर्की शासन की स्थापना से हिंदुओं का एक बड़ा वर्ग असंतुष्ट हो गया तथा हिंदू एवं मुसलमानों को आपस में जोड़ने वाले तत्व या कारक गायब हो गये। वे हिंदू, जिन्होंने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था, सामाजिक पदानुक्रम में उन्हें निम्न माना जाता था।
- सूफियों ने एकेश्वरवाद की वकालत की, जिसका उनके विभिन्न सिलसिलों के गुरुओं या पीरों द्वारा महिमामंडन किया जाता था। इसके अलावा उन्होंने पीर तथा मुरीद के बीच प्यार की भावना की भी वकालत की। सूफियों का यह विचार बिल्कुल हिंदुओं के समान था तथा यह हिंदू संतों की उस बात से मिलता–जुलता था कि एकता के लिये सभी को मिलजुल कर कार्य करना चाहिये।
- 13वीं से 17वीं शताब्दी के बीच, हिंदूवाद संक्रमण एवं सुधारों के चरणों से गुजरा।
- इस समय हिंदुओं में एक नये विश्वास का जन्म हुआ, जो कि ईश्वर एवं भक्ति आंदोलन से संबंधित था। इस विश्वास ने हिंदू समुदाय में नयी प्रकार की आध्यात्मिक भावना को विकसित किया। इसके अंतर्गत शुद्ध रीति–रिवाजों, रहस्यवाद एवं रूढ़िवादिता के स्थान पर प्रार्थना एवं उपवास पर बल दिया गया। इसके साथ ही यह एक ईश्वर के ध्यान पर केंद्रित था।

भक्ति आंदोलन के उदय से गीतों एवं भजनों के माध्यम से ईश्वर को प्राप्त करने की प्रथा प्रारंभ हुई, जिसमें समर्पण पर बल दिया गया। अकसर हम इसे 'कीर्तन' के नाम से जानते हैं। इसमें बंधुत्व एवं समानता पर जोर दिया गया। भक्ति आंदोलन को उस समय के अधिकांश संतों एवं हिंदुओं ने स्वीकार किया। पहले जिस प्रकार हिंदुओं में अलग–अलग विश्वास एवं प्रथायें विद्यमान थीं, उसे गहरा झटका लगा तथा इसमें पहले के समान ईश्वर के विभिन्न अवतारों की जगह एक ईश्वर की अवधारणा पर बल दिया गया। इससे लोगों के मनो–मस्तिष्क में गहन परिवर्तन आया तथा इससे हिंदू समुदाय ज्यादा सशक्त बना।

टिप्पणी

सभी ऐतिहासिक प्रमाणों तथा साहित्यिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि धार्मिक आंदोलनों के उदय के कारण यह कहा जा सकता है भक्ति एवं सूफी आंदोलन में बांधने वाले कारक (binding factors) विद्यमान थे। इन कारकों ने लोगों को एक साथ लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन दोनों आंदोलनों की वजह से यह देखा गया कि दो संस्कृतियों ने आपस में एक–दूसरे से कई चीजों का आदान–प्रदान किया तथा इससे देश में नये प्रकार के सांस्कृतिक वातावरण का सूत्रपात हुआ।

दिल्ली सल्तनत के समय, इन दोनों संस्कृतियों के आपसी संपर्क से धार्मिक शिक्षाओं, साधारण वातावरण एवं सांस्कृतिक मेलजोल सभी में परिवर्तन आया तथा इसने समाज को एक नयी दिशा प्रदान की। चाहे वह सरकारात्मक रहा हो या नकारात्मक, यह सभी कुछ सल्तनत काल में परिघटित हुआ।

यह समय धार्मिक मत–मतांतरों का था तथा यहां तक कि इनकी वजह से कई प्रकार की नफरतें भी पैदा हुईं। हालांकि, इन आंदोलनों के कारण एक बात यह भी देखी गयी कि मुसलमान तथा हिंदुओं, दोनों ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि दोनों ही अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं और इसके लिये आवश्यक है कि दोनों मिलजुल कर एक साथ रहें। सांस्कृतिक रीति–रिवाज, अपने विभिन्न मतों में समायोजन, सुलह एवं साथ रहने जैसी सभी चीजों के बारे में सोचने की जरूरत है तथा इसका कारण यह है कि दोनों ही समुदाय एक ही भौगोलिक क्षेत्र के निवासी हैं। उस समय परिवर्तन करना इतना आसान नहीं था क्योंकि लोगों में गहन धार्मिक मतभेद थे। हालांकि, दोनों के अस्तित्व के बने रहने के क्रम में सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण आवश्यक था, जिससे कि दोनों एक साथ रह सकें।

सांस्कृतिक रीति–रिवाज, आचार–विचार, विश्वास एवं शिक्षाओं आदि की झलक इन दोनों प्रकार के आंदोलनों में परिलक्षित हुई तथा यहां तक कि इन दोनों ने एक–दूसरे के विचारों एवं मतों को प्रभावित भी किया। एक ही भौगोलिक क्षेत्र में रहने के कारण किसी सीमा तथा समायोजन एवं सुलह जैसे कारक अत्यंत आवश्यक भी होते हैं।

सूफीवाद

सूफी शब्द ग्रीक भाषा के 'सोफियो' (ज्ञान) का रूपान्तरण माना जाता है। अधिकांश लोग इसकी उत्पत्ति 'सफा' शब्द से मानते हैं। उनका मानना है–जो व्यक्ति पवित्र थे, वे 'सूफी' कहलाये। कुछ लोगों का कहना है कि 'मदीना' में मुहम्मद साहब द्वारा बनवाई गई मस्जिद के बाहर 'सुफ्फ' अर्थात् चबूतरे पर जिन गृहहीन व्यक्तियों ने आकर शरण ली थी जो पवित्र जीवन बिताते हुए ईश्वराधना में लीन रहते थे, वे 'सूफी' कहलाये। एक दल ने इसका उद्‌गम 'सफ' (पंक्ति) से माना है। उनके अनुसार वे लोग सूफी कहलाये जो निर्णय के दिन पवित्र एवं ईश्वर भक्त होने के कारण अन्य व्यक्तियों से पृथक पंक्ति में खड़े किये जायेंगे।

परिभाषा– The author of the oldest extant Arabic treatise on sufism, "Abu Nasr-al-Sarraj," declares that in his opinion the word sufi is derived from suf (wool)."– Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. XII, P. 10

अर्थात् 'अबू नस्त्र–अल–सिराज' का कहना है कि 'सूफी' शब्द सूफ, अर्थात् 'ऊन' से निकला है। माना जाता है कि मुहम्मद साहब के पश्चात् जो यती संन्यासी

टिप्पणी

ऊनी कम्बल ओढ़कर घूमा करते तथा अपने मत का प्रचार करते थे, वही 'सूफी' कहलाए।'' कुल मिलाकर अधिकांश विद्वानों का कथन है कि इस धर्म का नाम 'सूफी' इसलिए पड़ा क्योंकि इसके अनुयायी बहुत निर्धनता की दशा में रहते थे एवं 'सूफा' नामक मोटा वस्त्र धारण करते थे। जमीन पर शयन करते थे। पैगम्बर की बनवाई हुई मस्जिद में रहते तथा वाद–विवाद करते थे।

सूफीवाद एवं भारतीय समाज

भारत में सूफीवाद का आगमन सिंध पर अरब की जीत से होता है। उत्तरी, मध्य और पश्चिमी भारत के राजपूत प्रमुखों द्वारा करीब तीन सौ वर्षों तक व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से साहसिक संघर्षों के बावजूद अरबों ने सफलतापूर्वक सिंध और मुल्तान पर विजय प्राप्त की। ऐसा माना जाता है कि इसी अवधि के दौरान कुछ सूफी लोग भारत के विभिन्न हिस्सों में घुस गये। उत्तरी भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद मध्य एशिया के मुस्लिम देशों में काफी संख्या में सूफी लोगों का आगमन भारत में शुरू हुआ। इनका उद्देश्य पराजितों को इस्लाम धर्म कबूल करवाना तथा सैन्य विजय की फसल को काटना था। उन्होंने भारतीय साधुओं की जीवन शैली और वस्त्र धारण किए एवं अनेक स्थानों पर अपने आश्रम स्थापित किये। उन्होंने हिन्दू शहरों के पड़ोस में निम्न जातियों की झुग्गी–झोपड़ियों के मध्य अपना निवास बनाया। उनका प्रथम उद्देश्य हिन्दुत्व प्रेम और विश्वास जीतना तथा विदेशी शासन से उनका सामंजस्य बैठाना था।

'कुरान शरीफ' के साथ इसका सामंजस्य न करा सकने के कारण बहुत से कट्टर मुसलमानों ने इसे विद्यार्थियों का मत ठहराया है और इसकी निन्दा भी की है।

सरदार इकबाल अली शाह ने अपनी पुस्तक "Islamic Sufism" में लिखा है कि 'सूफी' शब्द मुहम्मद साहब के देहावसान से दो सौ वर्ष पश्चात् सत्ता में आया प्रतीत होता है, क्योंकि सूफी मत का पर्यायवाची शब्द 'तसब्बफु' हिजरी सन् 392 ई. में संग्रहीत 'सित्तह' में नहीं पाया जाता। सूफी शब्द का प्रयोग 869 ई. में अरबी लेखक बसरा के जाहिज द्वारा हुआ–

"So far as the Present writer is aware the first writer to use the word 'Sufi' is Jihaz of Besara (A.D. 869)...."—Encyclopadia of Religion Ethics, Vol. XII P. 10

वास्तव में इस शब्द का प्रचार 8वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। परन्तु इसमें अन्तर्निहित भावना उतनी ही प्राचीन है जितना कि विकसित मानव–हृदय क्योंकि सूफीवाद भी मानव में सदैव तरंगित रहस्य की जिज्ञासा का ही परिणाम है। आदिकाल से ही मनुष्य की इच्छा रही है कि वह प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करे। अबुल हसन अलनूरी के अनुसार, सूफी मत संसार के प्रति घृणा और प्रभु के प्रति प्रेम रूप गम्भीर धार्मिक भावों का प्रकाशन था। डॉ. ताराचन्द सूफी मत के उद्गम में निम्नांकित को उत्तरदायी मानते हैं–

(1) कुरान

(2) मोहम्मद साहब का जीवन

(3) ईसाई धर्म

(4) अभिनव अफलातूनी

(5) हिन्दू और बौद्ध धर्म

(6) जरथुस्त्र–धर्म।

टिप्पणी

अनेक विद्वानों के मतानुसार सूफीवाद इस्लाम से उत्पन्न नहीं हुआ जैसा A.C.k. Bouquet कहते हैं–"It must be strictly maintained that mysticism is not a natural growth in Islam, but is a foreign element which has worked its way into it and is a really inconsistent with the original dogmas. It is perhaps a revolt of some muslim Souls against the extremity of Islamic transcendance."

उपर्युक्त विवेचना से परिणाम निकलता है कि पारंपरिक विधिविधानों से मुख मोड़कर इस विश्व की झलक पाकर जो रहस्य मुस्लिम साधकों ने अभिव्यक्त किये हैं, उन्हीं के सामंजस्य का नाम 'सूफी मत' है।

प्रमुख सूफी पंथ या सिलसिले इस प्रकार थे–

चिश्ती सिलसिला

चिश्तियों की प्रवृत्ति उदार थी और वे यह मानते थे कि ईश्वर तक पहुंचने के कई रास्ते हैं। ईश्वर, प्रेम और मानव सेवा उनके प्रमुख सिद्धांत थे। भारत में चिश्ती पंथ की स्थापना ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने 1236 ई. में की। वे 1192 ई. में भारत आए तथा अजमेर चले गये।

उनके शिष्यों में शेख कुतुबुद्दीन बख्यितार काकी और शेख हमीदउद्दीन प्रमुख थे। काकी ने दिल्ली में तथा हमीद ने राजस्थान में अपने पंथ का प्रचार किया। हमीद ने इल्तुतमिश द्वारा प्रदत्त शेख–उल–इस्लाम का पद ठुकरा दिया था। हमीद का प्रमुख शिष्य शेख फरीदुद्दीन मंसूर 'गज–ए–शंकर' था, जिसने हांसी, अजोधन तथा अन्य स्थानों पर उनके मत का प्रचार किया। शेख निजामुद्दीन औलिया, मंसूर के सबसे प्रसिद्ध शिष्य थे। भारत में चिश्तियों के प्रमुख केंद्र सुवाल, नागौर, अजमेर, नारलौर, मंडल, हांसी और अजोधन थे।

निजामुद्दीन औलिया का स्थान दिल्ली था। ये गियासुद्दीन तुगलक के समकालीन थे। अमीर खुसरो इन्हीं के शिष्य थे। शेख निजामुद्दीन औलिया को 'महबूब–ए–इलाही' (ईश्वर के प्रेमी) कहा जाता था। मु. तुगलक ने दिल्ली में इनका स्मारक बनवाया। औलिया के शिष्य शेख नसीरुद्दीन महमूद 'चिराग दिल्ली' इस पंथ के अंतिम प्रमुख संत थे।

कादिरी सिलसिला

इस सिलसिले की स्थापना शेख अब्दुल कादिर जिलानी ने की थी। यह इस्लाम का सबसे पहला रहस्यवादी पंथ था भारत में इस सिलसिले की स्थापना सैयद मु. जिलानी ने की। इसके बाद उनके पुत्र अब्दुल कादिर इस पंथ के प्रमुख बने। इस पंथ के सबसे प्रसिद्ध संत शेख मीर मुहम्मद या मियां मीर हुए। शेख दाउद, अबुल मली अन्य संत थे। मुगल शासक औरंगजेब का पुत्र दारा शिकोह इसी सिलसिले का अनुयायी था।

टिप्पणी

सुहरावर्दी सिलसिला

यह सिलसिला सल्तनत काल में काफी प्रचलित था। पंजाब, सिंध और बंगाल इसके प्रमुख केंद्र थे। भारत में इसके संस्थापक खुरासान के शेख बहाउद्दीन जकारिया (1182–1262 ई.) थे। जकारिया, शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य थे, जिन्होंने बगदाद में इस सिलसिले की शुरुआत की थी। शेख जकारिया ने मुल्तान और सिंध में इसका प्रचार किया। इस पंथ के संत ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताते थे। शेख सुहरावर्दी ने राजनीति में भी संबंध बनाये तथा काफी धन–दौलत जमा की। शेख बदरुद्दीन समरकंदी, शेख सरफुद्दीन मुनीरी तथा शेख रुक्नुद्दीन अब्दुल फत आदि अन्य प्रमुख संत थे।

शत्तारी सिलसिला

इस पंथ का विश्वास आरामपूर्ण जीवन व्यतीत करने में था। इस सिलसिले के संस्थापक शाह अब्दुल्ला थे। इस सिलसिले के सबसे प्रसिद्ध संत मुहम्मद गौस थे, जो हाजी हमीद हसर के शिष्य थे। गौस ने 'बहर–ए–अल–हयात' (प्रेम का सागर), 'जवाहर–ए–खामशाह' एवं 'खालिद–ए–मुखाजिम' नामक तीन प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं। यह सिलसिला भारत में ज्यादा प्रचलित नहीं हुआ।

नक्शबंदी सिलसिला

बाकी बिल्ला इसके संस्थापक थे। शेख अहमद सरहिन्दी ने इस सिलसिले को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। मिर्जा अजीज कोका, अब्दुर्रहीम खानखाना आदि इस सिलसिले के प्रमुख समर्थक थे।

फिरदौसी सिलसिला

भारत में यह सिलसिला ज्यादा विकसित नहीं हो सका। भारत में इसकी शुरुआत बदरुद्दीन ने की। इसके मुख्य नेता शेख हुसैन बिल्खी थे।

कलंदरी सिलसिला

इस पंथ में कई प्रकार के घुमंतू फकीर शामिल थे। ये इस्लामी कानून नहीं मानते थे इसलिये मुसलमान इनसे घृणा करते थे। नागपंथियों के समान ये भी कान छिदवाते थे।

सूफियों का योगदान

सूफियों ने कई महत्वपूर्ण बातों की शिक्षा दी, जिसका सार इस प्रकार है–

1– मानव की समानता तथा भाईचारे पर बल,

2– सभी धर्मों की एकता एवं हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल,

3– अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा भाईचारे पर बल,

4– उर्दू के विकास में योगदान।

5– सामाजिक बुराइयों एवं कुप्रथाओं का विरोध,

6– भक्ति के मार्ग की श्रेष्ठता तथा ईश्वर की एकता पर बल,

7– स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन, आदि।

टिप्पणी

सूफी धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय

सामान्यतः सूफी सम्प्रदायों की संख्या 175 मानी जाती है, किन्तु इनमें 11 महत्वपूर्ण सम्प्रदाय हैं। 'आइने अकबरी' के लेखक अबुल फजल ने अपने समय के प्रचलित 14 सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं– चिश्ती, सुहरावर्दी, हबीजी, तफूरी, कर्खी, सकती जुनैदी, काजरूनी, तूसी, फिरदोसी, जैदी, इयादी, अधमी और हुबेरी।

"In the Ain-i-Akbari Abul Fazal mention fourteen orders common in his time Chishtiyah, Suhrawardiah, Habibiyah, Tafyuriyah, Karkhiyah, Saqatiyah, Junahdiyah, Kazaruniyah, Tusiyah, Firdawsiyah, Laydiyah Iyadiyah, Adhamiyah, Hubayriyah"—Arther, J. Arberry : an Introduction to the History of Sufish P.O.-7.8

कादरी सम्प्रदाय

कादिरिया शाखा के प्रचारक शेख अब्दुल कादिर जिलानी थे, ये 1078 ई. से 1165 ई. तक विद्यमान थे। शेख अब्दुल कादिर की मृत्यु 89 वर्ष की अवस्था में हुई। इनका व्यक्तित्व अपने ज्ञान, दया, सहनशक्ति आदि के लिए प्रसिद्ध था। शेख मोहम्मद उल हुसैनी के पुत्र शेख अब्दुल कादिर ने समस्त भारत में इस परंपरा का प्रचार किया।

भारत में प्रारम्भ में सैयद बन्दागी मुहम्मद गौथ ने सिन्ध में इनका अच्छा प्रचार किया। इनकी मृत्यु उच्छ में सन् 1574 ई. में हुई। ये बड़े योग्य व्यक्तित्व के थे एवं विद्वान वक्ता भी थे। ये आज तक कश्मीर प्रदेश में एक प्रधान संत के रूप में पूजे जाने जाते हैं। इसके पश्चात् इस सम्प्रदाय में अनेक संत हुए, जिन्होंने भारत भर में इसका सन्देश पहुंचाया।

भारत में इस सम्प्रदाय का प्रसार वास्तव में 'शाह नियामत उल्लाह मखदूम जिलानी' ने किया, फलस्वरूप उनके वंशज–मखदूम अब्दुल कादिर तथा मूसा ने भारत में इसका प्रसार किया, जो बाद में आगरा आ गये थे। एक बार शेख अब्दुल कादिर को अकबर ने 500 रु– सालाना जागीर प्रदान की थी। परन्तु वह स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे और किसी की परवाह नहीं करते थे। वे फतेहपुर सीकरी के सार्वजनिक हाल में जनता के सम्मुख प्रार्थना बोलते थे। इसलिए सम्राट अकबर ने उनको अपने महल में प्रार्थनाएं बोलने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया–"My King this is not your Kingdom that you should pass orders" इस पर सम्राट ने उनकी जागीर समाप्त कर दी और वे फिर उच्छ चले गये।

'दारा शिकोह' भी इस सम्प्रदाय का अनुयायी था, जो मुल्लाशाह बदख्शी का मुरीद था। इस धर्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् दारा ने इस पर दो पुस्तकें 'रसाले हकनुमा' तथा 'सूफीनात औलिया' की फारसी में रचना की थी। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध संत 'बुटले शाह' (1837–1810 ई.) भी इसी शाखा के अनुयायी थे। ताज–अलदीन (1698 ई.) अधिक प्रसिद्ध हुए। प्रसिद्ध सूफी कवि सैयद बरकत उल्ला भी कादिरी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। शाह जलाल तथा मखमूद शाह ने इसका प्रचार–बंगाल व बिहार में किया था। फलस्वरूप सूफीवाद के अनुयायी इन प्रांतों में आज भी पाये जाते हैं।

टिप्पणी

नक्शबन्दिया सम्प्रदाय

नक्शबन्दी सम्प्रदाय का भारत में ख्वाजा बकी बिल्लाह (1563–1603 ई.) ने प्रचार किया था। वे इस सम्प्रदाय के प्रणेता ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्दी (1317–89 ई.) के सातवें उत्तराधिकारी थे। इसके अनुयायी सनातन इस्लाम में विश्वास रखते थे, एवं पैगम्बर द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन करते थे। (श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1986, पृ– 18)

यह सम्प्रदाय इस्लाम की कट्टरता का विरोधी था तथा प्राणी–मात्र एकता पर जोर देता था। इसका प्रमुख आस्तिक शेख अहमद सरहिन्दी मुआज्जिद था, जिसने इस्लाम में बहुत सुधार किये। इनका पुत्र ख्वाजा मुहम्मद माशूक था, जिसका प्रमुख शिष्य औरंगजेब था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भारत, चीन, तुर्किस्तान, जावा और टर्की में पाये जाते हैं। इसका प्रभाव अधिकतर शिक्षितों पर पड़ा।

मुख्यतः यह सम्प्रदाय निम्नांकित आठ सिद्धान्तों पर आधारित है, जिनका पालन प्रत्येक अनुयायी को करना होता है–

1– श्वास में चैतन्य

2– चरणों पर दृष्टि

3– यात्रा

4– एकान्तवास

5– ईश्वरीय स्मृति

6– ईश्वर के प्रति एकान्त गमन

7– ईश्वरीय ध्यान

8– आत्म–विस्मृति।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी मानते हैं कि मनुष्य को अपनी रक्षा तीन प्रकार से करनी चाहिये–

1– विभिन्न इच्छाओं से रक्षा,

2– संसार से रक्षित होकर ईश्वर की ओर एकाग्र,

3– हृदय की अशुद्धता से रक्षा।

शत्तारी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय की नींव सन् 1415 ई. में अब्दुल्ला शत्तार ने डाली थी। सुमात्रा, जावा और भारत शत्तारी सम्प्रदाय के प्रमुख क्षेत्र थे। इस सम्प्रदाय में 'मुहम्मद गौथ' (1562 ई.) 'वजीह अल्दीत गुजराती' 1589 और संत 'शाहेपोर' (1632 ई.) प्रमुख हैं।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी निम्न सिद्धान्तों को मानते हैं–

1– आत्म–तप का विचार सत्य रूप नहीं है।

2– भावना या ध्यान करना–समय को व्यर्थ करना है।

3– किसी व्यक्ति को आत्म–निषेध में विश्वास नहीं रखना चाहिए।

टिप्पणी

4– ऐक्य का अर्थ–एक ही पदार्थ को देखना एवं जानना है। अर्थात् 'मैं मैं हूं और मैं एक हूं'– यही एक सूफी को मानना चाहिए।

5– नफस, मुजोहिदा के विरुद्ध नहीं रखना चाहिए।

6– मनुष्य की अपनी दानवी आत्मा का हनन करने के लिए तप की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर का ध्यान करना भी व्यर्थ है।

7– व्यक्तियों को भोजनों से परहेज नहीं करना चाहिए।

8– मनुष्य का पाशविक रूप ईश्वर की प्राप्ति में कोई बाधक नहीं है। ईश्वर विश्व का शासक है।

9– महामिलन में आत्मलय की अवस्था को ये नहीं मानते, क्योंकि इसमें ध्याता ध्येय से पृथक् होने के कारण द्वित्व की भावना स्पष्ट झलक पड़ती है जो 'वहद्तुल वजूद' के सिद्धान्त के विपरीत है।

मौलवी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय की स्थापना जलालउद्दीन रूमी ने की। इस सम्प्रदाय के अनुयायी प्रायः टर्की में मिलते हैं।

तेजानियां सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय की स्थापना अल्जीरिया के 'अहमद तिज्मनी' के द्वारा हुई थी।

चिश्ती सम्प्रदाय

भारत में चिश्ती सम्प्रदाय की स्थापना 'मुईन–उद–दीन चिश्ती' ने की थी। लेकिन इसके संस्थापक 'अब्दुल चिश्ती' (966 ई.) थे। मुईनुद्दीन चिश्ती का जन्म पूर्वी ईरान में सिजिस्तान नामक प्रान्त में 1141 ई. में हुआ था। उनके पिता की मृत्यु बचपन में ही हो गई थी। स्वयं के प्रदेश की स्थिति अराजकतापूर्ण होने के कारण वे अपनी जायदाद बेचकर स्वयं संन्यासी बन गये। इसके पश्चात् उन्होंने समरकन्द, बुखारा एवं इस्लामी विद्या के केन्द्रों की यात्रा की।

भारत में वे मुहम्मद गोरी के आक्रमण से कुछ ही समय पूर्व आये। भारत में उनका बड़ा सम्मान किया गया एवं धार्मिक सम्राट की पदवी प्रदान की गई। इन्होंने 'कासफ–उल महजब' नामक धार्मिक पुस्तक लिखी। ये अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए लाहौर, दिल्ली, अजमेर आदि गये। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्यों ने इस मत का प्रचार किया। इनके प्रमुख शिष्य–'बाबा फरीद' थे, जो इस सम्प्रदाय के मुख्य नेता हुए। बाबा फरीद का मुख्य शिष्य 'निजामुद्दीन औलिया' था, जिसने सात मुसलमान सम्राटों का शासन देखा था।

औलिया के धार्मिक प्रभाव को देखकर गियासुद्दीन तुगलक उनसे ईर्ष्या करता था। तिरहुत विजय के पश्चात् सुल्तान ने औलिया को आदेश दिया कि उसके आने से पूर्व वह दिल्ली छोड़ दे। औलिया के मित्रों ने उन्हें परामर्श दिया कि वह दिल्ली छोड़ दे। औलिया ने उत्तर दिया– 'अभी दिल्ली दूर है।' राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण जब गियासुद्दीन उन्हें दण्ड देने के लिए आ रहा था तो अचानक शमियाने के गिरने के कारण गियासुद्दीन की मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु सन् 1325 ई. में हुई। दिल्ली में वर्तमान समय में भी उनकी कब्र पर एक विशाल मेले का आयोजन होता है।

टिप्पणी

औलिया के व्यक्तित्व एवं उसके धार्मिक विचारों के कारण 'चिश्ती सम्प्रदाय' भारत में लोकप्रिय हो गया। ये 'प्रेम' को ईश्वर–प्राप्ति का सरलतम मार्ग मानते थे। इसके साथ ही ये मानवता से प्रेम करने पर भी जोर देते थे। कुछ समय पश्चात् यह सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया–

(i) निजामिया

(ii) शबीरिया।

यह सम्प्रदाय अकबर के समय में भी अधिक लोकप्रिय हुआ। अकबर ने 'शेख सलीम चिश्ती' की एक भव्य कब्र फतेहपुर सीकरी में बनवाई तथा इस इमारत में घण्टों तक ईश्वर की सत्ता के विषय में सोचा करता था।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय मुख्य रूप से उत्तरी–पश्चिमी भारत में स्थापित हुआ था। शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी इस सम्प्रदाय के प्रणेता थे, और वे अपने शिष्यों को भारत में कार्य करने के लिए निर्देश दिया करते थे। उनके इन शिष्यों में शेख हमीदुद्दीन नागौरी और मुल्तान के शेख बहाउद्दीन जकरिया विशेष प्रसिद्ध थे।

भारत में सुहरावर्दी सूफी सम्प्रदाय को संगठित करने का श्रेय बहाउद्दीन जकरिया को है। उनका जन्म मुल्तान के समीप कोट अरोर में 1182–83 में हुआ था। वे यौवन में ही अपने अध्ययन को पूरा करने के उद्देश्य से इस्लामी शिक्षा के केन्द्र खुरासान, बुखारा, मदीना और फिलिस्तीन की यात्र कर चुके थे। अपने गुरु के निर्देशानुसार उन्होंने मुल्तान में एक खानकाल स्थापित किया और वहीं रहकर लगभग आधी सदी तक कार्य करते रहे। दिसम्बर 1262 ई. में उनका देहांत हो गया।

बहाउद्दीन जकरिया 13वीं सदी के बहुत ही प्रभावशाली सूफी सन्त थे। चिश्तियों की तरह वे निर्धनता में और शरीर को यातनाएं देने में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने मुख्यतः इस्लाम के बाहरी आडम्बरों पर जोर दियाऋ और भारत में चिश्तियों ने जो हिन्दुओं की तरह गुरु को प्रणाम करने की प्रथा और उनके अन्य जो भी रीति–रिवाज अपना लिये थे, उनको अस्वीकार कर दिया। उन्हें यही पसन्द था कि उनके अनुयायी उन्हें पुरानी मुस्लिम पद्धति से 'सलाम आलेकुम' कहकर ही नमस्कार करें। जकरिया को धन से भी चिड़ न थी। वास्तव में उन्होंने तो धन का संग्रह किया था।

इस सम्प्रदाय में अनेक सूफी सन्त हुए, जिन्होंने सिन्ध, पंजाब, गुजरात, बिहार और बंगाल आदि प्रांतों में 'सूफीमत' का प्रचार किया। अनेक स्थानों पर धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित किये।

इस सम्प्रदाय में सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश (1291), सईद जलाल (मखदूम जहानियान) एवं बहादुर अल्दीन कुतुबे आलम (1453) आदि संत अधिक प्रसिद्ध हुए।

सूफी दर्शन एवं सिद्धांत

सूफी धर्म के सिद्धान्त विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण हैं। जिस समय इस धर्म का विकास हुआ, उस समय भारत में वेदान्त धर्म और यूरोप में पुनर्जागरण की लहर फैल रही थी। अतः इस धर्म पर समकालीन घटनाओं पर भी प्रभाव पड़ा।

टिप्पणी

सूफी दर्शन और सूफी धर्म में प्रेम को अत्यधिक महत्व दिया गया है। सूफी एक ही ईश्वर को मानते हैं, इसके साथ ही ये संसार को ईश्वर का रूप मानते हैं। ये ईश्वर को 'प्रियतमा' का रूप मानते हैं, जिसकी खोज में आत्मा रूपी 'प्रियतम' समस्त सांसारिक सुखों को त्याग कर चला जाता है। इनका मानना है कि ईश्वर अमर सौन्दर्य है तथा उसकी प्राप्ति प्रेम संगीत से की जा सकती है। अतः इस धर्म में सौन्दर्य एवं संगीत को अत्यधिक महत्व दिया गया है। फुतुहात–ए–मक्किया इस विचार को निम्न शब्दों में व्यक्त करती है–''ईश्वर के सिवा कुछ नहीं है, ईश्वर के सिवा वहां किसी का अस्तित्व नहीं है, यहां तक कि 'वहां' जैसा भी कुछ नहीं है, सभी चीजों का सार एक ही है।''

यह सिद्धान्त शेख मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी (1165–1240) ने प्रतिपादित किया था।

सूफियों का विचार है कि ईश्वर निर्गुण है, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है, लेकिन उसकी सेवा की जा सकती है। ईश्वर सुन्दर है, अतः समानता के लिए ये लोग सुन्दर व्यक्तियों की पूजा करने लगे। कालान्तर में यही आचरण 'अप्राकृतिक व्यभिचार' के रूप में प्रकट हुआ। ये लोग मानते हैं कि मनुष्य में तीन प्रवृत्तियां होती हैं– शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक। आत्मिक प्रवृत्ति को शुद्ध करने के लिये व्यक्ति उच्च एवं पवित्र और इस प्रवृत्ति के बिगड़ने से वह नीच व पतित बन जाता है। यह कार्य पथ–प्रदर्शक या गुरु द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

सूफीवाद एकतत्व दर्शन पर आधारित था जो इस्लाम का भी प्रश्न आधारभूत सिद्धान्त है। भारतीय रहस्यवादियों अथवा भक्ति सम्प्रदाय के प्रतिपादकों की तरह सूफियों ने भी संपूर्ण वास्तविकता अथवा सर्वश्रेष्ठ स्रष्टा या सृष्टिकर्ता और उसकी सृष्टि के मध्य संबंध के प्रदर्शन में स्वयं के पथ और दार्शनिक कल्पना को अपनाया। भक्ति सुधारकों की तरह सूफियों में भी उपदेश के तरीकों के मामले में विरोधाभास था। इसी कारण इसके विकास के अंतिम चरण में सूफीवाद कई सिलसिलों एवं व्यवस्थाओं में संगठित हो गया, जिसके सभी प्रतिपादकों ने रहस्यवादी दर्शन के लिए अपना विशेष योगदान दिया।

सूफीवाद का एकत्व दर्शन वहदत–उल–वजूद के सिद्धान्तों, मानव जाति की एकता पर आधारित था, जिसके अनुसार स्रष्टा (हक) और सृष्टि (खल्क) एक समान है। अर्थात् सभी घटना चक्रों के पीछे वास्तविकता और सभी अनेकतत्व के पीछे एकता का कारण ईश्वर है। इस सिद्धान्त के प्रणेता, शेख मुहुउद्दीन इन्नुल अरबी (1165–1248) इन शब्दों में व्याख्या करते हैं–

''ईश्वर के सिवाय यहां कुछ नहीं है, उसको (ईश्वर) छोड़कर किसी का भी अस्तित्व नहीं है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां सभी वस्तुओं का सार एक हो।''

यह सिद्धान्त वेदांत दर्शन के परम एकत्ववाद के अनुसार है, जिसके अनुसार, ईश्वर और आत्मा मिलकर एक निरपेक्ष वास्तविकता का निर्माण करते हैं। सूफी व्यक्ति भी आत्मा एवं ईश्वर के मध्य शांतिमय संबंध की स्थापना के लिए तत्पर थे। इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ शक्ति को पूर्ण समर्पण द्वारा इस मरणशील जीवन (खाकी जामा) में भी ईश्वर से प्रत्यक्ष संबंध बनाया जा सकता है तथा मोक्ष प्राप्ति संभव है। जीवित अथवा आत्मिक शिक्षक–वीरों के रूप में सूफी संतों ने अपने अनुयायियों को, जिन्हें मुरीद कहते हैं, उस शाश्वत सुख (मारीफत) अथवा वसत (एकता) की प्राप्ति के लिये

टिप्पणी

मार्ग बताया। रूढ़िवादी मुस्लिम अध्यात्मवादियों ने वहदुत–उल–वजूद और मरीफत के सिद्धान्तों का विरोध किया। क्योंकि यह इस्लाम की भावना के विरुद्ध था। जैसे–संतों के पूजा करने की पद्धति, उनकी कब्रों पर जाकर इबादत करना। इन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप कुछ सूफियों ने, जैसे शेख नासिरूद्दीन महमूद चिरागे दिल्ली ने कट्टरपंथी इस्लाम और सूफी परंपरा के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया, जैसा कि इसके पूर्व अल गजाली ने किया था। बौद्धिक स्तर पर शेख अलाउद्दीन सिम्नानी ने इब्न अल अराबी के सर्वात्यवादी सिद्धान्त वहदत उल वुजूद का खंडन किया। उन्होंने उसके स्थान पर वृदत उश शुदूद (Unity of withnessing) का प्रतिपादन किया। जिसके अनुसार सूफी रहस्यवाद की उच्चस्तरीय अनुभूति से यह विदित होता है कि ईश्वर और सृष्टि के बीच अंतर होता है न कि समायोजन, यह विचार शरीयत के विचार की पुष्टि करता है। दूसरी ओर, सूफी लोगों ने इस संबंध की प्रेमी और प्रेमिका अथवा पति और पत्नी के बीच संबंध की तुलना की। उनके अनुसार, ईश्वर की उपस्थिति किसी भी व्यक्ति द्वारा महसूस की जा सकती है जो प्रेम से ईश्वर को पुकारता है। सूफी मतानुसार ईश्वर एक अदृश्य व निरपेक्ष वास्तविकता तथा शाश्वत सुन्दर है, जिसको उन्होंने जमाल नाम दिया और कहा यह संसार ईश्वर की दृश्य योग्य अथवा बाह्य अभिव्यक्ति है जिसे हुस्न (प्रेम योग्य सुन्दर) कहा गया है। अतः इसी कारण सूफी दर्शन प्रेम के सिद्धान्त पर आधारित है, जो सभी धर्मों का सार तथा सभी सृष्टियों का कारण है।''

इसके अतिरिक्त सूफी दार्शनिकों ने महसूस किया कि धार्मिक विधानों से दिल की पवित्रता महान होती है एवं इसके द्वारा ही सत्य की खोज संभव है। एक उक्ति के अनुसार, ईश्वर के साथ संबंध स्थापित करने से पहले किसी भी सूफी को ईश्वर के सामने आत्मसमर्पण के लिए दस चरणों से होकर गुजरना पड़ता है–

(1) तौबा (पश्चाताप)

(2) वारा (संयम)

(3) जुहद (निष्ठा)

(4) फकर (गरीबी)

(5) सब्र (धैर्य)

(6) शुक्र (कृतज्ञता)

(7) खौफ (भय)

(8) रजा (आशा)

(9) तवाक्कुल (संतोष)

(10) रीजा (दिव्य शक्ति का समर्पण)।

भक्ति सुधारकों की तरह अधिकतर सूफियों ने संसार के भौतिकवादी मार्गों का त्याग किया, जिसे 'तर्क–ए–दुनिया' कहा गया। के. ए. निजामी ने इस कथन की व्याख्या इस प्रकार की है–

''समकालीन रहस्यमय प्रमाणों द्वारा 'तर्क–ए–दुनिया' का सामान्य अर्थ कठिन भौतिक–संपर्कों और जीवन की ओर एकांतवासी मुद्रा अपनाने से सुनिश्चित नहीं होता

टिप्पणी

है। वास्तव में, यह संसार वैसा नहीं जिसे रहस्यवादियों ने अस्वीकार किया बल्कि जीवन की भौतिकवादी अवधारणा और इसकी समस्याएं हैं जिनसे उन्होंने घृणा की और उसे तुच्छ समझा। भौतिक मार्गों में जो व्यक्ति जितना तल्लीन होता है, अपने आध्यात्मिक उद्देश्य से वह उतना ही दूर होता चला जाता है।''

अतः जिस प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रियतमा से मिलने के लिए सदैव आतुर रहता है, उसी प्रकार सूफी भी ईश्वर के अधिकाधिक समीप जाने के लिये बेचैन रहता है, और 'मैं' और जो 'मैं' नहीं हूं उसके मध्य का अन्तर भुला देना चाहता है। अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए सूफी स्वेच्छापूर्वक अपने भौतिक जीवन का परित्याग कर देता है, और न केवल राजकीय पदों से बल्कि शासकों तथा अधिकारियों के सम्पर्क तक से दूरी बनाये रखता है। इसके फलस्वरूप उसमें मानवता के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है और वह निर्धनता, शाकाहारी, आहार, शान्ति एवं अहिंसा में विश्वास करने लगता है। अतः सारस्वरूप, सूफियों का मुख्य उद्देश्य केवल परमात्मा से सीधा बौद्धिक और भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही नहीं वरन् मानवता की सेवा करना भी है।

स्वदेशी सामाजिक–धार्मिक आंदोलन और अद्वैतवादी विचारधारा

मोक्ष अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिए निष्ठापूर्वक ईश्वर की आराधना 'भक्ति' कहलाती है। भक्ति सम्प्रदाय इतना ही प्राचीन है जितनी सिंधु घाटी की सभ्यता जो समाधि में लीन पशुपति शिव का पूर्ववर्ती साक्ष्य प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त हमारे वेद, उपनिषद, महाकाव्यों और पुराणों में हमें भक्ति की व्याख्या मिलती है। उपनिषदों पर आधारित वेदान्त अथवा वैदिक धार्मिक दर्शन भारतीय आर्यों के धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं की आनुष्ठानिक और सतही रूप से भिन्न इसके दार्शनिक पक्ष की व्याख्या करता है। यह सृष्टि के रहस्यों को जानने का प्रयास करता है और तात्विक चिंतनों द्वारा मानव जीवन का अर्थ एवं उद्देश्यों की खोज करता है। वेदान्त अथवा उपनिषदों में ऋषियों की विशिष्ट मंडली विद्वानों और आध्यात्मिक विचारों द्वारा की गई दार्शनिक मतों और तात्विक अवधारणाओं का सम्मिश्रण है जिसमें कुछ विचारों का विरोधाभास है। फिर भी, वेदान्त दर्शन का मूल प्रश्न सृष्टि और स्रष्टा अर्थात् ईश्वर और आत्मा की अवधारणा है। आत्मा और ईश्वर के मध्य वही संबंध है जो पानी की बूंद और महासागर के बीच है।

मनुष्य मरणशील है किन्तु आत्मा शाश्वत अमर होती है। ईश्वर का अभिन्न अंग होने के कारण इसका मूल उद्देश्य पुनः ईश्वर में विलीन हो जाना है। इसी का अर्थ है जन्म और पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा पाना, जिन्हें हमने विभिन्न नाम दिये हैं जैसे–निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति आदि।

मोक्ष प्राप्ति के वेदांतों में तीन मार्ग बताये गये हैं ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग। मुक्ति प्राप्ति के रूप में ज्ञान मार्ग सच्चे ज्ञानोदय पर विशेष बल देता है। भगवत गीता में अपने शिष्य, अर्जुन को भगवान कृष्ण द्वारा दी गई शिक्षा के रूप में कर्म मार्ग इस उद्देश्य के लिए निःस्वार्थ अथवा निःस्पर्धा क्रिया का वर्णन किया गया है जबकि, भक्ति मार्ग के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का सबसे सरल तरीका–ईश्वर की पूर्णतः निष्ठापूर्वक आराधना द्वारा उनका विश्वास जीतना तथा मृत्यु पश्चात् उसी ईश्वर में विलीन हो जाना है। निष्ठापूर्वक आराधना अर्थात् उपासक द्वारा ईश्वर को पूर्ण समर्पण,

ईश्वर की सर्वशक्तिमान और अच्छे कार्यों, विचारों, कर्मों आदि द्वारा ईश्वर का नाम जपना एवं सर्वश्रेष्ठ कृत्यों और समाधियों द्वारा ईश्वर की आराधना करना।

टिप्पणी

ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति आंदोलन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले चरण के अन्तर्गत दक्षिण भारत में भक्ति के आरंभिक प्रादुर्भाव से लेकर 13वीं सदी तक का समय रखा जा सकता है और दूसरे चरण में 13वीं शताब्दी सदी से 16वीं सदी तक का काल रखा जा सकता है। उत्तर भारत में यह आंदोलन इसी समय इस्लाम के संपर्क में आया और इसकी चुनौतियों को स्वीकार करता हुआ इससे उत्तेजित एवं आंदोलित हुआ।

अगर हम भारतवर्ष की प्राचीन धार्मिक अवस्था पर नजर डालें तो प्रतीत होता है कि हजारों वर्ष से भारत में वेदों की स्थापना एवं परंपरा इतनी सुदृढ़ और मान्य रही कि हमारे आध्यात्मिक और लौकिक कर्म उसी से संचालित होते थे क्योंकि वे हमारी विचारधारा के ही नहीं, वरन् हमारी जीवन–पद्धति के समर्थक रहे हैं, भारत में जो चिंतक और संत हुए उन पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वेदों को लेकर चिंतन और व्यवहार की एक ऐसी परिपाटी निर्मित हुई जिसके अंतर्गत ही लोग सोच पाते थे। गौतमबुद्ध जैसे क्रांतिकारी और चिंतक ने मोक्ष के लिए नैतिक आचरण को अपनाया। साथ ही इसे व्यावहारिक रूप भी दिया। उन्होंने कर्मकाण्डों एवं ब्राह्मणों की सत्ता का विरोध किया और नवीन क्रांतिकारी धारा को जन्म दिया।

अतः बौद्ध धर्म अपनी समकालीन परिस्थितियों में वैदिक धर्म विरोधी था। किंतु ज्यों–ज्यों यह प्राचीन होता गया त्यों–त्यों इसमें वैदिक कर्मकांडों का प्रवेश होता गया।

भक्ति संप्रदाय का उद्‌भव छठी शताब्दी में जैन धर्म के उभरते प्रवाह के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में तमिल देश में हुआ। दक्षिण भारत में करीब 3 शताब्दियों तक यह अपनी दो धाराओं शैववाद और वैष्णववाद में फला–फूला। शिव के उपासकों को शैववाद और विष्णु के उपासकों को वैष्णववाद कहा जाता है इनको क्रमशः नयनार और आलवार शाखा कहा जाता था।

शंकराचार्य

भक्ति आन्दोलन का इतिहास, धर्म सुधारक शंकराचार्य के समय से प्रारम्भ होता है, जिन्होंने बौद्ध धर्म का सफलतापूर्वक सामना कर हिंदू धर्म को एक ठोस आधार प्रदान किया। शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन की स्थापना की थी और मुक्ति के तीन मार्गों ज्ञान, कर्म और भक्ति में से प्रथम मार्ग पर जोर दिया था लेकिन उनकी व्यवस्था अत्यधिक दार्शनिक और बौद्धिक थी। उनकी यह धारणा सामान्य जन को अधिक प्रभावित न कर सकी। इसी कारण मध्यकालीन धर्म सुधारकों ने जनसाधारण को हिंदू धर्म की ओर उन्मुख करने के लिए एवं उन्हें लोक–जीवन में जीवित और क्रियाशील बना देने के लिए तीसरा मार्ग अर्थात् अपने इष्टदेव की भक्ति पर जोर दिया। क्योंकि मध्यकालीन शासकों के दमनपूर्ण और असहिष्णु विदेशी शासन के अन्तर्गत अधिकतर हिंदू अपनी भौतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए कुछ करने में असमर्थ थे इसी कारण उन्होंने भक्ति पर अधिक जोर दिया।

शंकराचार्य ने वेदों के धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों के विस्तार पर जोर दिया तथा अद्वैतवाद दर्शन अथवा वेदांत के एकतत्ववाद का समर्थन किया। भारत की सांस्कृतिक एकता के प्रदर्शन के लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों में कई मठों

टिप्पणी

की स्थापना की जिनमें प्रमुख है–पूर्व में जगन्नाथपुरी दक्षिण में शृंगेरी, पश्चिम में द्वारका और उत्तर में बदरीनाथ। 32 वर्ष की आयु में उन्होंने अपनी युवावस्था में ही अपनी अंतिम सांस केदारनाथ में ली परन्तु उनकी मृत्यु के पूर्व ही उनका नाम देश के कोने–कोने में फैल चुका था। शंकराचार्य को सच्चे अर्थों में आधुनिक हिंदू धर्म का उद्धारकर्ता कहा जाता है। उन्हें भक्ति आंदोलन का संस्थापक भी कहा जाता है, जो मध्यकाल में काफी विख्यात हुआ। शंकराचार्य फिर भी मोक्ष की प्राप्ति हेतु 'ज्ञान' अथवा शिक्षा पर ही विशेष बल देते थे किन्तु औसत व्यक्ति के लिये यह व्यवहारिक सिद्ध नहीं हो सका और जन सामान्य ने भक्ति मार्ग को ही अपने अनुकूल माना।

रामानुज

भक्ति आंदोलन के प्रथम प्रतिपादक महान वैष्णव सन्त रामानुज थे जो 12वीं सदी के प्रारम्भिक काल में हुए थे। उनका जन्म आधुनिक आन्ध्र प्रदेश के त्रिपुती नगर में हुआ था। वे प्रारंभ में शंकराचार्य के विचारों के अनुयायी थे। उन्होंने अनेक देशों का भ्रमण किया। अपने अध्ययन और चिंतन से वे शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन को मायावाद से मतभेद रखने लगे और उन्होंने मुक्ति प्राप्ति के लिए भक्ति को ही मुख्य साधन बताया। उनका ऐसा मानना था कि परमात्मा अद्वितीय रूप से महान है और वही इस जगत का जन्मदाता और संहारक है। रामानुज का ऐसा मानना था कि मोक्ष प्राप्ति हेतु सर्वोत्तम साधन परमात्मा की भक्ति ही है। रामानुज ने कहा कि शुद्ध एवं जातिच्युत लोग भी अपने गुरु की इच्छा के आगे पूर्ण समर्पण कर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। रामानुज ने निम्न जातियों को एक निश्चित दिन कुछ मन्दिरों में आने की अनुमति दी एवं उन्हें गुरु के प्रतिपूर्ण आत्मसमर्पण और अधीनता की भावना रखने का उपदेश दिया। उनके विचार उत्तर–दक्षिण दोनों में ही लोकप्रिय हो उठे, और इस प्रकार रामानुज ने लोक कल्याण के एक शक्तिशाली आन्दोलन की नींव रखी।

निम्बार्क

भक्ति आन्दोलन के द्वितीय नेता निम्बार्क थे। ये रामानुज के समकालीन थे, वे भगवान कृष्ण और राधा के उपासक थे, और 'भेदाभेद' दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। इसके अनुसार आत्मा और परमात्मा में भेद–सा है, लेकिन वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है। उनका मानना था कि परमात्मा, आत्मा और निर्जीव जगत एक जैसे ही है, परन्तु विभिन्न भी है। इसलिए उनका न केवल शंकराचार्य से ही अपितु विशिष्ट अद्वैतवादी रामानुज से भी मतभेद था। परन्तु उन्होंने वास्तव में परमात्मा के प्रतिपूर्ण समर्पण पर ही जोर दिया था।

माधवाचार्य

माधवाचार्य 13वीं शताब्दी में काफी विख्यात रहे थे, उन्होंने वैष्णववाद पर करीब 36 पुस्तकें लिखीं जो शंकराचार्य के एकत्ववादी दर्शन से भिन्न द्वैतवाद की विचारधारा पर आधारित भक्ति संप्रदाय की ही व्याख्या करती हैं। इनके अनुसार संसार दो भागों में बंटा है–स्वतंत्र जीव और परतन्त्र जीव। स्वतन्त्र जीव का संबंध सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ईश्वर से है, जबकि परतन्त्र जीव का संबंध पदार्थ तथा आत्मा से है। किंतु इन दार्शनिक कल्पनाओं से उनके शिष्यों का कोई संबंध नहीं था जो अपने गुरु की कृपा दृष्टि में ईश्वर की निष्ठापूर्ण आराधना द्वारा मुक्ति प्राप्ति के लिये उत्सुक थे।

टिप्पणी

रामानंद

यहां यह स्मरण रहे कि अभी तक सभी मुख्य वैष्णव धर्म गुरु दक्षिण भारत में हुए थे। लेकिन चौदहवीं सदी में एक कान्यकुब्ज परिवार में एक प्रसिद्ध आचार्य का जन्म हुआ। वे ही रामानुज के पांचवें धर्म गुरु रामानंद हुए थे। इन्होंने उच्च शिक्षा वाराणसी से प्राप्त की और रामानुज की विचारधारा से जुड़ गये। शीघ्र ही इन्होंने राम–सीता की निष्ठापूर्वक आराधना के सिद्धान्तों पर आधारित एक स्वतंत्र संप्रदाय स्थापित किया। उन्होंने ब्राह्मणों के स्वामित्व को चुनौती दी और निम्न जातियों और शूद्रों को भी अपना शिष्य बनाया।

मध्यकाल में महिलाओं को धार्मिक कार्यों में भाग लेना वर्जित था। किंतु रामानन्द ने इस अवरोध को नहीं माना। उनके बारह शिष्य थे। उच्च वर्ग के शिष्यों के अतिरिक्त धन्ना जो एक जाट था, सेना एक नाई का काम करता था, रैदास चमार था और कबीर एक मुसलमान था। उनकी दो शिष्याएं थीं–पद्मावती और सुरसीर। वे राम के उपासक थे और परमात्मा के प्रति–पूर्व प्रेम और मानव बन्धुत्व के दो महान सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे। उनका कहना था कि सब लोग परमात्मा के सेवक हैं, इसीलिये वे आपस में भाई–भाई हैं।

इसके अतिरिक्त–रामानंद ऐसे पहले वैष्णव धर्म गुरु थे जिन्होंने हिन्दी माध्यम से लोगों में उपदेश दिये। इससे पूर्व के धर्म गुरुओं ने संस्कृत माध्यम से उपदेश दिये थे इसलिए उनके सन्देश उन्हीं कुछ लोगों तक पहुंच पाये थे जो संस्कृत समझ पाते थे। रामानन्द के उपदेश का माध्यम हिन्दी होने के कारण उनके सन्देश जनसाधारण तक पहुंच पाये थे। उनके उपदेशों के परिणामस्वरूप जाति–पांति के बन्धन बहुत ढीले पड़ गये थे। शूद्र ब्राह्मण के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते थे, और वे परमात्मा की दृष्टि में समान समझे जाते थे। उनकी यह एक महान उपलब्धि थी।

सुधारात्मक अभियान के रूप में भक्ति आंदोलन

प्रारम्भ में भक्ति आंदोलन अनिवार्य रूप से एक धार्मिक शृंखला था, क्योंकि इसके नेताओं के उपदेशों का मुख्य सारांश था– एक ईश्वर में विश्वास करना एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु उपरोक्त तीनों मार्गों यथा कर्म, ज्ञान व भक्ति मार्ग में से किसी एक द्वारा ईश्वर की आराधना करना। शंकराचार्य ने इसे सांस्कृतिक आंदोलन का रूप दिया जो भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए खड़ा हुआ। भक्ति संप्रदाय ने सुधारात्मक आंदोलन के रूप की कल्पना मध्यकाल में की, जब देश के विभिन्न भागों में अनेक धार्मिक विद्वानों द्वारा लोगों के मध्य सामाजिक–धार्मिक सुधारों के लिए प्रयास किये जा रहे थे।

मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन और इसकी प्रसिद्धि के तीव्र विस्तार के कारणों का पता लगाना कठिन कार्य नहीं है। हिंदू धर्म और सामाजिक संरचना की अधोगति स्पष्ट रूप से इसका प्रथम कारण थी। शंकराचार्य के प्रयासों द्वारा बुद्धधर्म और जैन धर्म को गहरा धक्का लगा और ब्राह्मणिक विश्वास को मान्यता मिल गयी। वास्तव में इससे हिन्दुओं के संपूर्ण धार्मिक संगठनों पर ब्राह्मणों के पुरोहित वर्ग का प्रभाव प्रबल हुआ। परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक पहलू में धर्म के समावेश के कारण, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा यहां तक आर्थिक क्षेत्रों तक में ब्राह्मणों का प्रभुत्व पूर्ण था।

टिप्पणी

13वीं शताब्दी में उनकी शक्तियों की अवनति से, वास्तव में, ब्राह्मण सिर्फ प्राचीन भारतीय धर्म और संस्कृति के उद्धारक के रूप में रह गये। अलबरूनी को जिसने हिंदू धार्मिक दर्शन और संस्थाओं का गहनता से अध्ययन किया, हिंदू त्रिमूर्ति के तीन देवताओं और इसके पीछे उपनिषदों के सच्चे अद्वैतवाद के दर्शन को खोज पाने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई। वह कहता है कि–''परमात्मा के अस्तित्व को वे (हिंदू) वास्तविक घटना मानते हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु का नियंत्रण ईश्वर के द्वारा होता है।'' हालांकि अलबरूनी यह देखकर दुखी हो उठता है कि ऐसा प्रभावशाली विश्वास कुछ शिक्षित वर्ग की विशिष्ट संपत्ति बन चुकी थी और सामान्य लोगों के लिए मंदिरों में प्रवेश प्रतिबंधित हो चुका था। वह प्रश्न करता है कि फ्वैसी भूमि में सामान्य लोगों को जहर में क्यों डुबाया जा रहा है जहां वर्षों से प्राचीन और प्राणदायक धर्म की अमृत धारा बहती है?

इस प्रकार की दुखद घटनाएं ज्यादा दिनों तक बिना चुनौती के नहीं रह पाईं। धीरे–धीरे निम्न जातियों ने ऊंची जातियों की शोषणात्मक प्रवृत्तियों के विरुद्ध अपना असंतोष व्यक्त करना शुरू किया। इसने समाज के विभिन्न वर्गों के कुछ शिक्षित व्यक्तियों, धार्मिक संतों और आलोचकों की आंखें खोल दी और एक–एक करके अन्य लोग भी इस कड़ी से जुड़ने लगे। उन्होंने हिंदू धर्म के नाम पर व्याप्त आडम्बर के विरुद्ध आवाज उठाई, जाति प्रथा का बहिष्कार किया तथा इन सामाजिक कुरुतियों के लिए जिम्मेदार ब्राह्मण पुरोहितों पर कुठाराघात किया।

तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, दक्षिण के आलवार और नयनार

अनेक भक्ति सुधारक नेता हुए जिन्होंने आम जन को अपने उपदेश दिये एवं उनके आस–पास के आडम्बरों व सामाजिक बुराइयों पर कुठाराघात किया। इनमें कुछ सुधारकों का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं इसके अतिरिक्त भी अनेक संत हुए जैसे–कबीर, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, रैदास, वल्लभाचार्य, दादू, नामदेव, गुरुनानक इत्यादि प्रमुख थे। इनमें से कुछ संतों का वर्णन इस प्रकार है–

तुलसीदास

तुलसीदास का जन्म एक सरयूपारीय ब्राह्मण परिवार में 1532 ई. में हुआ था उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे एवं माता का नाम हुलसी था। उन्होंने अपनी पत्नी रत्नावली के व्यंग्य के कारण संन्यास ले लिया था। माना जाता है कि उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ रामचरितमानस था इसकी रचना उन्होंने 1574 ई. में जब वह 42 वर्ष के थे, में प्रारम्भ की थी और उसे दो वर्ष और सात महीने में पूर्ण कर लिया था। इस कृति के अतिरिक्त उन्होंने गीतावली, कवितावली, विनय–पत्रिका आदि भी लिखी। तुलसी श्रीराम के उपासक थे और उन्होंने अपने प्रिय इष्टदेव का बहुत ही आदर्शमय चित्र प्रस्तुत किया है। वे राम को ईश्वर का अवतार समझते थे और उनका मानना था कि मनुष्य उन्हें भक्ति या प्रेम से प्राप्त कर सकते हैं। सर जॉर्ज ग्रियर्सन व स्मिथ ने भी रामायण की सुन्दर रचना की अत्यधिक प्रशंसा की है। वे रामायण को हिंदू–धर्म की बाइबिल मानते हैं। अतः रामायण व स्वयं के जीवन के उदाहरण प्रस्तुत कर तुलसी ने भक्ति आन्दोलन के उत्थान व विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1623 ई. में लगभग 91 वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई।

टिप्पणी

महात्मा गांधी के अनुसार–''भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने बहुत अधिक भाग लिया। तुलसी के चेतनमय 'रामचरितमानस' के अभाव में किसानों का जीवन जड़वत् और शुष्क बन जाता है। पता नहीं कैसे क्या हुआ, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि तुलसी की भाषा में जो प्राणप्रद शक्ति है, वह अन्य किसी भाषा में नहीं।''

सूरदास

सूरदास का व्यक्तित्व भी तुलसीदास से कम महत्वपूर्ण नहीं है यद्यपि दोनों ही सन्त सूरदास और तुलसीदास श्रेष्ठतम भक्त थे और सोलहवीं सदी की अन्तिम और सत्रहवीं सदी की प्रथम चतुर्थी में हुए थे। दोनों ही उच्चकोटि के सन्त थे। दोनों ने हिन्दी के प्रथम श्रेणी के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। ये ग्रन्थ भगवद्भक्ति और प्रेम का सर्वोत्कृष्ट पाठ पढ़ाते हैं, और पिछले अनेक वर्षों से उत्तरी भारत के लाखों स्त्री–पुरुषों की प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। सूरदास का जन्म पन्द्रहवीं सदी की अन्तिम चतुर्थियों में ही हुआ था और उनकी मृत्यु उसी सदी के अन्त में हुईं थी। सूरदास की अनेक कृतियां लोकप्रिय हुई जिनमें तीन कृतियां अत्यधिक लोकप्रिय हुई। ये हैं–सूरसारावली, साहित्य लहरी और सूरसागर। सूर ने अपनी रचनाओं में निष्ठावान भक्त की भगवद्भक्ति के साथ ही बाल छवि, मनोविज्ञान का श्रेष्ठतम ज्ञान प्रदर्शित किया है। सूरदास के ग्रन्थों ने लोगों को बड़ा ही प्रभावित किया और उन्हें भक्ति की ओर उन्मुख किया।

मीराबाई

मीराबाई भक्ति आन्दोलन की प्रमुख संत थीं। उनका जन्म राजस्थान में लगभग 1498 ई. में हुआ। उनकी शादी 1516 ई. में भोजराज (राणासांगा का बेटा) से हुई। भोजराज की मृत्यु राणा सांगा के समय में ही हो गई थी। मीराबाई का जीवन बड़ा ही धार्मिक था, वह कृष्ण का ध्यान किया करती थीं। पति की मृत्यु के बाद उन्होंने अपना सारा समय धार्मिक कामों में लगा दिया। उनके पिता भी 1528 ई. में कन्वाह के युद्ध में मारे गये। मीरा की प्रसिद्धि सब दिशाओं में फैल गई और दूर–दूर से लोग उनके पास चित्तौड़ आने लगे। राणा विक्रमादित्य ने एक बार मीरा को जहर देकर मारने का प्रयास किया, किन्तु जहर का उन पर कोई असर नहीं हुआ। इसके पश्चात् वह अपने चाचा बीरमदेव के पास चली गईं। वहां जाकर वह धार्मिक कार्यों में लग गईं। वह धार्मिक लोगों के साथ कीर्तन करती रहीं और 1546 ई. में उनकी मृत्यु हो गई।

मीरा का विचार था कि किसी को जन्म के कारण, गरीबी के कारण अथवा आयु के कारण परमात्मा से परे नहीं रखा जा सकता। परमात्मा से मिलन का एकमात्र साधन भक्ति है। जब गुरु अपने शिष्य को उपदेश देगा तो दरवाजे खुल जायेंगे और शब्द के रहस्यों का ज्ञान हो जायेगा। धीरे–धीरे परमात्मा के दर्शन स्वतः ही हो जायेंगे। परमात्मा ज्ञान अथवा योग से नहीं अपितु भक्ति व प्रेम से मिलता है।

दक्षिण के आलवार

जब–जब भारत में विदेशियों के प्रभाव से धर्म के लिए खतरा उत्पन्न हुआ, तब–तब अनेक संतों की जमात ने लोक मानस में धर्म की पवित्र धारा बहाकर, उसकी रक्षा की। दक्षिण के आलवार संतों की भी यही भूमिका रही है। 'आलवार' का अर्थ है 'जिसने अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गोता लगाया हो।' आलवार संत गीता की सजीव मूर्ति थे। वे उपनिषदों के उपदेश के जीते जागते नमूने थे।

टिप्पणी

आलवार संतों की संख्या बारह मानी गई है। उन्होंने भगवान नारायण, राम, कृष्ण आदि के गुणों का वर्णन करने वाले हजारों पद रचे। इन पदों को सुन–गाकर आज भी लोग भक्ति रस में डुबकी लगाते हैं। आलवार संत प्रचार और लोकप्रियता से दूर रहे। ये इतने सरल और सीधे स्वभाव के संत थे कि न तो किसी को दुख पहुंचाते न ही किसी से कुछ अपेक्षा करते।

उन्होंने स्वयं कभी नहीं चाहा, न ही इसका प्रयास किया कि लोग उनके पदों को जानें। ये आलवार संत भिन्न–भिन्न जातियों में पैदा हुए थे, परन्तु संत होने के कारण उन सबका समान रूप से आदर है। क्योंकि इन्हीं के कथनानुसार संतों का एक अपना ही कुटुम्ब होता है, जो सदा भगवान में स्थित रहकर उन्हीं के नामों का कीर्तन करता रहता है। वास्तव में नीच वही है, जो भगवान नारायण की प्रेम सहित पूजा नहीं करते।

विष्णु या नारायण की उपासना करने वाले भक्त 'आलवार' कहलाते हैं। इनकी संख्या 12 हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं–

1– पोरगे आलवार

2– भूतन्तालवार

3– मैयालवार

4– तिरुमालिसै आलवार

5– नम्मालवार

6– मधुरकवि आलवार

7– कुलशेखरालवार

8– पेरियालवार

9– आण्डाल

10– ताण्डरडिप्पोड़ियालवार

11– तिरुरपाणोलवार

12– तिरुमगैयालवार।

इन बारह आलवारों ने घोषणा की कि भगवान की भक्ति करने का सबको समान रूप से अधिकार प्राप्त है। इन्होंने, जिनमें कतिपय निम्न जाति के भी थे, समस्त तमिल प्रदेश में पदयात्रा कर भक्ति का प्रचार किया। इनके भावपूर्ण लगभग 4000 गीत मालायिर दिव्य प्रबंध में संग्रहित हैं। दिव्य प्रबंध भक्ति तथा ज्ञान का अनमोल भंडार है।

प्रथम तीन आलवारों में से पोरगे का जन्म स्थान कांचीपुरम, भूतन्तालवार का जन्म स्थानमहाबलिपुरम और मैयालवार का जन्म स्थान चेन्नै (मैलापुर) बतलाया जाता है। इन आलवारों के भक्तिगान 'ज्ञानद्वीप' के रूप में विख्यात हैं। मद्रास से 15 मील दूर तिरुमिसै नाम एक छोटा सा ग्राम है। यहीं पर तिरुमालिसै का जन्म हुआ। माता–पिता ने इन्हें शैशवावस्था में ही त्याग दिया। एक व्याध के द्वारा इनका लालन–पालन हुआ। कालांतर में ये बड़े ज्ञानी और भक्त बने। नम्मालवार का दूसरा नाम शठकोप बतलाया जाता है। पराकुंश मुनि के नाम से भी ये विख्यात हैं।

टिप्पणी

आलवारों में यही महत्वपूर्ण आलवार माने जाते हैं। इनका जन्म ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित तिरुक्कुरुकूर नामक ग्राम में हुआ। इनकी रचनाएं दिव्य प्रबंधम् में संकलित है। दिव्य प्रबंधम् के 4000 पद्यों में से 1000 पद्य इन्हीं के हैं। इनकी उपासना गोपी भाव की थी। छेठ आलवार मधुर कवि गरुड़ के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म स्थान तिरुक्कालून नामक ग्राम हैं। ये शठकोप मुनि के समकालीन थे और उनके गीतों को मधुर कंठ में गाते थे। इसलिये इन्हें मधुर कवि कहा गया। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। सातवें आलवार कुलशेखरालवार केरल के राजा दृढ़क्त के पुत्र थे। ये कौस्तुभमणि के अवतार माने जाते हैं। भक्तिभाव के कारण इन्होंने राज्य का त्याग किया और श्रीरंगम् रंगनाथ जी के पास चले गए। उनकी स्तुति में उन्होंने मुकुंदमाला नाम स्तोत्र लिखा है। आठवें आलवार पेरियालवार का दूसरा नाम विष्णुचित है। इनका जन्म श्रीविल्लिपुत्तुर में हुआ। आंडाल इन्हीं की पोषित कन्या थी।

बारह आलवारों में आंडाल महिला थी। एकमात्र रंगनाथ को अपना पति मानकर ये भक्ति में लीन रहीं। कहते हैं, इन्हें भगवान की ज्योति प्राप्त हुई। आंडाल की रचनाएं निरुप्पाबै और नाच्चियार तिरुमोषि बहुत प्रसिद्ध है। आंडाल की उपासना माधुर्य भाव की है। तोंडरडिप्पोड़ियालवार का जन्म विप्रकुल में हुआ। इनका दूसरा नाम विप्रनारायण है। बारहवें आलवार तिरुमगैयालवार का जन्म शैव परिवार में हुआ। ये भगवान की दास्य भावना से उपासना करते थे। इन्होंने तमिल में छः ग्रंथ लिखे हैं, जिन्हें तिमल वेदांग कहते हैं।

इन आलवारों के भक्ति सिद्धांतों को तर्कपूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करने वाले अनेक आचार्य हुए हैं जिनमें रामानुजाचार्य और वेदांतदेशिक प्रमुख हैं।

दक्षिण के नयनार

भक्ति आंदोलन की एक धारा दक्षिण में प्रस्फुटित हुई जो दो भागों में विभक्त थी आलवार और नयनार। भारत में जिस प्रकार वैष्णव भक्तों में आलवार भक्तों की श्रृंखला चली, उसी तरह शैव भक्तों में उन्हीं दिनों नयनार भक्तों की श्रृंखला चली। आलवार संतों की भक्ति का दार्शनिक रूप विशिष्ट द्वैत है उसी प्रकार नयनार भक्तों का दार्शनिक रूप शिव निष्ठा था। इसे शंकर के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्ट द्वैतवाद के बीच का मार्ग माना जाता है। नयनार भक्तों में 63 भक्त कवियों के नाम मिलते हैं। दक्षिण के शैव मंदिरों में इनकी प्रतिमा भी पूजी जाती है।

इन नयनार भक्तों के पदों का संकलन आचार्य नाम्बि–आहार–नाम्बि ने ग्यारह जिल्दों में की है। इन्हें तिरूमरई या पवित्र पुस्तक कहते हैं।

इस पूरे साहित्य की एक ही केंद्रीय विचारधारा है–'शिव ही सर्वोच्च है। शैव सिद्धान्त ही वेदों का सार है।' ये भक्त कवि अपनी पारिवारिक सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न पृष्ठभूमि से थे। इनमें कुछ विवाहित, गृहस्थ तो कुछ संन्यासी थे। आलवार में केवल एक महिला और शेष ग्यारह पुरुष थे लेकिन नयनार में पुरुष भी थे और महिलाएं भी थीं।

इन सबसे एकजुट होने का एक मात्र सूत्र था–''शिव के प्रति निष्ठा। शिव पूजा में आस्था और शिव प्रसाद में संतुष्टि। इनके अनुसार शिव ही सृष्टि के नियंता है। वे ही चेतना के सागर हैं। वे ही समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त हैं। वे ही अनादि सत्य

टिप्पणी

हैं।'' नयनार भक्तों के अनुसार ईश्वर के पांच कार्य हैं–सृजन, संरक्षण, संहार, अवगुंठन और अनुग्रह। इन कार्यों को करने के लिए 5 शक्तियां हैं–ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव। शक्ति शिव की ऊर्जा है–उन्हीं का एक अंग है। मिट्टी के एक घड़े के निर्माण में तीन साधन होते हैं–कुम्हार, डंडा और चक्र। ये उसके सहायक साधन हैं तो मिट्टी एक भौतिक साधन। इस सृष्टि के लिए शिव के साथ शक्ति सहायक साधन है और माया भौतिक साधन। शक्ति चेतना है। वह शिव का ही प्रतिबिंब है। पृथ्वी के जड़, प्रकृति और चेतन जीव में भी शिव का निवास है। आत्मा भी शिव के समान अनादि, अनंत और चेतन है। सांसारिक बंधान में बंध जाने के कारण आत्मा स्वयं को क्षणिक, नश्वर और अज्ञानी मानती है। इस बंधन से छुटकारा पाना अत्यावश्यक है।

इसके लिए आवश्यक है कि जीव अपने पूर्व कर्मों से मुक्त हो, जड़ की अधीनता से बाहर निकले। मुक्ति की साधना के लिये शैव मत में विहित पद्धति का निर्धारण किया गया है। इस में गुरु को आवश्यक बताया गया है। इस सबके लिए शिव की कृपा अभीष्ट है।

भक्ति आंदोलन का प्रभाव

भक्ति आंदोलन बहुत कुछ हद तक अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हुआ। इसने समाज में ब्राह्मण पुरोहितों के प्रभुत्व पर गंभीर चोट पहुंचाकर हिंदू धर्म का कायाकल्प कर दिया। इसने ब्राह्मणवाद का खंडन किया जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण अपनी खोई छवि प्राप्त नहीं कर पाये। भक्ति आंदोलन ने लोगों के धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विश्वास को पुनः जीवित किया एवं बड़े पैमाने पर इस्लाम धर्म में परिवर्तन पर रोक लगाई। यद्यपि जातिवाद पर कुछ खास प्रभाव नहीं पड़ा फिर भी उच्च व कुछ निम्न जातियों के बीच संबंध स्थापित होने तथा उनके बीच व्यवहार के कारण इसके बुरे प्रभाव अवश्य प्रभावित हुए। हिन्दुओं में व्याप्त सामाजिक बुराइयों जैसी समस्याओं का उन्मूलन नहीं हो सका, फिर भी जब उनका संपूर्ण तिरस्कार अथवा भर्त्सना हुई तब उनकी तीक्ष्णता कम हुई, वे जनसमुदाय के नैतिक अंतकरण में बसने की ओर अग्रसित हुए।

भक्ति आंदोलन ने जीवन के उत्कृष्ट मूल्यों पर बल दिया और उसके द्वारा संपूर्ण समाज के नैतिक जीवन में सुधार हुआ। भक्ति आंदोलन मुस्लिम शासन के अधीन हिन्दुओं के दमिल युग के अंत को सूचित करता है क्योंकि इसने उन्हें कठिनाइयों से मुकाबला करने के लिए नैतिक साहस प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त तमिल, तेलुगू, हिन्दी, पंजाबी, बांग्ला और मराठी सहित मातृभाषा के विकास का श्रेय भी भक्ति आंदोलन को दिया जाता है जिसने अपने उपदेश आम बोलचाल की भाषा अथवा स्थानीय भाषाओं में दिये। भक्ति की अवधारणा इन भाषाओं के साहित्यिक भंडार में भी पहुंच गई, क्योंकि इसने उन भारतीय विद्वानों को एक नई सोच प्रदान की जो आंदोलन में उपदेशक के रूप में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित नहीं हुए थे।

2.2.3 आधुनिक धार्मिक धारणाएं : धर्मनिरपेक्षता–भौतिकतावाद बनाम अध्यात्मवाद

टिप्पणी

धर्म मानव की एक सार्वभौम प्रवृत्ति है। धर्म प्रतीकों के एक समूह को समाविष्ट करता है, जो भय या आदर की भावनाओं को उत्पन्न करते हैं। किसी समुदाय या अनुयायियों द्वारा व्यवहृत अनुष्ठानों से जुड़े रहते हैं। किसी न किसी तरह एक धर्म की मान्यता में देवता शामिल होते हैं। सत्य रूप में हमेशा कोई अस्तित्व या वस्तु मौजूद रहती है जो भय या चमत्कार की प्रकृति को बढ़ावा देती है। जब से मानव ने इस पृथ्वी पर नेत्र खोले तब से उसके मन में सदैव प्रकृति के पीछे छिपी चेतन शक्ति को ज्ञात करने तथा उससे संबंध स्थापित करने की इच्छा जागृत हुई।

आनुष्ठानिक क्रियाएं प्रतीकों की ओर उन्मुख होती हैं। वे सामान्य जीवन की आदतों और प्रक्रियाओं से बिल्कुल भिन्न देखी जाती हैं। किसी ईश्वर के प्रति पूजा–भाव से जलाई गई मोमबत्ती का स्वरूप प्रकाश के लिए जलाई जाले वाली मोमबत्ती से बिल्कुल भिन्न होता है।

सामूहिक रिवाजों का अस्तित्व आमतौर पर धर्म को चमत्कार से अलग करने वाले मुख्य कारकों में से एक है। आमतौर पर जादू व्यक्तियों द्वारा व्यवहार में लाया जाता है, न कि एक समुदाय द्वारा। सभी धर्मों में रिवाजों का समावेश होता है जो अनुयायियों द्वारा सामूहिक रूप से व्यवहृत होते हैं। नियमित रिवाज आमतौर पर विशिष्ट स्थानों में होते हैं–चर्च, मंदिर और समारोह स्थल।

मानव को जब भी प्राकृतिक आपदाओं, यथा– तूफानों, बाढ़ों, सूखा इत्यादि का सामना करना पड़ा, तब उसने सहारे तथा शक्ति की प्रेरणा तथा सहायता के लिये उस अदृश्य शक्ति को देखा। इस प्रकार कभी जिज्ञासा तो कभी भय के कारण मानव में धार्मिक प्रवृत्ति का उदय हुआ।

आमतौर पर वे 'सत्य का मार्ग' खोजने और अनुसरण करने का लक्ष्य रखते हैं। वे अपने आसपास के समाजों से अलग होकर अपने समुदाय में मिलने की प्रवृत्ति रखते हैं संप्रदाय के सदस्य स्थापित चर्चों को भ्रष्ट समझते हैं। आदि और पंरपरागत समाजों में धर्म इस अर्थ में पूरी तरह से विद्यमान था कि जन्म से लेकर अंतिम संस्कार या दफनाने तक समस्त कार्यों के लिए धर्म ही नियुक्त था। धर्म 'नैतिक निर्देशों' जो अनुयायियों के व्यवहार को नियंत्रित करता हो, के रूप में भी नहीं पहचाना जाना चाहिए। यह विचार कि ईश्वर इस बात में रुचि लेता है कि हम पृथ्वी पर कैसे व्यवहार करते हैं? बहुत सारे धर्मों के लिए सर्वथा अनजान है। धर्म सिर्फ 'अलौकिक' के द्वारा ही पहचाना नहीं जा सकता । नीतिशास्त्रीय धर्म 'सांसारिक' धर्म है।

ज्यादातर धर्मों में अनेक देवी–देवताओं का अस्तित्व होता है। यहां तक कि ईसाई धर्म की कुछ शाखाओं में पवित्र विशिष्टताओं से परिपूर्ण कई स्वरूप पाए जाते हैं– ईश्वर, ईसा मसीह, मरियम और पवित्र आत्मा व देवदूत इत्यादि। कुछ धर्मों में कोई ईश्वर नहीं होता।

धर्म ने अनुयायियों के आदि समाजों के प्रति विश्व परिदृश्य को निर्धारित किया। ये सारी विशिष्टताएं आधुनिक समाज के धार्मिक लोगों पर भी लागू होती हैं। परंतु एक बहुत बारीक अंतर पनप उठा है– वेदांत के संदर्भ में लोग धीरे–धीरे पौराणिक

व्याख्या से मुंह मोड़कर अपेक्षाकृत ज्यादा विवेकपूर्ण व्याख्या की ओर बढ़ रहे हैं। धार्मिक विचारों का प्रमाणीकरण आमतौर पर सोच के प्रमाणीकरण की आम प्रक्रिया का एक हिस्सा है।

टिप्पणी

धर्म का इस मुद्दे से कोई संबंध नहीं है कि विश्व इस रूप में कैसे अस्तित्व में आया। ईसाई धर्म में आदम और हव्वा का मिथक मनुष्य के जीवन की उत्पत्ति को वर्णित करता है। इसके अतिरिक्त भी बहुत सारे धर्मों में उत्पत्ति के मिथक हैं, पर कई धर्मों में नहीं भी पाये जाते हैं।

अलौकिकरण से आशय वस्तुतः 'पवित्र के प्रति जवाबदेही में धार्मिक प्रतिक्रिया में पाए जाने वाली एक भावनात्मक संलिप्तता से विलगाव है।' इस तरह से धर्म के निरपेक्षीकरण का अर्थ अलौकिकीकरण और प्रमाणीकरण दोनों ही है, जैसे–धार्मिक विश्व दृष्टिकोण विचार के लिए कोई आधारभूत संदर्भ नहीं रह गया है।

ब्रैड विल्सन ने निरपेक्षीकरण की आधुनिक अवधारणा को विकसित किया। उनकी पुस्तक 'रिलीजन इन ए सेक्युलर सोसाइटी' में वह बताते हैं, कि 'धार्मिक विचार शायद वह क्षेत्र है, जिसमें सर्वाधिक स्पष्ट बदलाव होते हैं। जो मनुष्य धार्मिक उत्प्रेरणा की प्रतिक्रिया में कम से कम सक्रिय होते हैं, वे विश्व को प्रयोगसिद्ध और तर्कसंगत आधार पर आंकते हैं।

मानव अस्तित्व के बहुत सारे पहलुओं पर एक विवेकपूर्ण स्वरूप की छाप अब पड़ चुकी है और निकट भविष्य में यह स्वरूप उत्तरोत्तर सशक्त होगा , इसकी पूर्ण संभावना है। फिर भी तर्कवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाओं का उठ खड़ा होना अवश्यम्भावी है, जो धार्मिक पुनरुस्थान का मार्ग प्रशस्त करता है। संभवतः ऐसे कुछेक ही लोग होंगे, जो धार्मिक भावनाओं से प्रभावित नहीं हुए होंगे और विज्ञान व तर्कपूर्ण विचार जीवन के अर्थ और उद्देश्य जैसे मौलिक प्रश्नों पर मौन रह जाते हैं। ये वे मुद्दे हैं, जो हमेशा धर्म का सार होते हैं।

धार्मिक संस्थानों के भी, अन्य सभी संस्थाओं के समान खुले और गुप्त दोनों प्रकार के कार्य होते हैं। खुले या प्रकट धर्म के कार्य तीन प्रकार की चीजों से संबंद्ध हैं, जो इस प्रकार होते हैं–

(1) मान्यताओं की एक पद्धति, जिसे उपदेश के नाम से जाना जाता है और जो मनुष्य की एक–दूसरे तथा ईश्वर के प्रति संबंध की प्रकृति को परिभाषित करती है।

(2) व्यावहारिक मानकों की एक शृंखला, जो उपदेशों के अनुकूल होती है। उपदेशों का बचाव और व्याख्या करने का काम, प्रवचन, धर्म प्रचार, अनुष्ठानों का निर्वाह और व्यावहारिक मानकों को पुनःस्थापित करने की इच्छा पूजा और उपदेश की जटिल पद्धति की ओर ले जाती है। जनहित के कार्यों में मानवीय संसाधन तथा धन दोनों की आवश्यकता होती है।

(3) इन उपदेशों को प्रतीक के रूप में दर्शाने वाले अनुष्ठान लोगों को उनकी याद दिलाते हैं।

अध्यात्म धर्म से परे प्रत्येक धर्म से सारपूर्ण सकारात्मकता ग्रहण करने का नाम है। अधि + आत्म अर्थात आत्मा के 'स्व' के और निकट। स्वयं का ज्ञान–दर्शन और

टिप्पणी

बोध। अध्यात्मवाद वह विचारधारा है जिसमें आत्मा को ही सर्वस्व का मूल माना जाता है। ग्रीक दार्शनिक अफलातून ने सर्वप्रथम इस पर विचार किया। यह आत्मा के जगत का मूल मानने वाला एक प्रत्ययवादी विचार है। इसमें कर्मकांड, पूजा–प्रार्थना का नहीं; ध्यान–प्रेम और सत्कर्म का महत्व है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. वैदिक अवधारणा में इनमें से कौन पृथ्वी के देवता नहीं हैं?
   (क) अग्नि (ख) सोम
   (ग) आदित्य (घ) सोम
2. जैन धर्म के प्रवर्तक कौन थे?
   (क) वर्द्धमान (ख) गौतम
   (ग) सिद्धार्थ (घ) इनमें से कोई नहीं
3. भक्ति आंदोलन किस काल से संबंधित है?
   (क) वैदिक काल (ख) पौराणिक काल
   (ग) आधुनिक काल (घ) मुगलकाल

2.3 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (क)
3. (घ)

2.4 सारांश

आर्यों में यज्ञ, आहुति और पशुबलि को प्रधानता दी गई थी, जिनके द्वारा वे देवताओं को प्रसन्न करके शक्ति, संपत्ति और विभिन्न पदार्थों एवं सुविधाओं को प्राप्त करने की आशा करते थे। आर्यों ने मृत्यु के पश्चात के जीवन तथा स्वर्ग एवं नर्क की कल्पना की थी। परंतु वह जीवन उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण न था। वे इस जीवन से प्रेम करते थे और उसकी वृद्धि एवं संपन्नता के लिए देवताओं को प्रसन्न करते थे।

जैन भिक्षुओं के शासन–तंत्र में पराकाष्ठीय कठोरता थी और आज भी है। भिक्षु के दीक्षा संस्कार के समय उसके बाल काटे नहीं जाते अपितु समूल खींच लिए जाते थे। वह स्वयं को अनेक कठिनाइयों का आश्रय बनाता था, जैसे कि भारतीय ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्नकालीन सूर्यताप में तपस्या करना अथवा दीर्घकाल तक किसी असुविधाजनक मुद्रा में रहना। यद्यपि जैन धर्म में हिंदू मतावलम्बियों की कुछ कौतुकीय तपस्याओं का निषेध था तथापि भिक्षुओं के मिताहारों के बीच–बीच अनेक उपवास आया करते थे और अनेक जैन भिक्षु स्वयं महावीर के उदाहरण का अनुसरण करते हुए आमरणोपवास किया करते थे।

टिप्पणी

इस्लाम भी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से गहराई से प्रभावित था। इसके प्रभावस्वरूप इस्लाम ने अपने परिधान, संगीत, विवाहोत्सवों एवं कला इत्यादि में काफी परिवर्तन कर लिये थे। इस समय विभिन्न धार्मिक आंदोलनों, इस्लामी रहस्यवाद एवं धार्मिक अवधारणाओं के उदय की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई, जिनकी वजह से कई सुधारवादी आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ तथा पूरे देश में उनका प्रचार–प्रसार हुआ।

भारत में सूफीवाद का आगमन सिंध पर अरब की जीत से होता है। उत्तरी, मध्य और पश्चिमी भारत के राजपूत प्रमुखों द्वारा करीब तीन सौ वर्षों तक व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से साहसिक संघर्षों के बावजूद अरबों ने सफलतापूर्वक सिंध और मुल्तान पर विजय प्राप्त की। ऐसा माना जाता है कि इसी अवधि के दौरान कुछ सूफी लोग भारत के विभिन्न हिस्सों में घुस गये। उत्तरी भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद मध्य एशिया के मुस्लिम देशों में काफी संख्या में सूफी लोगों का आगमन भारत में शुरू हुआ।

मुक्ति प्राप्ति के रूप में ज्ञान मार्ग सच्चे ज्ञानोदय पर विशेष बल देता है। भगवत गीता में अपने शिष्य, अर्जुन को भगवान कृष्ण द्वारा दी गई शिक्षा के रूप में कर्म मार्ग इस उद्देश्य के लिए निःस्वार्थ अथवा निःस्पर्धा क्रिया का वर्णन किया गया है जबकि, भक्ति मार्ग के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का सबसे सरल तरीका–ईश्वर की पूर्णतः निष्ठापूर्वक आराधना द्वारा उनका विश्वास जीतना तथा मृत्यु पश्चात् उसी ईश्वर में विलीन हो जाना है।

मानव अस्तित्व के बहुत सारे पहलुओं पर एक विवेकपूर्ण स्वरूप की छाप पड़ चुकी है और निकट भविष्य में यह उत्तरोत्तर सशक्त होगा , इसकी पूर्ण संभावना है। फिर भी तर्कवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाओं का उठ खड़ा होना अवश्यम्भावी है, जो धार्मिक पुनरुस्थान का मार्ग प्रशस्त करता है।

2.5 मुख्य शब्दावली

- **आवागमन** : आना–जाना (जन्म–मृत्यु)
- **मोक्ष** : आवागमन से मुक्ति
- **दिगम्बर** : निर्वस्त्र रहने वाले जैन संत
- **परिव्राजक** : भिक्षा स्वरूप भोजन प्राप्त करने वाला संत
- **खानकाह** : सूफी उपासना स्थल

2.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. वैदिक धर्म से क्या आशय है?
2. महावीर एवं बुद्ध ने गृह–त्याग क्यों किया?
3. सूफी शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. धर्मनिरपेक्षता क्या है?

टिप्पणी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. ऋग्वैदिक धर्म की विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए जैन धर्म की धारणा स्पष्ट कीजिए।
2. बुद्ध की बुद्धत्व यात्रा पर प्रकाश डालिए।
3. भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए सूफीवाद की विवेचना कीजिए।
4. "धर्मनिरपेक्षता–भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद" पर सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

2.7 सहायक पाठ्य सामग्री

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
2. भारतीय दर्शन– डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि.।
3. भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इतिहास (प्राचीन काल से 18वीं शताब्दी तक), Indu Books Services Pvt. Ltd.
4. भारतीय विज्ञान का इतिहास, लाल मणि ओझा, नोशन प्रेस, 1st Edition April 2021.
5. चौधरी, राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, 2003.
6. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद, 2005.
7. मुखर्जी, राधाकमल, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन : एनशिएंट एंड क्लासिकल ट्रेडिशंस, 2006.
8. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2002.
9. झा, डी.एन., प्राचीन भारत की रूपरेखा, पीपुल्स पब्लिशर्स हाउस, नई दिल्ली, 2005.
10. शर्मा, रीता, प्राचीन भारत का इतिहास, वोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1991.
11. त्रिपाठी रामशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1998.
12. पांडेय, विमल चंद, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, (वॉल्यूम–II), सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

इकाई 3 समाज और शासन प्रबंध

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 समाज और इसकी शासन व्यवस्था
  3.2.1 समाज
  3.2.2 सामाजिक व्यवस्था : अर्थ, तत्व एवं सिद्धांत
  3.2.3 समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था : कानून, शिक्षा एवं बल प्रयोग
3.3 सामाजिक–आर्थिक मूल्य और संस्थाएं
  3.3.1 प्राचीन भारत में सामाजिक–आर्थिक मूल्य एवं संस्थाएं
  3.3.2 मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत में सामाजिक–आर्थिक मूल्य एवं संस्थाएं
3.4 राजनीतिक मूल्य और संस्थाएं
  3.4.1 प्राचीन भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं
  3.4.2 मध्यकालीन व आधुनिक भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

भारतीय संस्कृति व इतिहास को समझने के लिए हमें समाज और इसके शासन–प्रबंध की जानकारी होना अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज में प्राचीन समय से ही अध्यात्म, धर्म, कला, विविध विधाएं, नीति आदि अति विकसित थे। भारतीय समाज की सामाजिक व आर्थिक रूपरेखा की जानकारी से विद्यार्थी को अपने मूल का पता चलता है। भारतीय ऐतिहासिक समाज व आर्थिक व्यवस्था की जानकारी विद्यार्थी को अपने देश के अस्तित्व को समझकर गौरवान्वित होने व देश–सेवा की भावना से ओत–प्रोत होने का मौका भी देती है।

भारत के सामाजिक व आर्थिक मूल्यों को समझने के बाद ही हम इसके गहरे ऐतिहासिक परिदृश्य को समझ सकते हैं। किसी भी समाज की रूपरेखा समझने के लिए उसकी सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि को समझना जरूरी होता है। भारतीय सामाजिक व आर्थिक मूल्य किन मानकों पर निर्मित हैं? समय–समय पर होने वाले परिवर्तन से इन मूल्यों और संस्थानों पर क्या प्रभाव पड़ा? ऐसे प्रश्नों के उत्तर पाने होते हैं।

मानव जाति के अस्तित्व एवं विकास से संबंधित विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक विचार समय–समय पर बदलते रहते हैं। समाज में विभिन्न वर्गों का उद्‌भव, विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच का संबंध, सामाजिक स्तरीकरण ऊंच–नीच का भेदभाव, शादी–ब्याह के नियम, मृत्यु के कर्मकांड, धार्मिक मान्यता, मठ–मंदिर का अस्तित्व, माता–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी के परस्पर संबंध आदि सामाजिक मान्यताओं के मूल स्तंभ हैं।

टिप्पणी

प्राचीन समय से ही भारत में वर्ण व्यवस्था का अस्तित्व है, जातियों के आधार पर समाज में स्तरीकरण का अस्तित्व है। इसके अलावा वैदिक धर्म को हिंदू धर्म का मूल समझा जाता है और भारतीय सामाजिक रूपरेखा में प्रारंभ से आज तक वैदिक यज्ञ, मान्यताओं एवं कर्मकांडों का महत्व है।

प्राचीन भारत में हिंदू धर्म के अतिरिक्त जैन धर्म व बौद्ध धर्म अत्यंत प्रसिद्ध थे। शक्ति की स्तुति, वैदिक देवी–देवताओं की मान्यता, जैन व बौद्ध अनुष्ठानों के अनूठे समागम से हमारे समाज की नींव रखी गयी है।

मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमणकारियों का भारत की भूमि में मध्य–एशिया से जो आगमन हुआ, इसके बाद भारतीय समाज की रूपरेखा में कुछ परिवर्तन आए। दिल्ली सल्तनत व मुगल वंश के अस्तित्व में आने के साथ भारतीय वर्ण–व्यवस्था, जातीय प्रबंध आदि वैसे ही बने रहे परंतु भारतीय सामाजिक ताने–बाने में एक नया धर्म अस्तित्व में आया। यह इस्लाम धर्म था, जो अब भारतीय भूमि में रच–बस गया।

हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म के साथ मिलकर इस्लाम धर्म भी भारत की सामाजिक प्रणाली को प्रभावित करने लगा। विभिन्न राजाओं के बीच धर्म को लेकर कथित तौर पर जो रंज था, उससे अधिक सांझी संस्कृति और सांझी विरासत के नमूने हमें भारतीय सामाजिक इतिहास में दिखाई पड़ते हैं।

अट्ठारवीं शताब्दी तक चल रहे मुगल शासन के अंतिम दौर में यूरोप के कुछ देशों ने भारत भूमि से यहां के वैश्विक धन को काबू में करने की साजिशें कीं। अंग्रेजी शासन व्यवस्था ने भिन्न–भिन्न तरह से प्रयोग किये और भारत में लगभग दो सौ वर्षों तक राज किया, इस दौरान भी भारत की सामाजिक संस्थाओं एवं मूल्यों में कुछ परिवर्तन आए।

इस इकाई में हम समाज एवं इसकी शासन व्यवस्था सामाजिक–आर्थिक मूल्य एवं संस्थानों, राजनीतिक मूल्य एवं संस्थानों का अध्ययन करेंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- समाज की अर्थवत्ता समझ पाएंगे;
- सामाजिक व्यवस्था के तत्वों एवं सिद्धांतों का अवलोकन कर पाएंगे;
- प्राचीन, मध्युगीन एवं आधुनिक भारत के सामाजिक–आर्थिक मूल्यों व संस्थानों से परिचित हो पाएंगे;
- भारत के राजनीतिक मूल्यों एवं संस्थानों से अवगत हो पाएंगे।

3.2 समाज और इसकी शासन व्यवस्था

समाज की अर्थवत्ता और इसके शासन–प्रबंध को निम्नांकित बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है–

3.2.1 समाज

टिप्पणी

समाज के प्रादुर्भाव अथवा उद्‌गम को उद्विकास में एक अति महत्वपूर्ण चरण माना जा सकता है। अन्य चरणों की भांति इस चरण में भी पुरानी स्थितियों से नवीन संश्लेषण किया गया, अद्वितीय गुणों को धारण किया गया जो पुरानी स्थितियों में अस्तित्व में नहीं थे। इस प्रकार इसे प्रादुर्भाव उद्विकास के नाम से जाना जाता है। समाज वास्तव में प्रादुर्भूत हुआ है, इस तथ्य को स्वीकारते हुए इसके स्वतन्त्र उद्‌गम को असंख्य जन्तु–प्रकारों में ढूंढ़े जाने की आवश्यकता है। मानव समाजों व अन्य प्रजातियों के समाजों के मध्य के अंतरों को भी समझे जाने की आवश्यकता है।

कई दशक पहले तक समाज की तुलना किसी जीव से करनी सामान्य–सी बात हुआ करती थी क्योंकि यह जताने का प्रयास किया गया था कि सामाजिक तन्त्र वास्तव में एक प्रणाली है। यह अनुरूपता सहायक तो थी परन्तु परिपूर्ण कभी न थी। जीव की कोशिकाएं अपने साहचर्य संबंधों के लिए दृढ़ता से निर्धारित रहती हैं, जीव की इच्छाओं का पूर्ण अनुसरण करती हैं एवं ये इतनी विशेषज्ञीय होती हैं कि इन्हें समाज की सदस्याएं कहा जाता है। ये स्थानगत रूप से विलग नहीं होतीं वरन स्वतन्त्ररूपेण गतिशील होती हैं। अतः जीव को स्पष्ट रूप से कोशिकाओं का समाज नहीं कहा जाता। जीव में चेतना होती है जो किसी समाज में नहीं होती।

जिस प्रकार जीव कोशिकाओं का समुच्चय है उसी प्रकार समाज जीवों के मध्य के संबंधों की प्रणाली है, न कि कोशिकाओं के मध्य के संबंधों की प्रणाली। जीव की भांति समाज व इसके भागों की निर्धारित संरचना होती है, समन्वय के समय पूरा समूह एक शरीर की भांति कार्य करने लगता है। इससे सामूहिक निरन्तरता आती है जो कि उस समूह अथवा समाज के संघटक जीव से परे है। उदाहरणार्थ वन्य शूकरों के झुण्ड पर जब कोई बाघ आक्रमण करता है तो समूह के मुखिया को सारे सदस्य घेरकर खड़े हो जाते हैं व जब तक एक भी सदस्य जीवित है वह बाघ को मुखिया तक पहुंचने नहीं देता व प्राणघातक संघर्ष करता है। इस निरन्तरता व संरचना की धार्यता के कारण सदस्य के अध्ययन से अधिक महत्वपूर्ण इस समाज का अध्ययन हो जाता है। दीवार व छत का अध्ययन कर लेने मात्र से भवन को नहीं समझा जा सकता। इनकी पारस्परिक क्रिया द्वारा सम्पूर्ण भवन के निर्माण का अध्ययन करना होता है।

समाज अथवा मानव समाज ऐसे लोगों का समूह है जो स्थायी संबंधों के कारण एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। मानव समाज में ऐसे व्यक्तियों के मध्य भी संबंध बनाये जाते हैं जो भिन्न संस्थानों अथवा संस्कृति के होते हैं। किसी समाज को उसके संघटक सदस्यों में ऐसे संबंधों का कुलयोग कहा जा सकता है। सामाजिक विज्ञानों में स्तरण एवं पदसोपान का समावेश रहता ही है। समाज से सदस्य इस प्रकार लाभान्वित हो पाते हैं जैसा लाभान्वित वे अकेले कदाचित ही हो पाएं, जैसे स्व–सहायता समूह, निर्धनों की बचत योजना आदि। समाज में किसी प्रकार से समान मानसिकता के अर्थात किसी दृष्टिकोण में समानता वाले लोग मिलकर किन्हीं पूर्वनिर्धारित ध्येयों के लिए कार्य करने हेतु समूह के सभी सदस्यों द्वारा मान्य नियमों व प्रथाओं का पालन करते हैं। समाज कई ऐसी लघु संस्कृतियों अथवा उन समाजों से बना होता है जिनमें कुछ विचारधारागत समानता होने से सार्वभौमिक नियम बना लिये गये होते हैं।

टिप्पणी

व्यापक रूप से समाज को भांति–भांति के लोगों से बनायी गयी सामाजिक, आर्थिक व औद्योगिक अधोसंरचना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। एक समाज में अनेक भिन्न राष्ट्र, राज्य अथवा सांस्कृतिक समूह हो सकते हैं जिनकी जातियों, सम्प्रदायों में भी अनेकता हो।

3.2.2 सामाजिक व्यवस्था : अर्थ, तत्व एवं सिद्धांत

सामाजिक व्यवस्था का अभिप्राय एक ऐसी संरचना के रूप में लिया जाता है जिसमें कि एक से अधिक निर्णायक तत्व होते हैं। समाजशास्त्र के अध्ययन करने में व्यवस्था की अवधारणा का स्पष्टीकरण अनेक सिद्धांतों के माध्यम से किया जाता है। जब हम सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि व्यवस्था की प्रत्येक इकाई एवं तत्व को निर्णायक रूप से अपनी भूमिका का प्रकार्य संपन्न करना होता है। उदाहरण के लिए कुएं से पानी खींचने की रस्सी, बाल्टी, कुण्डी, पहिया, घिरनी तथा हाथों का सामंजस्य एक व्यवस्था का निर्माण करते है जिसका उद्देश्य ऐसे पानी निकालना है, यदि कोई एक तत्व गड़बड़ है तो पानी निकालने का हित असाध्य हो जाएगा। इसी प्रकार रेलगाड़ी का संचालन भी एक व्यवस्था है जिसमें बहुत से या कहे कि असंख्य स्वतंत्र या व्यक्तिगत व्यवस्था है जैसे– गार्ड, ड्राइवर, सिगनल, प्रणाली, पटरी, इंजन, डिब्बे, यात्री आरक्षण प्लेटफॉर्म आदि। ये सभी एक बड़ी व्यवस्था के अंग एवं तत्व हैं तथा प्रत्येक को अपने स्थान पर अपना योगदान एवं भूमिका के बारे में पता है तथा इसी निश्चित भूमिका के अनुसार ये सभी कार्य करते है तथा यात्री सुरक्षित अपने गंतव्य तक पहुंच पाते हैं।

उपरोक्त उदाहरण को मानवीय समाज पर भी समान रूप से लागू करके समझा जाता है। मनुष्य समाज में रहते हैं तथा अनेक प्रकार की प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अनेक व्यक्तियों या संसाधनों के माध्यम से पूर्ण करते हैं, जैसे– बच्चे का जन्म, विद्यालय में जाना, शिक्षा ग्रहण करना, शिक्षकों से सीखना, यातायात के साधनों का उपयोग करना, रोजगार करके आजीविका अर्जित करके स्वयं एवं परिवार के लिए सुख सुविधाएं जुटाना आदि। ये सभी कार्य गतिशील प्रकार के हैं अर्थात इनमें आपसी तालमेल के साथ–साथ निरंतरता भी रहती है। व्यवस्था एक गतिशील एवं क्रियाशील अवधारणा होती है जिसमें प्रकार्यात्मक तत्वों का एक क्रमबद्ध सम्मिश्रण एक संपूर्ण इकाई के रूप में कार्य करती है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं होता कि व्यवस्था के निर्णायक या भाग लेने वाले तत्व अपना स्वयं का अस्तित्व ही समाप्त कर दें। वह अपना अस्तित्व बनाकर रखते हुए व्यवस्था के सुचारु संचालन में सहयोग करते हैं। जिस प्रकार रेलगाड़ी संचालन एक व्यवस्था है तथा गार्ड या ड्राइवर, मनुष्य होते हुए अपना स्वयं का अस्तित्व या उद्देश्य नहीं खोते हैं।

व्यवस्थाओं को समझने के लिए इनकी परिभाषाओं पर भी एक दृष्टि डालनी आवश्यक है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, 'समाज को रीतिरिवाजों, कार्यप्रणालियों की, अधिकार एवं आपसी सहयोग की, समूह एवं भागों को मानव व्यवस्थाओं के नियंत्रणों एवं स्वाधीनता की एक व्यवस्था माना जाता है।'

प्रत्येक समाज में कुछ स्थापित रीति–रिवाज, समाज के प्रत्येक पक्ष के साथ संबंधित होते हैं। ये सभी पक्ष आपस में सुचारु ढंग से नियमानुसार क्रियाशील होते हैं

टिप्पणी

जिनके सुचारु संचालन से ही समाज के सभी सदस्यों का आपसी संबंध तथा जीवन प्रणाली का संचालन संभव हो पाता है। इसे ही मैकाइवर ने सामाजिक व्यवस्था का नाम दिया है। अतः हम कह सकते हैं कि हमारे समाज की सामाजिक व्यवस्था वह दशा होती है जिस दशा में समाज के अनेक निर्णायक तत्व एक सांस्कृतिक व्यवस्था के अंतर्गत, एक दूसरे के साथ प्रकार्यात्मक संबंध के आधार पर एक संतुलित दशा बनाकर रखते हैं जिस संतुलन के कारण मानव समाज अपने लक्ष्यों को सरलतापूर्वक एवं सहयोगात्मक ढंग से प्राप्त करते रहें। समाज के अंदर इसी कारण से अनेक संस्थाएं एवं समूह आपस में क्रियाशील रहकर अंतःक्रिया में करते रहते हैं। यही व्यवस्था है जिस कारण दुर्बल एवं असहाय मनुष्य भी समाज में जीवनयापन कर पाते हैं क्योंकि हमारी व्यवस्था सहयोगात्मक है एवं समाज, अपने सभी प्राणियों की रक्षा का एक व्यवस्थापन तंत्र विकसित करते हुए ऐसा कर पाता है। ऐसा कतई नहीं है कि समाज में मात्र वे ही तत्व एवं शक्तियां क्रियाशील हों जो कि सहयोगात्मक एवं मानवीय मूल्यों के स्रोत, सकारात्मक रवैया रखती हैं। हमारे समाज में मनुष्यों के स्वभाव एवं उनकी स्थिति एक समान नहीं होती जिस कारण उन्हें व्यवस्था से गंभीर प्रकार के प्रश्न खड़े करने पड़ते हैं तथा वे असहयोग की भावना का प्रकटीकरण करते हुए समाज की व्यवस्था में परिवर्तन की मांग करते आए हैं इसी कारण से सामाजिक व्यवस्था भी निरंतरता एवं गतिशील स्वभाव की होती है तथा मनुष्यों की आवश्यकताओं एवं स्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। परंतु हर प्रकार की व्यवस्था का मूल उद्देश्य, मानव जीवन को सुखमय बनाना ही होता है।

मानव जीवन के स्थायित्व एवं निरंतरता को सामाजिक संस्थाओं, समूहों एवं समुचित व्यवस्था के ही द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यही सामाजिक व्यवस्था के नीति–निर्धारक तत्व हैं तथा स्वयं में भिन्न होते हुए भी एक संपूर्ण इकाई के रूप में समाज का संतुलन बनाये रखने का कार्य व्यवस्था द्वारा होता है।

अमेरिकी मानवशास्त्री हेनरी मॉर्गन ने सामाजिक व्यवस्था के प्रकारों का वर्णन किया है। हालांकि इसका स्पष्टीकरण, मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स के अनेक लेखों में मिलता है। मॉर्गन ने भी फ्रेडरिक एगेल्स की ही भांति उद्विकास पर आधारित सामाजिक व्यवस्थाओं को तीन भागों में बांटकर स्पष्ट किया है–

1. जंगली सामाजिक व्यवस्था,
2. असभ्य सामाजिक व्यवस्था तथा
3. सभ्य सामाजिक व्यवस्था।

इन व्यवस्थाओं का सोपानीकृत विकास, मनुष्य के द्वारा उद्विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अंतर्गत होता रहा है एवं मनुष्य ने अपने संघर्ष एवं बुद्धि का समुचित उपयोग करते हुए अनेक प्रकार की प्रगति की जिसमें कच्चा–मांस, कच्चे–फल, पत्ते आदि खाने की व्यवस्था से आज के पिज्जा हट एवं डोमीनोज तक का लंबा सफर है जो अध्ययन का स्वयं में एक पृथक विषय क्षेत्र हो गया है। समग्रतया हम व्यवस्थाओं के वर्गीकरण एवं प्रकारों की बात करें तो हमें निम्नलिखित स्वरूप देखने को मिलते हैं–

अ. यांत्रिक व्यवस्था– यह कृत्रिम व्यवस्था होती है जिसमें जीवन एवं भावनाओं का सर्वथा अभाव होता है जेसे रेलगाड़ी, साइकल।

टिप्पणी

ब. प्राकृतिक व्यवस्था– इसका निर्माण प्रकृति ने स्वयं ही किया है तथा मनुष्य इसमें कुछ भी फेरबदल या परिवर्तन नहीं कर सकता है तथा इनका बनना या बिगड़ना पूर्णतः एक प्राकृतिक अवधारणा पर निर्भर होता है जैसे वर्षा, सर्दी, गर्मी के मौसमों का परिवर्तन, समुद्र, नदियां, पहाड़, ब्रह्माण्ड। प्राकृतिक व्यवस्था को भी दो उपभागों में बांटा जा सकता है–

(1) जीवज–व्यवस्था (Organic System) या जीवशास्त्रीय–व्यवस्था।

(2) अजीवज–व्यवस्था (Inorganic System) या सौर–व्यवस्था।

सौर–व्यवस्था में चांद, तारे, सूर्य, अन्य ग्रह एवं उपग्रह अपनी व्यवस्था में रहकर सौर–व्यवस्था को संचालित एवं प्रभावित करते हैं तथा इनपर मनुष्य की किसी युक्ति को लगाकर बदलाव नहीं किया जा सकता। इसी तरह से जीवों की रचना की प्रकृति प्राकृतिक है तथा मानव इनको कृत्रिम रूप से बनाकर इन्हें परिवर्तित नहीं कर सकता है।

स. मानव निर्मित व्यवस्था– मानव ने अपने समाज एवं जीवन में अनेक ऐसी व्यवस्थाएं बनाई हैं जिनको मानव अपनी सुविधा एवं आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर सकता है या नये सिरे से निर्माण भी कर सकता है। इस आधार पर हम तीन प्रकार की व्यवस्थाओं को देखते हैं–

1. व्यक्तित्व व्यवस्था (Personality System),
2. सांस्कृतिक व्यवस्था (Cultural System) तथा
3. सामाजिक व्यवस्था (Social System) ।

यहां पर सामाजिक व्यवस्था के बारे में और अधिक स्पष्ट करते हुए बताते चलें कि, इसका विकास मनुष्य ने अपनी सुविधाओं के लिए ही किया है तथा इसमें प्रकृति का तत्व निर्णायक नहीं है। मनुष्य ने समाज, अर्थ, काम एवं अन्य अनेक प्रकार की व्यवस्थाएं बनाई है जो समय के साथ–साथ बदलती रही हैं तथा समय–काल में हर नई पीढ़ी ने अपने पूर्वजों की बनाई व्यवस्था को या तो नष्ट किया है या फिर उसमें आमूलचूल परिवर्तन भी किये हैं। ये व्यवस्थाएं एवं इनका निर्माण मनुष्य निम्नलिखित तत्वों के आधार पर करता है–

- मानव मन,
- रीति रिवाज,
- कार्य प्रणाली,
- संस्कृति,
- भौगोलिक स्थिति,
- आर्थिक स्थिति,
- पारस्परिक सहयोग,
- अंतःक्रिया,
- समूहों एवं संगठनों के प्रकार,

- व्यक्तियों के स्वार्थ,
- नियंत्रण तथा
- अंतःसंबंध आदि।

टिप्पणी

इसी प्रकार के अन्य अनेक कारकों एवं तत्वों के आधार पर मनुष्य अपने समाज की व्यवस्था बनाता–बिगाड़ता रहता है तथा यही क्रम आदिकाल से गतिशील एवं निरंतर चल रहा है। परंतु इस तथ्य में यहां यह स्पष्ट होना अनिवार्य है कि वर्तमान मानव समाज का अधिकांश भाग, मानव निर्मित ही है तथा मानव ने प्राकृतिक व्यवस्था को पृष्ठभूमि में धकेल कर स्वयं एवं प्रकृति दोनों की ही घोर हानि की है।

सामाजिक व्यवस्था के मूल तत्व

सामाजिक व्यवस्था के मूल तत्वों के मध्य एक निश्चित एवं निर्धारित प्रतिमानात्मक संबद्धता होती है। ये तत्व आपस में अनेक प्रकार के संबंध बनाकर समाज को गतिशीलता प्रदान करने का कार्य करती है। सामाजिक व्यवस्था की मूल विशेषताओं और तत्वों को मुख्य चार प्रकार से समझा जा सकता है–

1. व्यवस्था एक ऐसी अवधारणा होती है जो अखंड नहीं होती वरन् इसमें अनेकानेक खण्ड एवं उनके भी उपखंड होते हैं। एक व्यवस्था का निर्माण अनेक छोटी–बड़ी इकाइयों के सहयोग से होता है जैसे समाज का निर्माण मनुष्य ने किया जिसमें मनुष्य परिवार, गांव, नगर आदि होते हैं। ये सब उपखण्ड एवं खण्ड हैं तथा समाज का निर्माण करते है। यह परिवर्तन कार्य निरंतर चलता रहता है।
2. ऐसा भी नहीं है कि मात्र इकाइयां मिलकर समाज की वयवस्था का निर्माण कर लें। इन इकाइयों में निरंतरता अनिवार्य होती है। जिस कारण समाज की संरचना में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं।
3. सभी इकाइयां एक निश्चित प्रतिमान के रूप में व्यवस्था का निर्माण करती हैं तथा ऐसा नहीं है कि कुछ इकाइयां मिलकर कुछ भी व्यवस्था का निर्माण कर लें वरन् एक निश्चित पद, स्थिति, पदनाम एवं मानकों का पालन करना अनिवार्य होता है। उदाहरण के लिए यातायात सुनिश्चित करने के लिए रेलगाड़ी को सिग्नल मिलना चाहिए तत्पश्चात, इंजन ड्राइवर इंजन को पटरी पर एक निश्चित दिशा एवं गति से आगे बढ़ता है। ऐसा नहीं होता कि बिना सिग्नल ही गाड़ी चलने लग जाए और अनिशिचित दिशा एवं गति से चलने लग जाए, यदि ऐसा होगा तो यात्रियों एवं रेलगाड़ी सभी का अहित निश्चित रूप से होगा। अतः सामाजिक व्यवस्था के सभी निर्णायक तत्वों को एक निश्चित स्थिति एवं पदानुसार व्यवहार करना होता है यदि ऐसा नहीं होता तो व्यवस्था भंग हो जाती है।
4. व्यवस्था के अंतर्गत आने वाली इकाइयों के मध्य एक प्रतिमानात्मक क्रमबद्धता जड़ रूप नहीं होती। इन इकाइयों के मध्य एक प्रतिमानात्मक क्रमबद्धता एक पारस्परिक प्रकार्यात्मक संबंध होता है। प्रत्येक इकाई संपूर्ण इकाई में इस प्रकार गुंथी रहती है कि कोई एक कड़ी हटा देने से पूरी व्यवस्था चौपट हो जाएगी। यदि समाज से मनुष्य या परिवार या समूह को हटा दें तो व्यवस्था

में अराजकता एवं अफरातफरी मच जाएगी। नातेदारी के हटने से तो भयंकर विपदा आ जाएगी।

टिप्पणी

सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक तत्व

इस अध्याय के प्रारंभ में आपने सामाजिक व्यवस्था के मूल तत्वों का अध्ययन किया है अब उन दशाओं का उल्लेख करते हैं जो कि सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं हैं। सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए समाज के अंतरीकरण का अध्ययन भी अनिवार्य होता है। सी.पी. लूमिस के अनुसार, 'सामाजिक व्यवस्था, समाज की एक आंतरिक स्थिति होती है।' लूमिस का यह भी विश्वास है कि समाज के आंतरीकरण के अंतर्गत, सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान सामाजिक प्रक्रियाओं का होता है। सामाजिक प्रक्रियाओं की गतिशीलता के ही कारण समाज की वास्तविक स्थिति का पता चलता है तथा यह भी ज्ञान होता है कि समाज में सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति, विकास, स्थायित्व एवं परिवर्तन किस प्रकार से घटित हो रहे होते हैं। मनुष्यों की सामाजिक रूप से की गई अंतःक्रियाओं के फलस्वरूप समाज में व्यक्तियों के मध्य संपर्क एवं संबंध स्थापित होते रहते हैं। यही संबंध मानव समाज के आंतरिक सामाजिक तत्वों को प्रदर्शित करने का प्रकार्य भी करते हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं के घटित होने से सामाजिक तत्वों की गतिशीलता का अनुमान लगाया जाता है।

सी.पी. लूमिस ने सामाजिक व्यवस्था के नौ तत्व बतलाए हैं–

1. विश्वास एवं ज्ञान
2. भावनाएं
3. आवश्यकताएं एवं ध्येय
4. आदर्श
5. पद
6. कार्य
7. शक्ति
8. मान्यताएं
9. सुविधाएं

1. **विश्वास एवं ज्ञान**– विश्वास एवं ज्ञान को सामाजिक व्यवस्था का तत्व इस कारण से माना जाता है कि इसी आधार पर, मनुष्य के व्यवहार में एकता, समरूपता एवं निश्चितता की स्थिति उत्पन्न होती है। सामाजिक वयवस्था को सही रूप में बना कर रखने में विश्वास का महत्वपूर्ण स्थान होता है। विश्वास पांच प्रकार के बताए गए हैं–
   (क) सामाजिक व्यवस्था का पालन करना अच्छी बात है।
   (ख) यह विश्वास की जन्म–मृत्यु से छुटकारा पाना व्यक्तिगत कारणों की परिणाम है।
   (ग) यह विश्वास की जैसा कर्म करेंगे वैसा ही परिणाम होगा।
   (घ) इहलौकिक शक्ति में विश्वास।
   (ङ) हमारे पूर्वज, हमारे कृत्यों को देख रहे हैं।

उपरोक्त सभी विश्वास आदिम काल से चले आ रहे हैं तथा आधुनिक समाज भी इन्हीं पर विश्वास करता है।

टिप्पणी

2. **भावनाएं**– भावनाएं वह मनोदशाएं होती हैं जब मानव मन, किन्हीं जटिल क्रियाओं के रूप में संगठित होने लगता है। भावनाओं का संबंध विचारों से होता है। भावनाएं किसी मनुष्य को किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा विचार संबंधी संवेगों का ही संगठित रूप होती हैं।

   मानव समाज की व्यवस्था में मानक भावनाएं, इस व्यवस्था को संगठित रूप में रखने के लिए आत्मा के रूप में कार्य करती हैं।

3. **आवश्यकताएं एवं ध्येय**– मानव समाज में अनेक मानव आवश्यकताओं का होना भी अनिवार्य एवं प्राकृतिक प्रदत्त गुण–धर्म होता है।

   मेलिनोवस्की ने दो प्रकार की आवश्यकताएं स्पष्ट की हैं–

   (क) मूल आवश्यकताएं और

   (ख) व्युत्पन्न आवश्यकताएं।

   मानव की मूल आवश्यकताओं को सात प्रकार से बताया गया है–

   - शरीर पोषक आवश्यकताएं,
   - उत्पादक पोषक आवश्यकताएं,
   - शारीरिक आराम आवश्यकताएं,
   - सुख आवश्यकताएं,
   - गति आवश्यकताएं,
   - वृद्धि आवश्यकताएं तथा
   - स्वास्थ्य आवश्यकताएं।

   व्युत्पन्न आवश्यकताएं (आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, राजनैतिक) इन्हीं मूल आवश्यकताओं से ही उत्पन्न होती हैं।

4. **आदर्श नियम**– यदि सभी व्यक्तियों को मनमाने ढंग से कार्य करने की छूट दे दी जाए तो हम अंदाजा भी नहीं लगा सकते कि सामाजिक संरचना का कितना बुरा हश्र होगा। अगर आपने कभी अनारक्षित रेलवे बोगी में सफर किया हो और भीड़ बहुत अधिक हो तथा रेलवे पुलिस भी ना हो तो देखिए व्यवस्था का क्या हाल होता है। इसी प्रकार से सामाजिक व्यवस्था बनाकर रखने के लिए निश्चित आदर्श एवं नियम बनाये जाने अनिवार्य हैं। प्रमुख आदर्श एवं नियम निम्नांकित हैं–

   - धार्मिक
   - लोकरीतियां
   - रूढ़ियां
   - संविधान
   - कानून
   - प्रथा, नैतिकता

टिप्पणी

- सामाजिक नियमावलियां
- मूल्य

यहां पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपरोक्त आदर्श नियम, अनंतकाल से अस्तित्व में नहीं हैं वरन् सभी मानव द्वारा ही निर्मित किये गये हैं।

हॉब्स के कथनानुसार, 'जब मानव प्रकृति के स्तर पर था तो इस प्रकार के आदर्श नियमों का पूर्णतया अभाव ही था।' उस समय ना कोई नियम था ना कोई कानून, अतः वह समय संभवतः मनमाने ढंग का था।

5. **पद एवं कार्य**– प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के पद एवं कार्य निश्चित होते हैं। ये पद एवं कार्य जन्मजात होते हैं तथा कुछ अर्जित प्रकार के। समाज के कुछ सदस्य प्रदत्त पदों का लाभ प्राप्त करते हैं जैसे पुत्र, पुत्री, माता या पिता आदि। जो पद अर्जित किये जाते हैं उनमें व्यक्ति अपने प्रयासों से प्राप्त करते हैं जैसे, शिक्षा, पदवी।
6. **शक्ति**– सामाजिक व्यवस्था में शक्ति संतुलन एक गंभीर समस्या होती है तथा इसके अभाव में समूहों एवं व्यक्तियों में अनेक प्रकार के संघर्ष भी होते हैं। सामाजिक व्यवस्था में यह ध्यान रखा जाता है कि समाज के व्यक्तियों के मध्य एक शक्ति संतुलन की स्थिति रहे।
7. **मान्यताएं**– सामाजिक व्यवस्था को, मान्यताओं के अनुसार संयोजित किया जाता है। मान्यताएं मूलतः मानवीय मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप ही निर्धारित की जाती हैं।
8. **सुविधाएं**– समाज के व्यक्तियों के समुचित विकास एवं संवर्धन के लिए मनुष्यों को अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं ताकि मनुष्य सामाजिक दायरे में रहते हुए अपने कार्य सरलतापूर्वक संपादित कर सके। रेलवे, रोडवेज, दूरसंचार, पुलिस, अस्पताल, शैक्षिक संस्थाएं, न्यायालय आदि सुविधाएं सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग होते हैं।

सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांत

हमारा संपूर्ण मानव समाज अनेक जटिल व्यवस्थाओं पर आधारित है। इन जटिलताओं को किसी एक सिद्धांत के दृष्टिकोण से समझ पाना भी अत्यंत कठिन कार्य है। अतः अनेक समाजशास्त्रियों मानवशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों तथा अन्य अनेक विद्वानों ने सामाजिक व्यवस्थाओं के जाल को सुलझाने हेतु अनेक प्रकार के सिद्धांतों को स्थापित किया जिससे मानव की सामाजिक व्यवस्था तथा इसके तत्वों को समझा जा सके। इस व्यवस्था को इन सिद्धांतों की सहायता से समझने के पश्चात ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंच पाएंगे कि हम यह स्पष्ट कर सकें–

- व्यवस्था एवं इसके प्रकार,
- व्यवस्था एवं समाज,
- व्यवस्था की विशेषताएं,
- समाज पर व्यवस्था के प्रभाव,

टिप्पणी

- समाज की व्यवस्था के लिए आवश्यक तत्व,
- समाज का सुचारु एवं व्यवस्थित संचालन,
- समाज के विभिन्न व्यक्तियों एवं समूह के प्रकार्यात्मक प्रकार्य,
- परिवर्तन के कारण होने वाली सामाजिक संरचनाएं,
- आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं का मानव समाज से संबंध,
- समाजीकरण,
- श्रम–विभाजन तथा
- पदों एवं स्थितियों का निर्धारण आदि।

प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा दिये गये सामाजिक व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण या सिद्धांतों का वर्णन निम्न प्रकार से है–

दुर्खीम का सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत

इमाइल दुर्खीम ने अपनी पुस्तक 'श्रम के सामाजिक विभाजन' (Social division of labour) के प्रथम भाग में 'श्रम–विभाजन' के आधार पर हमारे समाज की सामाजिक व्यवस्था का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। श्रम–विभाजन को स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने कहा कि–

'सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन होता है।' यह परिवर्तन, यांत्रिक सामाजिक परिवर्तन से उत्तरोत्तर, सावयवी सामाजिक व्यवस्था की तरफ होता है।

अतः सामाजिक व्यवस्था के दो प्रकारों को दुर्खीम ने बताया है।

1. यांत्रिक सामाजिक व्यवस्था और
2. सावयवी सामाजिक व्यवस्था।

दुर्खीम ने "आदिम समाज की व्यवस्था" को यांत्रिक श्रेणी में रखते हुए कहा कि समय के अंतराल में यह आधुनिक समय की "सावयवी सामाजिक व्यवस्था" में परिवर्तित हो गई है।

दुर्खीम ने आदिम कालीन व्यवस्था को निम्न कारणों से यांत्रिक सामाजिक व्यवस्था बताया–

- मनुष्यों की आवश्यकताएं सीमित थीं एवं कम संघर्ष से प्राप्त हो जाती थीं।
- समूह बहुत छोटे आकार के थे।
- अनेक समूहों के जीवन–ढंग, आचार–विचार एवं धारणाएं समान थीं।
- मत–भिन्नता न्यूनतम थी।
- लगभग सभी समूहों पर जनमत, धर्म एवं परंपराओं का आवश्यक दबाव रहता था।

उपरोक्त विशेषताओं के कारण अधिकारी व्यक्ति आंख मूंदकर यंत्रवत अपने–अपने कार्य करते रहते थे एवं इनमें आपस में संघर्ष जैसी कोई स्थिति नहीं पाई गई। व्यक्ति समूहों में इतना घुला–मिला रहता था कि उसे अपने स्वयं के अस्तित्व का पृथकीकरण का आभास नहीं रहता था क्योंकि सामूहिकता एवं पारस्परिक सहयोग

टिप्पणी

भावना उच्च स्तर की थी। कार्ल मार्क्स ने इसी समाज को 'समाजवादी समाज' का नाम दिया है। कार्ल मार्क्स ने कहा है कि आदिम समाज समाजवादी समाज था। समय के साथ–साथ जनसंख्या वृद्धि हुई और आवश्यकताएं भी बढ़ीं जिसके फलस्वरूप मनुष्य में श्रम–विभाजन की अवधारणा का उदय हुआ। श्रम–विभाजन में कार्यों का विशेषीकरण हो गया जो कालांतर में नये–नये वर्गों के उदय का प्रमुख कारण बन गया। यही वर्ग–विभाजन, समाज की व्यवस्था को चुनौती देने लग गया। समाज के तत्कालीन बुद्धिजीवियों एवं शासकों ने समाज की व्यवस्था को बनाकर रखने के लिए समयानुकूल बदलाव किये जिससे व्यवस्था परिवर्तित होती चली गई।

दुर्खीम ने "सावयवी सामाजिक व्यवस्था" की तुलना मानव शरीर के साथ करते हुए बताया कि जिस प्रकार मानव शरीर के अंग अलग–अलग कार्य करते हुए भी प्रमुख शरीर का अभिन्न अंग हैं एवं प्रत्येक अंग का कार्य शरीर को स्वस्थ रखना एवं कार्य करना है इसी तरह से समाज में व्यक्ति एवं उनके समूह भी हैं।

कॉम्टे का सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत

अगस्त कॉम्टे को आधुनिक समाजशास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जाता है। इन्होंने सामाजिक व्यवस्था को एक ऐसी स्थिति कहा है जिसमें विभिन्न अंग तथा समग्र में सदा एक स्वतः प्रवृत्त प्रकार का सामंजस्य बना रहता है। सामाजिक व्यवस्था के सभी अंग अनिवार्यतः एक इकाई के रूप में 'प्रतिरूप' बनकर कार्य करते हैं। इन स्थितियों में मनुष्यों की बौद्धिक, नैतिक एवं भौतिक क्रियाओं को भी उचित रूप से सामंजस्य स्थापित करके कार्य करना होता है।

कॉम्टे ने सामाजिक सावयव की अवधारणा को प्रस्तुत किया एवं स्पष्ट भी किया कि वैयक्तिक एवं सामाजिक सावयव दो भिन्न श्रेणियां होती हैं। हालांकि दोनों ही स्थितियों में इन दोनों तत्वों में समानता अवश्य ही पाई जाती है। जब दोनों में ही श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण पाया जाता है। इन दोनों तत्वों में पाया जाने वाला मतैक्य (Consensus) ही पारस्परिक सहयोग एवं सामंजस्य का मूल आधार माना गया है। कॉम्टे ने इसी मतैक्य पर आधारित सामंजस्य करने की स्थिति को सामाजिक व्यवस्था का कारण भी बताया है। इस संदर्भ में कॉम्टे ने सामाजिक सावयव के मतैक्य (Consensus of Social Organism Theory) की अवधारणा के सिद्धांत को विकसित किया है। काम्टे ने कहा कि 'सामाजिक व्यवस्थाओं में असंतुलन का कारण बौद्धिक अराजकता है क्योंकि अधिकांश लोगों का बौद्धिक स्तर इतने निम्न स्तर का है कि सामाजिक व्यवस्था को बनाकर रखने हेतु पर्याप्त मतैक्य नहीं बन पाता है।

परेटो का सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत

परेटो ने, कॉम्टे के मतैक्य सिद्धांत को अपर्याप्त बताते हुए कहा कि समाज में सदैव दो प्रकार की शक्तियां सदैव ही क्रियाशील रहती हैं। ये दोनों शक्तियां परस्पर विपरीत दिशा में कार्य करती हैं। इनमें से एक शक्ति वह होती है जो कि सामाजिक व्यवस्था को बनाकर रखने का कार्य करती है तथा समान के विभिन्न अंगों को आपस में जोड़ने का कार्य करती है, जबकि इसके विपरीत वे शक्तियां होती हैं जो समाज को तोड़ने एवं विघटित करने का क्रियाएं सदैव करती रहती हैं। परेटो ने स्पष्ट किया

कि ऐसा कोई भी समाज या व्यवस्था नहीं देखी गई जिसमें परस्पर विरोधी शक्तियां पाई ना गई हों। इसके उपरांत भी शक्ति–संतुलन के कारण सामाजिक व्यवस्था कार्य करती रहती है।

टिप्पणी

सामाजिक व्यवस्था का विभेदीकरण

समाज की सामाजिक व्यवस्था का विभेदीकरण आंतरिक तत्वों के आधार पर करने का श्रेय टाल्कर पारसन्स को जाता है। इन्होंने अपनी कृति 'सामाजिक व्यवस्था' (The Social System, 1952) में समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।

पारसन्स के अनुसार, 'सामाजिक व्यवस्था का निर्माण, पारस्परिक रूप से अंतःक्रियाएं करते हुए अनेक व्यक्तियों के द्वारा होता है।'

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था के तत्व इस प्रकार बताये हैं–

- अनेक वैयक्तिककर्ता,
- कर्ताओं के मध्य पारस्परिक अंतःक्रियाएं,
- कर्ताओं का लक्ष्य,
- लक्ष्य प्राप्ति हेतु सामाजिक परिस्थिति और
- पारस्परिक संबंधों का सांस्कृतिक व्यवस्था से संबंध।

उपरोक्त पांच तत्वों को मिलाकर पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था से तीन प्रमुख व्यवस्थाएं उत्पन्न होती हैं–

1. वैयक्तिक व्यवस्था
2. अंतः क्रियात्मक व्यवस्था और
3. सांस्कृतिक प्रतिमान की व्यवस्था।

प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था 1. एवं 2. के संयोग एवं सहयोग के द्वारा ही कार्य कर सकती है। अतः सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए अनिवार्य शर्त है कि वैयक्तिक जीवन का वजूद भी बरकरार रहे। वैयक्तिक जीवन के सुचारु संचालन के लिए मनुष्य को निम्नलिखित मूल आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य है–

- भोजन
- वस्त्र
- आवास
- शारीरिक आवश्यकताएं

सामाजिक व्यवस्था के आंतरिक विभेदीकरण को निम्नलिखित तीन प्रकार से स्पष्ट किया है–

1. संबधात्मक संस्थाएं,
2. नियामक संस्थाएं और
3. सांस्कृतिक संस्थाएं।

टिप्पणी

संबधात्मक एवं नियामक संस्थाओं को सामाजिक संबंधों का संगठन एवं नियंत्रण करने वाली संस्थाओं के रूप में रखकर चार प्रमुख भागों में गया बांटा है–

1. नातेदारी व्यवस्था,
2. सामाजिक स्तरीकरण,
3. शक्ति व्यवस्था तथा
4. धर्म एवं मूल्य संगठन।

उपरोक्त चारों संरचनात्मक तत्व हैं जो किसी समाज की सामाजिक व्यवस्था के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

3.2.3 समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था : कानून, शिक्षा एवं बल प्रयोग

समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था का उद्देश्य समाज को अनियंत्रित–असंतुलित होने से रोकना होता है। इस तरह राज्य समाज को और बेहतर बनाने का कार्य करता है। सामाजिक नियन्त्रण विविध अभिकरणों की शृंखलाओं द्वारा किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के स्पष्ट माध्यम निम्नानुसार हैं–

(अ) कानून (विधि)

विधि के द्वारा एक प्राथमिक कार्यविधि का निर्माण किया जाता है जिसके माध्यम से सामाजिक नियन्त्रण को मूर्त रूप प्रदान किया जाता है। समाज में सदस्यों में समानता होती है व अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण प्रभावी रहता है। वैसे समाज के आकार व जटिलता में वृद्धि होने के सापेक्ष संविधान का निर्माण आवश्यक हो जाता है एवं परिनियमों, नियमों व विनियमों का पालन न किये जाने की स्थिति में दण्ड व्यवस्था भी अनिवार्य होती है। श्रम के बढ़े विभेदन व विभाजन के कारण विषमजात संबंधों में बंधे विभिन्न व्यक्तियों के मध्य अंतर्निर्भरता रही है।

अत्यधिक विभेदन वाले समाज में सामाजिक नियन्त्रण के पुराने अनौपचारिक साधन (जननीति, लोकाचार इत्यादि) सामाजिक नियन्त्रण रख पाने में अक्षम सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए सब पर समान रूप से लागू किये जा सकने वाले विधानों को एक संविधान के रूप में तैयार करते हुए उनका पालन बलपूर्वक कराया जाता है जो उस राज्य के अधिकार–क्षेत्र के अधीन होता है।

टिप्पणी

सन् 1976 में प्रकाशित The Behaviour of Law में ब्लैक ने विधि को 'शासकीय सामाजिक नियन्त्रण' के रूप में परिभाषित किया जो ऐसे परिनियम व प्रक्रियाएं हैं जिनके माध्यम से संगठित व व्यक्तिगत दोनों स्वार्थों के मध्य सामाजिक संघर्षों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है। विधि ऐसे नियमों का संग्रह है जिनका निर्माण भारत में विधायिका द्वारा एवं क्रियान्वयन कार्यपालिका द्वारा किया जाता है तथा विधि–उल्लंघन के प्रकरणों की सुनवायी न्यायपालिका द्वारा की जाती है।

विधि रूप प्रदान किये जा चुके नियमों का पालन कराने के लिए पुलिस, न्यायालय अथवा सशस्त्र बलों का भी प्रयोग किया जा सकता है। विधि नियन्त्रण का ऐसा साधन है जो प्रायः व्यक्तियों की मानवघाती गतिविधियों को भंग एवं दमन करता है। यह व्यक्तियों को दूसरों के अधिकार ध्यान में रखने के लिए प्रेरित भी करती है एवं समन्वय की ओर अग्रसर करती है। आधुनिक समाज में विधि सामाजिक नियन्त्रण का एक विस्तृत एवं अपरिहार्य भाग हो गयी है।

(ब) शिक्षा

सामाजिक नियन्त्रण के महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में विधि(कानून) के अतिरिक्त शिक्षा भी महत्वपूर्ण है। दुर्खीम नामक फ्रान्सीसी समाज अध्येता, सामाजिक मनोवज्ञानी एवं दार्शनिक ने बच्चों के समाजीकरण के रूप में शिक्षा को महत्तापूर्ण माना। इन्होंने यह भी कहा– "यह देखने, अनुभूति करने व क्रिया करने की रीतियां बच्चे में समाने का वास्तव में एक सतत् प्रयास है।" शिक्षा का तात्पर्य जीवन की रीति को हस्तान्तरित कर देने तक सीमित नहीं है। आधुनिक काल में शैक्षणिक समुदाय का अधिकांश भाग अनुभवजन्य ज्ञान को भावी पीढ़ी तक प्रसारित करने की ओर वचनबद्ध है।

शिक्षा के माध्यम से नवीन पीढ़ी सामाजिक नियमों व इनका पालन न किये जाने की स्थिति में आरोपित किये जाने वाले दण्ड के विषय में सीखती है। शिक्षा से सामाजिक नियन्त्रण को स्व–नियन्त्रण में परिणत किया जा सकता है। सुसंगठित शिक्षा–प्रणाली के अभाव में सामाजिक नियन्त्रण एक निरंकुश दबाव मात्र बनकर रह जायेगा जो कदाचित् ही अधिक अवधि तक बना रहे।

(स) बल प्रयोग

बल प्रयोग से बाध्यता की स्थिति निर्मित की जाती है। बाध्यता का अभिप्राय किसी विशिष्ट लक्ष्य को पाने के लिए विवश कर दिये जाने अथवा बल–प्रयोग करने से है। जब जनता को कुछ करने से रोकने का विचार किया जाता है तो बल का प्रयोग करते हुए उसे अपने नियन्त्रण में लिया जाता है अथवा भावी संकट का भय दिखाया जाता है, यथा लाठीचार्ज, आंसू गैस के गोले छोड़ना, भीड़ को खदेड़ना। यह उपाय अन्य उपायों के निष्प्रभावी हो जाने पर अंत में अपनाया जाता है। राज्य एकमात्र संघ

है जिसे सामाजिक नियन्त्रण में बाध्यता का प्रयोग करने का अधिकार है। अन्य कोई भी संघ बल–प्रयोग नहीं कर सकता।

टिप्पणी

अ–सामाजिक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए राज्य इसका प्रयोग कर सकता है जो भौतिक अथवा अन्य रूप में हो सकती है। भौतिक बल–प्रयोग में दैहिक हानि भी सम्मिलित की जा सकती है, कारावास–दण्ड दिया अथवा प्राणहरण भी किया जा सकता है। भौतिक बाध्यता सामाजिक नियन्त्रण का अत्यन्त नृशंस रूप है जिससे बचने का यथासम्भव प्रयास हर समाज को करना चाहिए। वहीं दूसरी ओर अहिंसक बाध्यता में हड़ताल, चर्चा–पलायन अथवा असहयोग किया जा सकता है।

मानव–अनुभवों से स्पष्ट हुआ कि राजनैतिक प्रविधियों की आश्वस्ति के लिए बाध्यता आवश्यक है। इसका प्रभाव तब अधिक होता है जब इसे कम से कम प्रयोग में लाया जाये। जब सर्वमंगल के लिए किसी सर्वसाधारण नियम को लाभदायी अथवा आवश्यक माना जाता है तो किस न किसी स्तर पर विवशता आवश्यक है। इसी कारण सर्वसाधारण नियम के पालन में बल आवश्यक हो जाता है। बल का प्रयोग सीमित रूप से किये जाने पर ही इससे लोगों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों का प्रयोग परिवार, संगी–साथी समूह, आस–पड़ोस इत्यादि जैसे अनौपचारिक संस्थानों द्वारा किया जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण के लिए कानून और पुलिस सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हैं

लोकरीतियां, लोकाचार एवं रिवाज

सामाजिक व्यवस्था में लोकरीतियों, लोकाचारों एवं रिवाजों की अपनी अहम भूमिका होती है।

लोकरीतियां

टिप्पणी

लोकरीतियां सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं जिनमें व्यक्तियों द्वारा पालन किये जाने के लिए कुछ प्रथागत नियम निहित होते हैं। ये वास्तव में सोचने, अनुभूति करने व मानव–सूमहों में क्रिया करने की शैलियां होती हैं जिन्हें आचार के विनिर्दिष्ट रूप कहा जाता है। विलियम ग्राहम समर (1906) ने अपनी पुस्तक Folkways: A Study of Mores, Manners, Customs and Morals में लोकरीति को 'समाजी बल' के रूप में परिभाषित किया। इनको आदत बना लिया जाता है। लोकरीतियों से जीवन को तुष्ट करने का प्रयास किया जाता है। एक समूह में ये समरूपी, वैश्विक व अनवरत् हो सकती हैं। समय बीतने के सापेक्ष लोकरीतियां छितर गयीं, ये रचनात्मक व अनिवार्य हो गयीं। लोकरीतियां बनाने की प्रक्रिया में ऐसे कार्यकलाप सम्मिलित किये जाते हैं जिन्हें संबंधित आवश्यकता होने पर हर बार दोहराया जाता हो।

समूह में व्यक्तियों में रिवाजों को एक आदत बना दी जाती हैं। आश्चर्य यह कि कई प्रकरणों में बड़े होने के बाद भी बच्चों को पता नहीं चल पाता कि वे स्वयं व अन्य जन इन रिवाजों को मान क्यों रहे हैं। प्रवृत्ति व रिवाज को अपनाते हुए तत्संबंधी हर व्यक्ति एक दबाव का अनुभव करता है। इस प्रकार यह समाज में बल के रूप में व्याप्त होता है। लोकरीतियां मानव–समाज की रचनाएं नहीं मानी जातीं, इन्हें प्राकृतिक बलों से व्युत्पन्न माना जाता है जिन्हें निर्विचार रहते हुए कार्यकलाप के दौरान अपना लिया जाता है एवं परम्परा द्वारा प्रसारित कर दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समूची मानवता का जीवन समस्त आयुवर्गों में एवं संस्कृति की सभी अवस्थाओं में प्रमुखतः विभिन्न लोकरीतियों के किसी संग्रह द्वारा शासित होता है। ये लोकरीतियां पुरातन नस्लों से पालन की जा रही हैं एवं मानव–दर्शन, नीति–नियम व सम्प्रदाय द्वारा रूपान्तरित भी की जाती रही हैं।

लोकाचार

लोकाचारों को समाज द्वारा स्थापित पद्धतियों के रूप में अपनाया जाता है, न कि लिखित विधियों के रूप में नहीं। ये मूलतः सामाजिक विनियमों के रूप में होते हैं एवं सामाजिक आचार पर अत्यन्त प्रभावी होते हैं। सम्नेर ने लोकरीतियों के लिए लोकाचार की अवधारणा प्रयोग की जो समूहों में अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं उनके कल्याण के लिए भी अत्यन्त महत्तापूर्ण हुआ करती थीं।

टिप्पणी

सम्नेर के अनुसार लोकाचार में प्रचलित प्रयोगों व परम्पराओं का समावेश रहता है जो तब अपनायी जाती हैं जब सामाजिक आचार–व्यवहार का प्रश्न आता है, जब इनका पालन कराने के लिए व्यक्तियों पर इसके द्वारा बल लगाया जाता है। इनका पालन किसी संस्था द्वारा नहीं कराया जाता है।

सम्नेर का मानना था कि लोकाचारों में समूह का जीवन–स्वरूप छलकता है। लोकाचारों को मानने वाले लोग इन्हें सदा सही ही मानते हैं। लोकाचारों से व्यक्तियों को यह बोध होते रहता है कि समुदाय अथवा समूह में रहना तभी सम्भव है जब हर व्यक्ति उस समुदाय अथवा समूह के नियमों का अनुपालन करेगा।

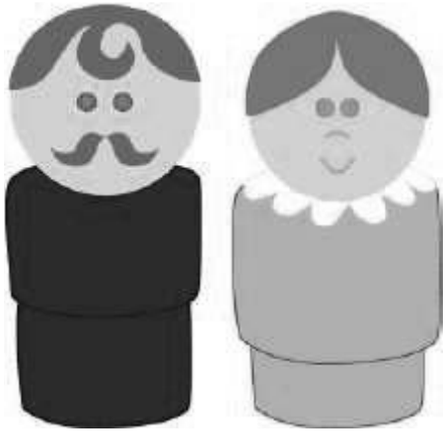

रिवाज

रिवाज भी सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं। किंग्स्लेडेविस के अनुसार, "रिवाजों का अभिप्राय प्राथमिकतया ऐसी पद्धतियों से है जो पीढ़ियों से दोहरायी जाती रही हैं। ये पद्धतियां इसीलिए तो निभायी जाती हैं क्योंकि अतीत में भी इनका पालन किया जाता था। क्रिया करने की सामाजिकरूपेण प्रत्यायित (मान्य) इन रीतियों को समाज के रिवाज कहा जाता है।" हमारी दिनचर्या की कई गतिविधियां रिवाजों द्वारा विनियमित की जाती हैं। रिवाज विस्तृत अर्थ लिये शब्द है जिसमें लोकरीतियां व आचार–विचार दोनों सम्मिलित हैं। रिवाज ऐसी सामाजिक प्रवृत्तियां हैं जो पुनरावर्तन के माध्यम से सामाजिक व्यवहार के क्रम की आधारशिला बन जाती हैं।

टिप्पणी

रिवाज दीर्घावधि से स्थापित प्रवृत्तियां हैं जिन्हें लोगों द्वारा बहुत समय से अपनाया जाता रहा है। व्यापक रूप से फैली आदत अथवा ऐसी किसी प्रवृत्ति को रिवाज माना जा सकता है। लुंडबॅर्ग नामक एक अमेरिकन समाज अध्येता के मत में ये लोकरीतियां होती हैं जो समय की अपेक्षाकृत सुदीर्घ अवधियों तक जारी रखी जाती हैं। इस प्रकार इन्हें औपचारिक अभिमान्यता मिली होती है, इससे ये पीढ़ियों तक निभायी जाती हैं। रिवाज का एक अभिलक्षण यह है कि यह व्यक्तियों के लिए बाह्य स्वीकृति एवं सामाजिक संबंध के रूप में ही पाया जाता है। रिवाजों से सामाजिक जीवन का विनियमन किया जाता है अपितु यह सामाजिक जीवन को बांधे भी रखते हैं।

रिवाजों से मानव–व्यवहार का पथ–प्रदर्शन होता है एवं सामाजिक जीवन में मानव को ज्ञान प्राप्त होता है।

रिवाजों का अनुपालन अधिकांशतया बिन विचारे किया जाता है। मनुष्य इनके विषय में अपने समाजीकरण के आरम्भिक वर्षों में सीख लेता है एवं लगन से इनका पालन करता है। रिवाजों का विरोध कम ही किया जाता है व अधिकांशतया नेत्र मूंदे बस अनुसरण किया जाता है। रिवाजों से संयुक्त मानवीय जीवन का आधार तैयार होता है एवं रिवाज लगभग हर समाज में पाये जाते हैं। आधुनिक समाजों की तुलना में पुरातन समाज में रिवाज अधिक प्रभावी व प्रधान स्थान लिये हुए थे। अस्तित्व के संघर्ष में वे ही समाज टिक पाये जो ऐसे रिवाजों का अनुपालन कर रहे थे जो समाजों को परस्पर जोड़े रखते थे, इनकी क्रियाएं स्वीकार्य मापदण्डों में थीं, पूर्ण अहंवादी आवेगों के नियन्त्रण को विवश करते थे एवं असंयमी जनों का पूर्ण बहिष्कार किया करते थे।

रिवाज का पालन स्वमेव किया जाता है क्योंकि ये धीमी गति से विकसित होते हैं। लोग अपने पूर्वजों की देखा–देखी अपने आप ही इन व्यवहार–प्रारूपों का अनुकरण करने लगते हैं। इस प्रकार रिवाज हमारे सामाजिक व्यवहार के विनियमन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। ये हमारी संस्कृति को निर्धारित करते हैं, इसे बचाते हैं एवं एक से भावी पीढ़ी में इसे हस्तान्तरित करते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. इनमें से क्या सी.पी. लूमिस द्वारा बताए गए सामाजिक व्यवस्था के 09 तत्वों में शामिल नहीं है?

   (क) भावनाएं (ख) आवश्यकताएं

   (ग) पर्यटन (घ) विश्वास

2. पारसंस की सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न व्यवस्थाएं हैं–

   (क) वैयक्तिक (ख) अंतःक्रियात्मक

   (ग) सांस्कृतिक प्रतिमान संबंधी (घ) उपर्युक्त सभी

3.3 सामाजिक–आर्थिक मूल्य और संस्थाएं

परिवर्तन एक अनिवार्य प्रक्रिया है। समयानुसार सामाजिक–आर्थिक मूल्य भी परिवर्तित होते हैं और इसलिए तदनुरूप सामाजिक संस्थानों में भी बदलाव आता रहता है।

टिप्पणी

3.3.1 प्राचीन भारत में सामाजिक–आर्थिक मूल्य एवं संस्थाएं

(अ) सामाजिक मूल्य : प्राचीन भारत के सामाजिक मूल्यों को उस समय की निम्नांकित व्यवस्थाओं के अवलोकन से समझा जा सकता है–

1. वर्ण व्यवस्था – प्राचीन समय से ही वर्ण व्यवस्था हमारे समाज का मूल आधार है। इस व्यवस्था के दो स्तंभ हैं– वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज में विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न–भिन्न आश्रम निर्धारित किये गये हैं। 'वर्ण' से तात्पर्य चार वर्णों से है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भारतीय समाज के चार महत्वपूर्ण वर्ण हैं। भारतीय समाज में वर्णों को सामाजिक व्यवस्था का आधार माना जाता है। प्रत्येक वर्णों को समाज में भिन्न–भिन्न कार्य दिये गये हैं। मनुस्मृति ग्रंथ का प्रयोग इतिहासकार प्राचीन समाज में वर्णभेद के आधार को समझने के लिए करते हैं।

भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था प्राचीन समय से चली आ रही है। इसके महत्व एवं आधार पर अनेक प्रश्न आधुनिक काल में पूछे जाते हैं। वर्ण व्यवस्था एक सामाजिक सच्चाई है और समाज को समझने के लिए इसके मूल को समझना आवश्यक भी है, परंतु इस पर किये जाने वाले कटाक्ष व टिप्पणी भी इतिहास को समझने का एक मुख्य पहलू है।

हिंदू समाज में एक मनुष्य के जीवन को अलग–अलग कार्यों के अनुसार चार वर्गों में विभाजित किया गया है। ब्रह्मचर्य को जीवन का प्रथम पड़ाव माना गया है, जहां एक व्यक्ति का कर्तव्य शिक्षा एवं दीक्षा प्राप्त करना है। गृहस्थ आश्रम जीवन का द्वितीय पड़ाव माना गया है जहां व्यक्ति को विवाह करने और घर बसाने का सुख प्राप्त हो सके। मानव जीवन का तीसरा पड़ाव है, वानप्रस्थ; जिसमें एक गृहस्थ व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियों से निर्लिप्त हो जाता है। जीवन का चौथा एवं आखिरी स्तम्भ है–संन्यास, जहां व्यक्ति अपने जीवन के अंत में वैराग्य ले लेता है।

2. संस्कार – मानव जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए भारतीय समाज को प्राचीन समय से कई संस्कारों का अस्तित्व रहा है। कुछ संस्कारों को जन्म से पहले के लिये, कुछ को बाल्यवस्था के लिये, कुछ को विद्या अध्ययन के लिये और कुछ को गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये विभाजित किया गया है। हिंदू ग्रंथों में निम्नलिखित संस्कारों की व्याख्या की गई है–

(क) गर्भधारण संस्कार – इस संस्कार में विवाह के पश्चात् प्रार्थना की जाती है कि स्वस्थ पुत्र की प्राप्ति हो और पुरुष अपना बीज रूप अपनी पत्नी के गर्भ में स्थापित करता है।

(ख) पुंसवन संस्कार – इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य था गर्भ की पुष्टि करना एवं गर्भस्थ शिशु को पुत्रत्व करना।

(ग) सीमान्तोनयन – यह संस्कार भी गर्भाधान के बाद ही सम्पन्न किये जाते हैं। इसे स्त्री के संतोष, आरोग्य, गर्भ स्थिरता, उत्कृष्टता के लिये किया जाता है।

(घ) जातकर्म संस्कार – शिशु के पैदा होते समय किये जाने वाले अनुष्ठान, नाभी नाल का काटा जाना आदि जातकर्म के संस्कार में आते हैं। इस समय पर अनेक अनुष्ठान किये जाते हैं और देवी–देवताओं को कृतज्ञता व्यक्त की जाती है।

(ङ) नामकरण संस्कार – इस संस्कार के अंतर्गत जन्म के ग्यारहवें दिन शिशु का नामकरण किया जाता है।

(च) निष्क्रमण संस्कार – यह संस्कार शिशु के जन्म के चौथे महीने कराया जाता है। इस दिन शिशु को स्नान कराके, साफ वस्त्र पहनाकर घर से बाहर निकाला जाता है। उसी दिन बालक को सूरज व चंद्रमा पहली बार दिखाया जाता है।

टिप्पणी

(छ) अन्नप्राशन संस्कार – इस संस्कार में पहली बार शिशु के मुख में अन्न दिया जाता है। खाने में घी मिलाकर चावल व दही और शहद खिलाया जाता है।

(ज) चूड़ाकर्म संस्कार – इस संस्कार में प्रथम बार शिशु के सिर के बाल मुंडवाये जाते हैं।

(झ) कर्ण भेद संस्कार – इस संस्कार में तीसरे या पांचवें वर्ष में बच्चे के कानों में छेद किया जाता है।

(ञ) उपनयन संस्कार – यह संस्कार केवल ऊपर के तीन वर्णों को करने की अनुमति है। इस संस्कार में व्यक्ति का उपनयन किया जाता है।

(ट) वेदारम्भ संस्कार – उपनयन संस्कार के दिन या उसके एक दिन के बाद वेद की शिक्षा की शुरुआत होती है।

(ठ) समावर्तन संस्कार – इस संस्कार का अर्थ है, वेदाध्ययन के बाद गुरुकुल से घर वापस आना। इस संस्कार को दीक्षांत का नाम दिया जाता है।

(ड) विवाह संस्कार – स्त्री–पुरुष के समागम को विवाह कहा जाता है। हिंदू धर्म के संस्कारों के अनुसार स्त्री–पुरुष का संबंध अत्यंत पवित्र एवं जन्म–जन्मान्तर का है। स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी समझा जाता है।

प्राचीन धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाहों की बात की गई है–

- ब्रह्म विवाह – इसमें एक विद्वान पुरुष को कन्या दी जाती है।
- दैव विवाह – इसमें यज्ञ के संपादन के बाद यज्ञ करने वाले ऋत्विक को कन्या दान में दी जाती है।
- आर्य विवाह – वर से एक या दो गाय का जोड़ा लेकर उसको विधिवत कन्या भेंट में दी जाती है।
- गन्धर्व विवाह – स्त्री और पुरुष स्नेह से अपने आप को एक दूसरे के हवाले करते हैं और विवाह सम्पन्न होता है।
- प्रजापत्य विवाह – इस विवाह में कन्या का दान वर को करते हुए यह कहा जाता है कि तुम दोनों धर्म का पालन करो।
- असुर विवाह – कन्या के परिवारजनों एवं कन्या को धन का लोभ देकर यह विवाह करवाया जाता है।
- राक्षस विवाह – कन्या पक्ष के व्यक्तियों को शारीरिक हानि पहुंचाकर, बलपूर्वक अपहरण करके कन्या से विवाह किया जाता है।
- पिशाच विवाह – सोती हुई या मद्य पिये हुए कन्या के साथ यौन संबंध बनाना, पिशाच विवाह की श्रेणी में आता है।

धर्मशास्त्रों में सबसे उत्कृष्ट देव व ब्रह्म विवाह को माना जाता है एवं सबसे निम्न श्रेणी का असुर, पैशाच एवं राक्षस विवाह को माना जाता है।

(ढ) वानप्रस्थ संस्कार – गृहस्थ जीवन को पूरा जी लेने के बाद, वानप्रस्थ श्रेणी में प्रवेश करने के लिए वानप्रस्थ संस्कार किया जाता है।

(ण) संन्यास संस्कार – वानप्रस्थ जीवन में रहकर गृहस्थी से दूर होना, लोभ, मोह, पक्षपात आदि से दूर होने पर व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के लायक हो जाता है।

टिप्पणी

(त) अन्त्येष्टि संस्कार – मनुष्य की मृत्यु के बाद हिंदू धर्म के रीति–रिवाज के अनुसार दाह संस्कार अन्त्येष्टि संस्कार कहलाता है।

प्राचीन भारतीय समाज में परिवार समाज की मुख्य इकाई थी, परिवार का स्वामी घर का पुरुष होता था एवं सम्पत्ति पर अधिकार भी पिता से पुत्र को अनुवांशिक रूप से प्रदान किया जाता था, स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार नहीं था।

स्त्रियों को मुख्यतः माता व पत्नी से रूप में देखा जाता था और उनकी अपनी कोई मुख्य पहचान नहीं थी। हमें प्राचीन काल के कुछ ग्रंथों में विद्वता स्त्री की जानकारी प्राप्त होती है, परंतु मुख्य तौर पर स्त्रियों को सामाजिक संरचना में ज्यादा नियंत्रण प्राप्त नहीं था। पति के मृत्यु के बाद पत्नी को पुत्र के अनुसार जीवन व्यतीत करना होता है। पुत्र के जन्म से पहले ही पति की मृत्यु होने पर स्त्री को 'नियोग' नामक पद्धति से गुजरना होता था। इसके तहत पुत्र की प्राप्ति के लिये परिवार के लोग पति के भाई से उसकी पत्नी की शादी करवा देते हैं।

पति की मृत्यु के बाद पत्नी को विधवा बनकर सादा जीवन जीना होता था, आम तौर पर पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। कई उदाहरणों में पति की मृत्यु की आग में पत्नी को भी जिंदा जला दिया जाता था, जिसे 'सती प्रथा' के रूप में जाना जाता है। 'सती प्रथा' को आधुनिक काल में एक कुरीति के रूप में देखा गया एवं कानून लाकर इसे विधिवत रोका गया।

(ब) आर्थिक मूल्य

प्राचीन भारत की मुख्य आर्थिक गतिविधि थी–कृषि। कई विद्वानों का मानना है कि ऋग्वैदिक काल में ही कृषि का पूर्ण विकास हो गया था। ऋग्वेद में खेती के प्रति प्रार्थना व्यक्त की गई है एवं विभिन्न खेती के उपकरणों के बारे में उनमें लिखा गया है।

प्राचीन भारत के विभिन्न स्रोतों में हमें खेती के भूमि पर इकाई, खेती में प्रयोग में लाये जाने वाले उपकरण आदि की जानकारी मिलती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उस समय के आर्थिक गतिविधियों के अवशेष मिलते हैं। मौर्यकाल के विभिन्न साहित्यिक रचनाओं में फूलों का उल्लेख हुआ है। मौर्यकाल के ग्रंथों में वस्तुओं की सूची मिलती है, जहां खेतों से उत्पन्न हो रही उपज (क्षेत्रिक), उद्यानों से उत्पन्न हो रही उपज (आरामिक) व वनों में हो रहे उपज को (आटविक) कहा जाता है।

खेती की व्यवस्था वैदिक काल से होते हुए गुप्तकाल व उत्तर गुप्तकाल तक सामाजिक तौर पर व्याप्त हुई थी। खेती प्राचीन भारतीय समाज का सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि थी। खेती का अर्थ यहां केवल अनाज उगाने से ही नहीं है, क्योंकि पशु पालन की व्यवस्था भी खेती का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है। पशुपालन की जानकारी

एवं दूध–घी, मक्खन आदि के लिये पशुओं पर निर्भरता वैदिक समाज के साहित्य में दिखाई देता है।

टिप्पणी

प्रकृति के अनुकूल ढलकर खेती की शुरुआत और पशुपालन का आरंभ मानव सभ्यता के लिए आर्थिक व सामाजिक तौर पर एक क्रांतिकारी कदम था। खेती व पशुपालन से न केवल मानव समाज की पौष्टिकता बढ़ी थी, परंतु इन आर्थिक गतिविधियों के साथ ही समाज आखेटक व घुमंतू न होकर ग्रामों एवं बस्तियों में बसने लगा था। इस ग्रामों से ही आगे चलकर शहर बने।

उद्योग एवं व्यवसाय

हमें ऋग्वैदिक काल से ही मनुष्यों के अलग–अलग वर्णों में विभाजित होने के सबूत प्राप्त होते हैं। यह वर्ण मुख्य तौर पर कार्य के आधार पर बांटे गये थे। उत्तर वैदिक काल के स्रोतों से शिल्प संबंधित जानकारी प्राप्त होती है।

छठी शताब्दी ई.पू. में बौद्ध और जैन धर्म का विकास होता है एवं उनसे संबंधित स्रोतों में हमें व्यवसाय की जानकारी मिलती है। वैश्य वर्ग का मुख्य व्यवसाय उद्योगों में शिल्पकारों द्वारा बनाये गये वस्तुओं का व्यापार करना था। भारतीय उपमहाद्वीप में कृषि, उद्योग आदि से प्राप्त वस्तुओं के आदान–प्रदान एवं लंबी दूरी के व्यवसाय के उल्लेख मिलते हैं। सिंधु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में ही हमें लंबी दूरी के व्यवसाय के सबूत मिलते हैं।

केवल भारत से ही अवशेष नहीं मिलते परंतु दूसरी सभ्यताओं से भी भारतीय वाणिज्य और वस्तुओं के आदान–प्रदान के अवशेष प्राप्त होते हैं।

प्राचीन भारतीय समाज में कार्य के अनुसार विभिन्न जातियों और वर्णों का अस्तित्व था। खेती एवं पशुपालन प्राचीन समाज की मुख्य आर्थिक गतिविधि थी, परंतु हमें उद्योगों और व्यवसाय के नमूने भी दिखाई देते हैं। शिल्पकारों का एक वर्ग का कार्य सिर्फ वस्तुओं को बनाना था और वैश्य वर्ग के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन था–व्यापार। धनोपार्जन का सबसे अच्छा स्रोत व्यापार को माना जा सकता है।

आर्थिक संस्थाएं

प्राचीन भारतीय स्रोतों में हमें व्यापार व गुणवत्ता के ऊपर नियंत्रण रखने के लिये श्रेणियों के अस्तित्व का पता चलता है। श्रेणी व्यापारियों के सुसंगठित समूह को कहा जाता है। प्राचीन काल में कुछ श्रेणी अत्यंत बड़े हो गये थे एवं शक्तिशाली भी। वैदिक काल में 'पणि' नामक व्यापारी का उल्लेख मिलता है, जो यह दर्शाता है कि व्यापारी प्राचीन काल में अपने सुरक्षा के लिये काफीलों में चलते थे। वैदिक काल में 'श्रेणी' के मुख्य व्यक्ति के लिये 'श्रेष्ठिन' या 'श्रेष्ठय' शब्द का प्रयोग होता है। प्राचीन काल में अलग–अलग व्यवसायियों और व्यापारियों की अलग–अलग श्रेणियां थीं, प्राचीन भारत में बढ़ई, दस्तकार, बुनकर, चर्मकार, रंगरेज आदि की श्रेणी–संस्थाएं थीं।

लंबी दूरी के व्यवसाय के सबूत के तौर पर प्राचीन काल के वे सिक्के भी हैं, जिनमें मुहरें लगाई गई थीं। इसे सिक्कों को आदान–प्रदान के सबूत के दौर पर अंकित किया जाता था।

टिप्पणी

व्यवसाय के लिए नाप–तौल एवं सिक्कों के इकाइयों की जानकारी हमें प्राचीन काल के स्रोतों से प्राप्त होती है। लंबी दूरी का व्यवसाय श्रेणियों द्वारा नियंत्रित किया जाता था। समाज में कर प्रणाली के सबूत भी मिलते हैं। खेती एवं व्यवसाय जैसे विभिन्न कार्य करने वाले व्यक्तियों से राज्य द्वारा कर वसूले जाते थे। कर वसूलना, श्रेणी को संरक्षण देना, सिक्कों का निर्माण आदि राजनैतिक संस्थानों के संरक्षण में होता था।

प्राचीन भारत के शिक्षण संस्थान

शिक्षा संस्थान एवं शैक्षिक स्वरूप से समाज का स्तर अभिव्यक्त होता है।

प्राचीन भारत में शिक्षण की पद्धति काफी विकसित थी। वेद काल से ही शिक्षा ग्रहण करने को अत्यंत महत्व दिया गया। वेद काल में शिक्षा ग्रहण करने के लिए शिक्षार्थी अपने गुरू के आश्रम में रहते थे। वेद काल के बाद भारतीय इतिहास में कुछ शिक्षण संस्थानों का विकास हुआ, जिनमें विद्यार्थी अलग–अलग जगह से पढ़ने आते थे।

भारतीय इतिहास में हमें अनेक चीनी यात्रियों की जानकारी प्राप्त होती है, जो भारतीय संस्कृति एवं बौद्ध धर्मों को अध्ययन करने भारतभूमि पर आया करते थे। कई चीनी यात्रियों के लेख आज भी भारतीय इतिहास में समाज व राजनीति को समझने के मुख्य श्रोत के रूप में पढ़े जाते हैं।

भारत में प्राचीन काल में निम्नलिखित विश्वविद्यालय थे –

1. नालंदा विश्वविद्यालय – यह दुनिया के सबसे प्राचीन व सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में से एक है। यह बिहार प्रांत में स्थित था और 5वीं से 13वीं शताब्दी के बीच यह शिक्षा का मुख्य केंद्र था।

नालंदा विश्वविद्यालय को 2007 में फिर से पुनर्जीवित किया गया और 1 सितंबर, 2014 से पुनः शुरू किया गया।

2. तक्षशिला विश्वविद्यालय – यह विश्वविद्यालय पंजाब प्रांत के रावलपिंडी जिले में स्थित था। इस विश्वविद्यालय में दूर से विद्यार्थी ज्ञान अर्जित करने आते थे। यहां चिकित्सा, तीरंदाजी, ज्योतिष आदि की शिक्षा दी जाती थी। दूसरी व तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में मौर्य साम्राज्य व यूनानी शासनकाल में यह विश्वविद्यालय कार्यरत था। तोरमण के आक्रमण से यह 5वीं शताब्दी में छत–विछत हो गया।

3. विक्रमशिला विश्वविद्यालय, बिहार – यह विश्वविद्यालय पाल वंश के राजा धर्मपाल द्वारा निर्मित था। यह आज के भागलपुर शहर में स्थित है। अपने प्राचीन स्वरूप में यह बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में 12वीं सदी तक अस्तित्व में था। यह बौद्ध ग्रंथों एवं वेदों की पढ़ाई के लिये जाना जाना था।

4. पुष्पगिरी विश्वविद्यालय, ओडिशा – यह विश्वविद्यालय ओडिशा में स्थित था एवं तीसरी शताब्दी में कलिंग वंश द्वारा बनाया गया था। यह अब तक एक पुरातात्विक स्थल में परिवर्तित हो चुका है।

इसके अतिरिक्त रत्नागिरी विश्वविद्यालय भी आज के ओडिशा प्रांत में स्थित है। यह बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए पर्यटन का एक महत्वपूर्ण स्थल था। पुरातात्विक खोज से यह पता चलता है कि यह प्राचीन काल में एक बड़ा बौद्ध परिसर था।

5. वल्लभी विश्वविद्यालय, गुजरात – यह बौद्ध शैक्षणिक स्थल गुजरात के भावनगर जिले में स्थित था। पूरे विश्व भर से लोग वल्लभी विश्वविद्यालय में पढ़ने आते थे। यहां धार्मिक व धर्मनिरपेक्ष के विभिन्न विषयों की पढ़ाई होती थी। यह छठी शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध रहा।

टिप्पणी

6. उदांतपुरी विश्वविद्यालय, बिहार – यह पाल वंश के शासन काल में निर्मित था और आठवीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र था।

7. सोमपुरा विश्वविद्यालय, बांग्लादेश – यह बांग्लादेश के सोमपुरा प्रांत में स्थित था। यह पाल वंश के राजाओं द्वारा निर्मित था। यह 27 एकड़ में फैला हुआ एवं प्राचीन बौद्ध महाविहारों में से एक था।

इसके अतिरिक्त वर्तमान के बांग्लादेश में विक्रमपुर विश्वविद्यालय भी स्थित था। यह विश्वविद्यालय भी बौद्ध शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। उत्तरी बांग्लादेश में प्राचीन समय में जगद्दल महाविहार स्थित था, जो भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख महाविहारों में से एक था। जगद्दल विश्वविद्यालय भी पाल वंश के शासकों द्वारा बनाया गया था। यह UNESCO के World Heritage Sites (विश्व धरोहर स्थलों) में अस्थायी रूप से सूचीबद्ध है।

3.3.2 मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत में सामाजिक–आर्थिक मूल्य व संस्थाएं

मध्यकालीन समाज में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही भारतीय समाज में एक नये धर्म का प्रवेश होता है। 'इस्लाम' धर्म के भारत में आगमन के साथ ही भारतीय सामाजिक ताने–बाने में एक नये रंग–रूप का उदय होता है।

मध्यकालीन भारत में सल्तनत काल में सुल्तान का स्थान सर्वोपरि था। मुस्लिम शासन व्यवस्था में सुल्तान एवं उसके मंत्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। समय–समय पर उलेमा वर्ग से भी समाज व राजनीति को चलाने के लिए राय ली जाती थी।

मुस्लिम सत्ता के प्रभाव में भारत में भी अनेक लोगों ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया। समाज में 'भारतीय मुसलमान' व मध्य एशिया से आये मुसलमानों के अलग–अलग वर्ग बन गए। मध्यकालीन समाज बहु–संस्कृतियों का एक अनूठा मेल था।

इस काल में बहु–संस्कृतियों के मेल से एक ऐसा समाज देखने को मिलता है जो केंद्र में मुस्लिम सुल्तान होने के बाद भी हिंदू राजाओं को संरक्षण प्रदान था। इस काल में हिंदू–मुसलमान दोनों ही धर्मों में सहिष्णुता का विकास हुआ। सूफी व भक्ति विचारधारा से दोनों धर्मों के लोग परस्पर शांतिपूर्ण तरीके से गुजर–बसर करते थे। संतो का उदय भी इसी काल में देखने को मिलता है।

मुगलकाल ने भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर गहन छाप छोड़े। भारत के महानतम सम्राटों में मुगलकाल के कुछ सम्राटों का नाम आता है। मुगलकालीन समाज में मुगल सम्राटों और राजपूत राजाओं के बीच सत्ता के विस्तार व नियंत्रण के लिये युद्ध के साथ ही आपसी समझौता और तालमेल भी देखने को मिलता है।

इस युग में भारत में तरह–तरह के फसल की खेती हो रही थी। भारत के प्रमुख कृषि उत्पादन थे–गेहूं, जौ, दालें, रुई, गन्ना, अफीम आदि। वस्त्र, अफीम, नील, अन्न और मसाले निर्यात किये जाते थे।

टिप्पणी

भारत में धातुओं का कार्य भी हो रहा था, धातुओं से बनी वस्तुओं का आयात–निर्यात भी इसी काल में हमें देखने को मिलता है। मध्यकालीन समाज में कृषकों की स्थिति खराब थी। कृषकों के विषय में इरफान हबीब लिखते हैं कि 'अगर कृषक तबका गरीब था, तो वह अंदर से उपवर्गों और स्तरों में बंटा हुआ था। भू–कर की अवरोही प्रकृति, दामों के उतार–चढ़ाव और सूदखोरी का व्यापक तानाबाना– ये सब विभेदीकरण के लिए जिम्मेदार थे।'

मध्यकाल में राजसत्ता भूमि कर और व्यावसायिकों से कर वसूली करती थी। मध्यकाल में जागीरदारी व्यवस्था अस्तित्व में आई जिसके अंतर्गत राजा द्वारा भूमि को जागीरदारों को प्रदान किया जाता था, और जागीरदार को उस भूमि से केवल कर इकट्ठा करने का अधिकार था। सम्राट के करीबी मंत्रियों एवं क्षेत्रीय राजाओं के मध्य जागीर प्राप्त करने की होड़ लगी होती थी। मध्यकाल के अंतिम चरण में कई जागीरदार अत्यंत शक्तिशाली हो गये एवं दरबारी राजनीति में मुख्य भूमिका निभाने लगे, इसी के साथ जागीरदार अनुवांशिक भी हो गए। मुगल सत्ता के गिरने का एक मुख्य कारण कई इतिहासकार 'जागीरदारी संकट' को भी मानते हैं।

आधुनिक भारत की स्थिति

आधुनिक भारतीय इतिहास में हमें सामाजिक तौर पर अनेक बदलाव देखने को मिलते हैं। अंग्रेजी शासन व्यवस्था और राजनीति के अंतर्गत समाज में कई परिवर्तन आये थे। पाश्चात्य सोच से प्रभावित होकर पढ़े–लिखे भारतीय वर्ग ने भारत में व्याप्त कई रीति–रिवाजों को खारिज किया। इसी कड़ी में कई समाज सुधार आंदोलन एवं धार्मिक सुधार आंदोलन प्रकाश में आए।

ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि सामाजिक व धार्मिक आंदोलनों से भारतीय समाज में नई सोच की लहर सी दौड़ गई। राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर बहरामजी मालाबरी, आदि पुरुषों ने सामाजिक आधुनिकता को नई दिशा प्रदान की। हिंदू धर्म में रूढ़िवादी विचारधारा को इन सुधारकों ने सिरे से खारिज किया। आर्य समाज ने 'वेदों' को हिंदू धर्म का मूल आधार माना। 'वेदों की ओर चलो'– इसका मूल नारा था। ये समाज सुधारक महिलाओं की अशिक्षा, सती प्रथा और विधवाओं की प्रताड़ना के खिलाफ अपनी आवाज उठा रहे थे।

अंग्रेजों के राज्य के साथ न केवल समाज में परिवर्तन आए बल्कि आर्थिक स्थिति में भी बड़े परिवर्तन देखने को मिलते हैं। अंग्रेजों ने कर वसूली के लिए नई कर व्यवस्थाएं आरंभ कीं– स्थायी बन्दोबस्त, महालवाड़ी व रैयतवाड़ी कर व्यवस्था के तहत अंग्रेजों ने भारतीय किसानों से कर वसूलने का बन्दोबस्त किया। उपज में वर्षा या अकाल की वजह से कमी होने पर भी, कर में कमी नहीं की जाती थी। कर वसूली के लिए अंग्रेज अफसर तरह–तरह के हथकंडे अपनाते। किसानों से कर लिये जाते और कर न दे पाने पर उनकी जमीन ले ली जाती थी।

अंग्रेजी उत्पीड़न और दमनकारी नीतियों के कारण किसानों ने अंग्रेजों के खिलाफ कई विद्रोह किए।

अंग्रेजों ने आधुनिकता के कुछ मुख्य प्रतिमान भी गढ़े– जैसे रेलवे व्यवस्था, सड़क परिवहन आदि। इन आधुनिक व्यवस्थाओं को लाने के पीछे एक ही कारण था

अपनी राजनीति व व्यापार को सही तरीके से चला पाना। आधुनिक काल में भारत में अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों की वजह से अन–औद्योगिकीकरण (deindustrialisation) देखने को मिला। भारतीय छोटे उद्योगों ने अंग्रेजों की नीतियों की मार झेली। दादा भाई नौरोजी ने अपनी कृति 'Poverty & Unbritish Rule in India' में लघु उद्योगों और भारतीय उद्यमियों पर हो रहे अत्याचार को दर्शाया है। 'अन–औद्योगिकीकरण' की प्रक्रिया ने भारतीय सामाजिक व व्यापारिक संरचना को बहुत हानि पहुंचाई।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. वर्ण व्यवस्था में तीसरे क्रम पर किस वर्ण को रखा गया है?

(क) शूद्र (ख) वैश्य

(ग) ब्राह्मण (घ) क्षत्रिय

4. वेदों को धर्म का मूल आधार मानने वाला अग्रणी समाज था–

(क) ब्रह्म समाज (ख) प्रार्थना समाज

(ग) आर्य समाज (घ) नास्तिक वर्ग

3.4 राजनीतिक मूल्य और संस्थाएं

प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन राजनीतिक मूल्यों एवं संस्थानों को पृथक–पृथक इस प्रकार समझा जा सकता है–

3.4.1 प्राचीन भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं

प्राचीन भारत में हड़प्पा काल की सांस्कृतिक खोज में अनेक भवन प्राप्त हुए हैं। इनको देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हड़प्पा सभ्यता एक नागरीय वाणिज्यिक संस्कृति थी। विद्वानों ने हड़प्पा सभ्यता के नेतृत्व के विषय में अलग–अलग बातें की हैं। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि इस सुनियोजित शहर के नियंत्रण की जिम्मेदारी किसी व्यक्ति या केंद्र पर निहित थी, वहीं कुछ विद्वान मानते हैं कि हड़प्पा नगरीय सभ्यता जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में थी।

हड़प्पा संस्कृति के विभिन्न शहरों में एकरूपता दिखाई देती है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह राजनीति केंद्रित थी। राजनीति का केंद्र धार्मिक था या राजनीतिक– यह विवाद का विषय है।

वैदिक काल में अनेक राजनीतिक संस्थाएं थीं जिनके संकेत हमें वैदिक स्रोतों से प्राप्त होते हैं। समाज की मुख्य इकाई पितृसतात्मक थी और कुटुम्ब व कुल राज्य का मूलाधार था।

कुलों का समृद्ध स्वरूप ग्राम कहलाता था और ग्राम नामक इकाई का शासक ग्रामीण कहलाता था। ग्राम की बड़ी बस्ती विश कहलाती थी और इसके प्रधान को विशपति कहा जाता था। राष्ट्र व जन की राजनीतिक इकाई का मुखिया 'राजा' कहलाता था। सेनानी और ग्रामीण– दो महत्वपूर्ण लोग थे, जो शासन व्यवस्था में मदद करते थे।

टिप्पणी

प्रशासन के लिए 'सभा' और 'समिति' नामक दो संस्थाओं का उल्लेख मिलता है।

यह माना जाता है कि प्रत्येक गांव में एक 'सभा' थी। 'समिति' एक केंद्रीय समिति थी। सभा व समिति जन प्रतिनिधित्व की वह इकाई थी जिसके तहत लोग इकट्ठे होकर समस्याओं का निवारण किया करते थे।

महाजनपद काल में दो प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाएं थीं–

1. राजतांत्रिक
2. प्रजातांत्रिक

राजतांत्रिक शासन व्यवस्था – इस व्यवस्था में शासन निरंकुश था। राजा का नियंत्रण सर्वाधिक था और महामात्र भी राजतंत्र के अंतर्गत आते थे। राजतंत्रों में ग्रामीण स्तरों पर ग्रामसभाएं होती थीं, जिनका मुखिया 'ग्रामिक' कहलाता था। प्रांतों के मुखिया मुख्य तौर पर राजपुत्र होते थे। प्रशासनिक कार्यों के लिये तरह–तरह के महामात्र नियुक्त किये जाते थे।

गणतांत्रिक शासन व्यवस्था – बौद्ध साहित्य के अनुसार बुद्धकालीन समाज में आठ कुल थे। गणतांत्रिक समाज में शासक वर्ग के अतिरिक्त साधारण प्रजा में कृषक, भृत्य, दास, कारीगर आदि सम्मिलित थे।

गणराज्यों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। यही कारण है कि उनकी न्याय व्यवस्था विकसित थी। न्यायाधीशों के स्वतंत्र न्यायालय थे।

मौर्यकालीन समाज में शासन का प्रधान राजा था। राजा समस्त शक्तियों का केंद्र था। न्याय संबंधी, शासन संबंधी और सेना संबंधी कार्य राजा के मुख्य कार्य थे। मौर्यकालीन शासन के बारे में मेगस्थनीज लिखता है कि "राजा दिन में कभी नहीं सोता है। केवल युद्ध के समय ही नहीं बल्कि विवादों का फैसला करने के लिए भी वह राजप्रासाद से निकलता है। ऐसे अवसरों पर वह दिन भर सभा में रहता है और इस कार्य में कोई विघ्न नहीं पड़ने देता है, चाहे इस बीच उसे अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने का समय ही क्यों न आ जाए।"

कार्टियस ने भी लिखा है कि 'राजप्रासाद में कोई भी आ–जा सकता है, चाहे राजा उस समय अपने बाल संवारने और वस्त्र पहनने में ही क्यों न व्यक्त हो। उस समय भी वह राजदूतों से साक्षात्कार करता है और अपनी प्रजा का न्याय करता है।'

प्राचीन भारतीय समाज में सुरक्षा के लिए अच्छी सैन्य व्यवस्था थी। डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार चंद्रगुप्त के पास रथों की संख्या 8000 थी और 600,000 पैदल सैनिक, 30,000 घुड़सवार और 900 हाथी थे। गुप्त शासनकाल में सम्राट सर्वोच्च स्थान पर थे। सम्राट के बाद युवराज का स्थान था। ऐतिहासिक ग्रंथों में महाबलाधिकृत, महाप्रतीहार, महाश्व प्रतीहार, महाश्वपति, भटाश्वपति, महापीलुपति, सेनापति, बलाधिकृत आदि पद दर्शाये गये हैं।

प्राचीनकाल में राजनीतिक शासन प्रणाली के अनेक स्तर देखने को मिलते हैं। वैदिक काल से ही राजनीतिक कार्यों को व्यक्तियों में विभाजित किया गया है, जो बाद में राजा, मंत्रीपरिषद, सेना आदि संगठनों का रूप ले लेता है।

3.4.2 मध्यकालीन व आधुनिक भारत में राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं

टिप्पणी

दिल्ली सल्तनत और मुगलकाल में सुल्तान व सम्राट की स्थिति निरंकुश थी। राजा अपना महत्व इस्लामी खिलाफत से अर्जित दर्शाता था। परमेश्वर (अल्लाह) को और विश्व में इस्लाम की गद्दी माने जाने वाले 'खिलाफत' को साक्षी मानकर सुल्तान अपनी गद्दी पर विराजमान होता था। सल्तनत काल में राजगद्दी अनुवांशिक नहीं थी, परंतु गद्दी कई बार पिता से पुत्र को दी जाती थी। राजनीतिक समीकरण में मंत्रीगण एवं अन्य शक्तिशाली राजदरबारी महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। उनके षडयंत्रों और उनकी चालों से राजनीतिक सत्ता तय की जाती थी।

सल्तनत काल में केंद्रीय सरकार के मुख्य स्तंभ मंत्री व दीवान हुआ करते थे। तारीख–ए–फिरोजशाही नामक पुस्तक में बरनी के अनुसार चार प्रमुख मंत्री हुआ करते थे : दीवान–ए–विजारत, दीवान–ए–अर्ज, दीवान–ए–इंशा, दीवान–ए–रिसातल।

केंद्र में शासक के अंतर्गत प्रांतों का शासन भी आता था। प्रांतों में मंत्रियों एवं अधिकारियों द्वारा सत्ता चलायी जाती थी एवं मुख्य कानूनी, न्यायिक और राजनीतिक नियम केंद्र के हिसाब से ही चलता था। सल्तनत काल में 'इक्ता' बाटी जाती थी, 'इक्ता' का आशय राज्य द्वारा प्रदान की गई भूमि के स्वामित्व से है।

मुगल काल में राजत्व के सिद्धांत को स्पष्टतः करते हुए अबुल फजल कहते हैं, "ईश्वर की नजरों में राजस्व के बढ़कर गौरवपूर्ण दूसरी कोई चीज नहीं है। विद्रोही चेतना का उपचार राजत्व में नीहित है... यहां तक कि 'पादशाह' शब्द का अर्थ भी इसके अनुकूल है। पाद का अर्थ स्वामित्व और आधिपत्य तथा शाह का मतलब मूल और सर्वशक्तिमान है।"

मुगल काल में राज्यों का शासन केंद्रों द्वारा संभाला जाता था। मनसबदारी व जागीरदारी व्यवस्था के द्वारा भूमि, कर व सेना नियंत्रित किया जाता था। मुगल शासन आपसी संबंध और युद्ध नीति– दोनों ही तरीकों से प्रांतीय व्यवस्था को नियंत्रित करती थी। कई राजपूत राजाओं ने अपने बेटियों की शादी मुगल शासकों से की। यह भी उनके राजनीतिक व आपसी संबंध का उत्तम उदाहरण है।

मुगलकाल में मनसबदारों को 'जागीर' व भूमि आवंटित की जाती थी और कर वसूली की जिम्मेदारी उन्हीं को दी जाती थी। मुगलकाल के अंत तक यह कार्य अनुवांशिक हो चला था, एवं नये लोगों में जागीर हड़पने की होड़ मच गई थी। अंततः 'जागीरदारी' के लिए भूमि ही नहीं बची। इसे 'जागीरदारी क्राईसिस' कहते हैं।

कई इतिहासकारों का मानना है कि इसी कारण मुगल सत्ता का अंत हुआ, जो ऐतिहासिक विवाद का विषय है।

आधुनिक भारत में नगर प्रशासन की शुरूआत अंग्रेजी शासकों ने की थी। समय के साथ नगर प्रबंधन का ढांचा भारतीय आधुनिक संस्कृति में रच बस गया। नगर व्यवस्था को चलाने के लिए अंग्रेजी शासन प्रणाली ने मुंसिफ, सदर, आमीन आदि पदों के लिये भारतीयों को नियुक्त किया। नागरिक सेवा में अंग्रेजी अफसरों को विस्तृत प्रशासनिक अधिकार दिये जाते थे।

अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय सिविल सेवा के लिये उच्च पदाधिकारी मुख्यतः अंग्रेज होते थे। भारतीयों को अंग्रेजी शासन के उच्च व्यवस्था पर काबिज नहीं किया

टिप्पणी

जाता था और सक्षम पढ़े–लिखे भारतीयों ने अंग्रेजी सरकार से एक लंबी लड़ाई की ताकि उन्हें उच्च अफसर के पदों पर नियुक्त किया जाए।

लार्ड विलियम बेंटिक ने बाद में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। उनके अनुसार भारतीयों का उच्च पदों पर नियुक्त करने पर खर्च भी बचेगा और उनके अनुसार भारतीय अपने समाज व संस्कृति के बेहतर ढंग से समझते हैं, जिससे कि शासन में आसानी होगी। भारत में पुलिस व्यवस्था की नींव भी अंग्रेजी शासकों ने रखी। कार्नवालिस ने शांति बहाल करने के लिये नियमित पुलिस बल की स्थापना की। थानों की व्यवस्था की गई, थाने का प्रधान दरोगा होता था। अनुशासन के नियंत्रण के लिये प्रत्येक थाने में सिपाहियों के नियुक्ती की जाती थी। यही व्यवस्था कुछ भारतीय परिवर्तनों के साथ आज भी चली आ रही है।

न्याय व्यवस्था का प्रारंभ भारतीय इतिहास में प्राचीन काल में ही हो गया था, परंतु आज जिस प्रकार से भारतीय समाज के सुचारू रूप से चलने के लिये न्याय व्यवस्था अस्तित्व में है, उसकी शुरुआत अंग्रेजों के काल में हो गई थी।

भारतीय सेना का अस्तित्व आज जिस स्थिति में है, उसकी शुरुआत भी अंग्रेजों के शासन काल में ही हुई थी। अंग्रेजों ने सेना में विभिन्न प्रयोग किये थे, न्याय एवं कानून व्यवस्था हो बनाये रखने के लिए।

अंग्रेजों ने भू–राजस्व हेतु अलग–अलग नीतियों की स्थापना की, जिससे कि अंग्रेजी शासन व्यवस्था का अधिक से अधिक नियंत्रण भारतीय प्रशासनिक एवं आर्थिक विषयों पर बना रहे।

अपनी प्रगति जांचिए

5. महाजनपदकालीन राजनीतिक व्यवस्था थी–

(क) राजतांत्रिक (ख) प्रजातांत्रिक

(ग) राजतांत्रिक एवं प्रजातांत्रिक (घ) इनमें से कोई नहीं

6. भारतीय समाज की वर्तमान न्याय–व्यवस्था का आधार है–

(क) बौद्धिक काम (ख) बौद्धकाल

(ग) मुगलकाल (घ) ब्रिटिश काल

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग) 2. (घ)
3. (ख) 4. (ग)
5. (ग) 6. (घ)

3.6 सारांश

समाज अथवा मानव समाज ऐसे लोगों का समूह है जो स्थायी संबंधों के कारण एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। मानव समाज में ऐसे व्यक्तियों के मध्य भी संबंध बनाये जाते हैं जो भिन्न संस्थानों अथवा संस्कृति के होते हैं।

टिप्पणी

हमारे समाज की सामाजिक व्यवस्था वह दशा होती है जिस दशा में समाज के अनेक निर्णायक तत्व एक सांस्कृतिक व्यवस्था के अंतर्गत, एक दूसरे के साथ प्रकार्यात्मक संबंध के आधार पर एक संतुलित दशा बनाकर रखते हैं जिस संतुलन के कारण मानव समाज अपने लक्ष्यों को सरलतापूर्वक एवं सहयोगात्मक ढंग से प्राप्त करते रहें। समाज के अंदर इसी कारण से अनेक संस्थाएं एवं समूह आपस में क्रियाशील रहकर अंतःक्रिया करते रहते हैं।

प्राचीन भारतीय समाज में परिवार समाज की मुख्य इकाई थी, परिवार का स्वामी घर का पुरुष होता था एवं सम्पत्ति पर अधिकार भी पिता से पुत्र को अनुवांशिक रूप से प्रदान किया जाता था, स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार नहीं था।

मध्यकाल में राजसत्ता भूमि कर और व्यावसायिकों से कर वसूली करती थी। मध्यकाल में जागीरदारी व्यवस्था अस्तित्व में आई जिसके अंतर्गत राजा द्वारा भूमि को जागीरदारों को प्रदान किया जाता था, और जागीरदार को उस भूमि से केवल कर इकट्ठा करने का अधिकार था। सम्राट के करीबी मंत्रियों एवं क्षेत्रीय राजाओं के मध्य जागीर प्राप्त करने की होड़ लगी होती थी। मध्यकाल के अंतिम चरण में कई जागीरदार अत्यंत शक्तिशाली हो गये एवं दरबारी राजनीति में मुख्य भूमिका निभाने लगे, इसी के साथ जागीरदार अनुवांशिक भी हो गए।

आधुनिक भारत में नगर प्रशासन की शुरुआत अंग्रेजी शासकों ने की थी। समय के साथ नगर प्रबंधन का ढांचा भारतीय आधुनिक संस्कृति में रच बस गया। नगर व्यवस्था को चलाने के लिए अंग्रेजी शासन प्रणाली ने मुंसिफ, सदर, आमीन आदि पदों के लिये भारतीयों को नियुक्त किया। नागरिक सेवा में अंग्रेजी अफसरों को विस्तृत प्रशासनिक अधिकार दिये जाते थे।

न्याय व्यवस्था का प्रारंभ भारतीय इतिहास में प्राचीन काल में ही हो गया था, परंतु आज जिस प्रकार से भारतीय समाज के सुचारू रूप से चलने के लिये न्याय व्यवस्था अस्तित्व में है, उसकी शुरुआत अंग्रेजों के काल में हो गई थी।

3.7 मुख्य शब्दावली

- **कर्मकांड** : धार्मिक अनुष्ठान
- **प्रादुर्भाव** : जन्म, उद्भव
- **विशेषज्ञीय** : विशेष रूप से जानी गई
- **प्रादुर्भूत** : उत्पन्न
- **पारस्परिक** : आपसी
- **अवधारणा** : विचारधारा

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. समाज से क्या आशय है?
2. सामाजिक व्यवस्था किसे कहते हैं?

टिप्पणी

3. समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था का प्रवेश क्यों होता है?
4. वर्ण व्यवस्था के चार वर्ण कौन–से हैं?
5. नामकरण संस्कार से क्या तात्पर्य है?
6. राजतांत्रिक शासन व्यवस्था में क्या दोष है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. समाज की अर्थवत्ता स्पष्ट करते हुए इसके तत्वों एवं सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
2. समाज में राज्य संबंधी व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।
3. प्राचीन भारत के सामाजिक–आर्थिक मूल्यों एवं संस्थानों की विवेचना कीजिए।
4. मध्यकाल एवं आधुनिक काल के सामाजिक–आर्थिक मूल्य रेखांकित कीजिए।
5. प्राचीन भारत में राजनीतिक मूल्यों व प्रतिष्ठानों की स्थिति क्या थी? समझाकर लिखिए।

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
2. भारतीय दर्शन– डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि.।
3. भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इतिहास (प्राचीन काल से 18वीं शताब्दी तक), Indu Books Services Pvt. Ltd.
4. भारतीय विज्ञान का इतिहास, लाल मणि ओझा, नोशन प्रेस, 1st Edition April 2021.
5. चौधरी, राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, 2003.
6. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद, 2005.
7. मुखर्जी, राधाकमल, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन : एनशिएंट एंड क्लासिकल ट्रेडिशंस, 2006.
8. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2002.
9. झा, डी.एन., प्राचीन भारत की रूपरेखा, पीपुल्स पब्लिशर्स हाउस, नई दिल्ली, 2005.
10. शर्मा, रीता, प्राचीन भारत का इतिहास, वोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1991.
11. त्रिपाठी रामशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1998.
12. पांडेय, विमल चंद, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, (वॉल्यूम–II), सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

इकाई 4 साहित्य और कला

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 भारतीय संस्कृति में साहित्य का स्वरूप
4.3 भारतीय संस्कृति में कला का स्वरूप
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

भारतीय साहित्य एवं कला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भारतीय कलाकृति का नमूना हमें पाषाण युगीन प्रागैतिहासिक शैलचित्रों से लेकर ऐतिहासिक भित्तिचित्रों, वास्तुकला, स्थापत्य कला, कांस्य कला इत्यादि जैसे विभिन्न रूपों में प्राप्त होते हैं। भारतीय कला का इतिहास मात्र सौंदर्य से ही संबंधित नहीं है, परंतु समाज, राजनीति एवं संस्कृति के विभिन्न विषयों के ज्ञान के लिए भी महत्वपूर्ण है। कला के विभिन्न रूप उपयोगी होने के साथ ही प्रतीकात्मक महत्व भी रखते हैं। भारतीय कला की रूपरेखा प्रागैतिहासिक काल से लेकर, ऐतिहासिक काल में सिंधु घाटी सभ्यता, मौर्यकालीन कला, मंदिर स्थापत्य कला आदि से होते हुए मध्यकालीन इन्डो–इस्लामिक कला तक पहुंचती है और तदोपरांत आधुनिक भारतीय स्थापत्य कला में भारतीय एवं अंग्रेजी कला के मिश्रित स्वरूप के साथ अंकित हो जाती है।

कला के माध्यम से हमें समाजों के जीवन यापन की शैली का पता चलता है। कला के संरक्षित स्रोतों से हमें सामाजिक वर्गों के बीच में संबंध का भी ज्ञान प्राप्त होता है। अतः कला के विषय में ज्ञान प्राप्त करना ऐतिहासिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भारतीय साहित्य का इतिहास भी अत्यंत प्राचीन है। भारतीय साहित्य की रूपरेखा वाचिक साहित्यों से प्रारंभ होकर लिखित साहित्य तक आती है। भारत में वाचिक साहित्यों की संख्या बड़ी रही है– ये ऐतिहासिक समाज के प्रारंभिक चरणों में वेदों, पुराणों आदि को अपने असीमित महत्व में समाए हुए हैं। लिखित ग्रंथों की ऐतिहासिक महत्ता भी अतुल्य है। भारतीय उपमहाद्वीप के विस्तार के कारण यहां लिखित साहित्य का अस्तित्व भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वेदों, पुराणों, उपनिषदों आदि से प्राप्त दार्शनिक ज्ञान वर्तमान काल में भी सामाजिक, आत्मिक एवं धार्मिक महत्व रखता है। नृत्य, नाटक, योग, शैल्य–चिकित्सा, स्थापत्य कला से लेकर सम्राटों–राजाओं द्वारा संरक्षित लेखनी प्राचीन एवं मध्यकालीन ऐतिहासिक ज्ञान के विषय में महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मुद्रण के विकास ने आधुनिक भारतीय इतिहास में साहित्यिक विकास को गति प्रदान की है।

टिप्पणी

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में साहित्य का बड़ा योगदान है। प्राचीन एवं मध्यकालीन समाज से परे आधुनिक युग में विचारों के आदान–प्रदान अधिक सुचारू रूप से होने लगे हैं। भारतीय साहित्य के इतिहास में आधुनिक भारत के अनेकोनेक नेताओं, बुद्धिजीवियों, उपन्यासकारों का योगदान है। इस इकाई में हम भारतीय संस्कृति में साहित्य एवं कला के स्वरूप का अवलोकन करेंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय संस्कृति में व्याप्त साहित्य के स्वरूप का अवलोकन कर पाएंगे,
- भारतीय संस्कृति में कला का स्वरूप क्या हैः यह देख पाएंगे।

4.2 भारतीय संस्कृति में साहित्य का स्वरूप

समाज की सांस्कृतिक रूपरेखा के गठन में साहित्य एक बड़ी भूमिका निभाता है। वाचक साहित्यों के माध्यम से हमें प्राचीन भारतीय समाज के मूल तथ्यों का पता लगता है।

श्रुति भारतवर्ष के प्राचीनतम एवं धार्मिक रूप से सर्वोपरि ग्रंथ माने जाते हैं। हिंदू धर्म के मूल साहित्य के विषय में धर्मगुरुओं, बुद्धिजीवियों और इतिहासकारों के बीच बहस का काम होता रहा है। समय–समय पर धार्मिक व सामाजिक सुधार एवं पुनरोत्थान से जुड़े नेताओं ने श्रुति साहित्य के चार वेदों को ही हिंदू धार्मिक मान्यताओं एवं आचरण का आधार माना है।

चार वेदों को धार्मिक ग्रंथों की श्रेणी में रखा गया है। प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी हमें धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष– दोनों ही वर्गों के साहित्य से प्राप्त होती है।

श्रुति का शाब्दिक अर्थ है सुना हुआ। यह माना जाता है कि वेदों की रचना मनुष्यों ने नहीं की। मान्यता यह है कि ईश्वर की सीख को प्राचीनकाल में ऋषियों ने सुन कर अपने शिष्यों में वाणी के माध्यम से फैलाया था। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों को 'स्मृति' माना गया है, जो मनुष्य के स्मरण और बुद्धि से बने हैं एवं श्रुति ग्रंथों की ही मानवीय टिप्पणी एवं व्याख्या माने जाते हैं।

श्रुति साहित्य के अंतर्गत चार वेद आते हैं– ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इन वेदों के चार भाग होते हैं– संहिता, ब्राह्मण–ग्रंथ, आरण्य और उपनिषद्। इसके अलावा बाकी सभी धर्मग्रन्थ स्मृति के अंतर्गत आते हैं।

चारों वेदों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

- ऋग्वेद – यह सबसे प्राचीन एवं प्रथम ग्रंथ है। इस ग्रंथ में मंत्रों की संख्या 10621 है। इसमें विभिन्न देवताओं का वर्णन है एवं ईश्वर की स्तुति है।
- यजुर्वेद – इसमें क्रिया एवं यज्ञ की प्रक्रिया की जानकारी दी गयी है।
- सामवेद – इस वेद का प्रमुख विषय उपासना है। इसमें संगीत के लिये 1875 मंत्र हैं।
- अथर्ववेद – यह रोजमर्रा के कार्यों से संबंधित मंत्रों का संगठित रूप है।

प्रत्येक वेद को चार उप–भागों में विभाजित किया गया है। संहिता, आरण्यक, ब्राह्मण ग्रंथ एवं उपनिषद। वेदों की भाषा संस्कृत है। वेद एवं वेद से संबंधित साहित्य की रचना काल को लेकर विवाद है।

टिप्पणी

विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद की रचना, पहले हुई और इसके रचना के काल को C. 150-1200 ईसापूर्व निर्धारित किया गया है। कुछ इतिहासकारों ने 1700–1100 ईसापूर्व के लंबे समय अंतराल को ऋग्वेद की रचना काल के रूप में निर्धारित किया है। ऋग्वेद की रचना काल को पूर्ववैदिक या ऋगवैदिक काल भी कहा जाता है। अतः ज्यादातर किताबों में ऋग्वैदिक को 1500–1000 ई.पू. के बीच रचित बताया जाता है। ऋग्वेद इस दौर में इतिहास का एक प्रमुख स्रोत है। इतिहासकारों ने इस काल में समाज, राजनीति, महिलाओं की स्थिति, लैंगिक संबंध इत्यादि पर शोध करने के लिये ऋग्वेद का प्रयोग किया है।

इसके अतिरिक्त 3 वेद– सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद एवं वैदिक साहित्य के अन्य ग्रंथों को C. 1000-500 ई.पू. के समय में रचित बताया जाता है। इस काल को इतिहासकार 'पूर्व वैदिक काल' के रूप में जानते हैं। पूर्व वैदिक काल के साहित्यों के माध्यम से कास्य युग के अंतिम चरण एवं लौह युग के सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर जानकारी प्राप्त होती है।

वेदों एवं उनसे संबंधित साहित्य का ज्ञान स्मरण करके मुख से बोलकर और सुनकर सदियों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिया गया। मान्यता यह है कि पहली बार स्मृति पर आधारित वैदिक साहित्य का लिखित रूप 1200 ई.पू. और वेदों का मुद्रित रूप 16 शताब्दी में सामने आया। अतः हम देखते हैं कि किस प्रकार वेदों की रचना से लेकर प्रथम बार लिखे जाने व प्रथम बार मुद्रित होने के बीच सदियों का फासला है। समय–समय पर ग्रंथों के तथ्यों में बदलाव किये गये हैं और सामाजिक एवं राजनीतिक माहौल को देखते हुए वेदों में बदलाव की संभावनायें स्वाभाविक भी हैं। इसलिए इन ग्रंथों के ऐतिहासिक उपयोग में अत्यंत सावधानी का पालन करना महत्वपूर्ण है।

वैदिक कोष के अन्य ग्रंथों का भी भारतीय समाज में महत्वपूर्ण योगदान है। भारतीय प्राचीन इतिहास को वैदिक कोष के अन्य ग्रंथों के बिना पढ़ा नहीं जा सकता। ये ग्रंथ– ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद हैं और ये चारों वेदों से गहन रूप से संबंधित हैं।

ब्राह्मण ग्रंथ में वैदिक रीतियों को सही ढंग से समझाया गया है एवं उन पर टिप्पणी की गयी है। उन्नीस ब्राह्मण साहित्य अब तक अस्तित्व में हैं– दो ऋग्वेद से जुड़े हैं, छः यजुर्वेद से जुड़े हैं, दस सामवेद से जुड़े हैं और एक अथर्ववेद से। सबसे पुराना ब्राह्मण ग्रंथ 900 ई.पू. का पाया जाता है और हमारे वक्त से सबसे करीबी ब्राह्मण ग्रंथ शतपथ ब्राह्मण 700 ई.पू. का पाया जाता है।

आरण्यक साहित्य में वैदिक रीतियों एवं दार्शनिक महत्व से संबंधित विषयों की जानकारी दी गई है। सारे आरण्यक ग्रंथ एक जैसे नहीं हैं। ये अलग–अलग वैदिक विषयों पर प्रकाश डालते हैं। आरण्य का शाब्दिक अर्थ है 'जंगल' और 'आरण्यक' का अर्थ है जंगल में रहने वाले लोग जिस 'साहित्य' को पढ़ते थे। अतः ये समझा जा सकता है कि प्राचीन भारत में जंगलों के आस–पास रहने वाले छात्र अपने ऋषि गुरुओं से ये ज्ञान अर्जित करते थे।

टिप्पणी

उपनिषदों को 'वेदान्त' भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है 'वेदों का अंत' अर्थात, ये वैदिक परंपरा के अंतिम ग्रंथ हैं। उपनिषदों में दार्शनिक विषयों की जानकारी दी गयी है। इनका मुख्य उद्देश्य 'आत्मा' एवं 'ब्रह्मा' के बीच के रिश्तों को समझना है। उपनिषद ही हिंदू धर्म के अधिकतम रीति–रिवाजों और दार्शनिक विषयों की नींव हैं।

वेद ग्रंथों एवं उनसे जुड़े वेद कोष के दूसरे ग्रंथ वैदिक काल में रचित माने जाते हैं जिसका विस्तार 1500–500 ई.पू. तक है। इसके उपरांत कुछ अन्य ग्रंथ भी वेदों को समझने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्हें 'वेदांग' कहा जाता है। 'वेदांगों' की उत्पत्ति वैदिक काल के अंत में हुई। वेदांग साहित्य ऐसे विज्ञान पर आधारित हैं जो वेदों को समझने में सहायक हों।

वेदांगों के छः महत्वपूर्ण विषय हैं– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त।

- **शिक्षा** – इस साहित्य में मंत्रों को उच्चारित करने की विधि बताई गई है। वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण में ये साहित्य अति उपयोगी हैं।
- **कल्प** – इसमें कर्म के नियमित विचार दिये गये हैं। इसकी तीन शाखायें हैं– श्रोतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। इसमें यज्ञ संबंधी नियम भी दिये गये हैं।
- **व्याकरण** – 'व्याकरण' को वेदों का मुख भी कहा जाता है। वेदशास्त्रों का प्रयोजन जानने एवं शब्दों के यथार्थ ज्ञान के लिये व्याकरण की जानकारी आवश्यक है।
- **निरुक्त** – वेदों में उपयोग किये गये शब्दों का उल्लेख किस संदर्भ में हुआ है, इसकी जानकारी निरुक्त में दी गई है।
- **ज्योतिष** – इससे वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों का समय ज्ञात होता है। वैदिक ज्योतिष की मदद से यज्ञ और वेदविहित कार्यों को करने का मुहूर्त आदि की जानकारी होती है।
- **छन्द** – वैदिक शास्त्रों में गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, वृहती आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। पिंगल के छंद शास्त्र के प्रयोग से वैदिक छंदों को पढ़ने और समझने में मदद मिलती है।

भारतीय जीवनधारा में जिन धार्मिक ग्रंथों का महत्वपूर्ण स्थान है, उनमें से पुराण एक मुख्य ग्रंथ है। वैदिक काल के बाद सदियों तक वैदिक ग्रंथों को मूल आधार मानकर समय–समय पर पुराणों की रचना की गई है। 'पुराण' शब्द का अर्थ है 'पुराना'। पुराणों की रचना संस्कृत में हुई है। कुछ पुराणों में सृष्टि के आरंभ से अंत तक विवरण दिया गया है। इनमें अलग–अलग देवी–देवताओं को केंद्र मानकर पुण्य, धर्म आदि पर टिप्पणी की गई है। पुराणों में वर्णित विषय विविध हैं, उन्हें किसी एक विषय से जुड़े नहीं माना जा सकता।

इतिहासकार मानते हैं कि पुराणों की संख्या असंख्य है, परंतु मुख्य तौर पर 18 पुराणों का ही शोध के लिये प्रयोग किया जाता है। 18 पुराणों के विवरण इस प्रकार हैं–

1. **ब्रह्मपुराण** – इसे 'आदिपुराण' कहा जाता है। इसका मुख्य विषय सृष्टि, मनु की उत्पत्ति, उनके वंश का वर्णन एवं देवों और प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है।

टिप्पणी

2. **पद्म पुराण** – यह पुराण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, दुनिया एवं उसके विभिन्न रूपों का वर्णन करता है– विष्णु के दृष्टिकोण से ये सब दर्शाया गया है। ये भारत के विभिन्न स्थानों का भौगोलिक चित्रण प्रस्तुत करता है। पद्म पुराण देवनागरी और बंगाली दोनों ही भाषाओं में उपलब्ध है और दोनों की विषयवस्तु में बहुत अंतर है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत में भी पद्म पुराणों की पांडुलिपि में बहुत अंतर देखा गया है।
3. **विष्णुपुराण** – यह विष्णु को परम देवता के रूप में मानता है। इस पुराण के प्रवक्ता पराशर ऋषि और श्रोता मैत्रेय हैं।
4. **वायुपुराण** – इस पुराण में शिव का वर्णन है। अतः इस पुराण को 'शिवपुराण' भी कहा जाता है। इसमें सृष्टिक्रम, भूगोल, युगों, ऋषियों तथा तीर्थों का वर्णन, राजवंशों–ऋषिवंशों, वेद की शाखाओं, संगीतशास्त्र आदि विषयों पर बात की गई है।
5. **भागवतपुराण** – यह सर्वाधिक प्रसिद्ध पुराण है। इसमें श्रीकृष्ण भक्ति का विवरण है। यह देवीभागवतपुराण के नाम से भी जाना जाता है।
6. **नारद (बृहन्नारदीय) पुराण** – इसे 'महापुराण' के नाम से भी जाना जाता है। इसमें मोक्ष, धर्म, कल्प का निरूपण, नक्षत्र, व्याकरण, ज्योतिष आदि विषय वर्णित हैं।
7. **अग्निपुराण** – इसके प्रवक्ता अग्नि और श्रोता वसिष्ठ हैं। इस पुराण में विष्णु के अवतारों का उल्लेख है। इसमें शिवलिंग, दुर्गा, गणेश, सूर्य, भूगोल, गणित, फलित–ज्योतिष, विवाह, नीतिशास्त्र, काव्य, छन्द आदि का वर्णन है।
8. **मार्कण्डेय पुराण** – इसके प्रवक्ता मार्कण्डेय ऋषि और श्रोता क्रौष्टुकि हैं। इसमें इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि वैदिक देवताओं को वर्णित किया गया है। इसमें गृहस्थ–धर्म, श्राद्ध, दिनचर्या, नित्यकर्म, व्रत, उत्सव, अनुसूया की पतिव्रता कथा, योग आदि विषयों का वर्णन है।
9. **भविष्यपुराण** – इसमें भविष्य में घटित होने वाले घटनाक्रमों सहित मुख्यतः ब्राह्मण धर्म, आचार, वर्णाश्रम धर्म आदि विषयों का वर्णन है।
10. **लिंगपुराण** – इसमें शिव की उपासना एवं उनके अवतारों का वर्णन है। इसका रचनाकाल आठवीं–नवीं शताब्दी माना गया है।
11. **वराहपुराण** – इसमें वराह अवतार का वर्णन है। वराह स्वयं इस पुराण के वक्ता हैं।
12. **स्कन्दपुराण** – यह शिव के पुत्र कार्तिकेय/स्कन्द के नाम पर है। यह विस्तार में सबसे बड़ा पुराण है। इसमें दो खंड हैं। इसका रचनाकाल 7वीं शताब्दी माना जाता है।
13. **वामनपुराण** – इसमें विषणु के वामन अवतार का वर्णन है। इसमें चार संहिताएं हैं– (क) माहेश्वरी (ख) भागवती (ग) सौरी (घ) गाणेश्वरी। इसका रचनाकाल 9 से 10वीं शताब्दी का माना जाता है।

टिप्पणी

14. **ब्रह्मवैवर्तपुराण** – यह वैष्णव पुराण है। इसमें श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन है। इसे चार खंडों में विभाजित किया गया है– (क) ब्रह्म (ख) प्रकृति (ग) गणेश (घ) श्रीकृष्ण जन्म।

15. **कूर्मपुराण** – इसको छठी शताब्दी में रचित माना जाता है। इस पुराण में विष्णु के कूर्म अवतार के बारे में लिखा गया है।

16. **मत्स्यपुराण** – इस पुराण में कलियुग के राजाओं की सूची दी गई है। इसमें जलप्रलय का वर्णन है। इसकी रचना का समय तीसरी शताब्दी माना जाता है।

17. **गरुड़पुराण** – इसे वैष्णवपुराण भी कहा जाता है। इसके प्रवक्ता विष्णु और श्रोता गरुड़ हैं। इसमें विष्णुपूजा का वर्णन है।

18. **ब्रह्माण्डपुराण** – इसमें चार पाद हैं– प्रक्रिया, अनुषंग, उपोद्घात एवं उपसंहार।

पुराणों को वेदव्यास द्वारा लिखित माना जाता है, परंतु पुराणों की विषयवस्तु को देखकर यह कहा जा सकता है कि ये किसी एक काल एवं लेखक द्वारा रचित नहीं है। यहां वर्णित 18 पुराणों को 'महापुराण' कहा जाता है एवं इसके अतिरिक्त अनेक 'उपपुराण' भी हैं। पुराणों का उदय वैदिक युग में माना जाता है परंतु उनकी रचना 4 ई.–5 ई. तक होती रही, कुछ की उसके उपरांत भी।

पुराणों में पांच लक्षण पाये जाने चाहिए जिन्हें पंच–लक्षण भी कहते हैं। ये पांच लक्षण हैं– दुनिया की उत्पत्ति (सरगा), दुनिया की पुनःउत्पत्ति (प्रति–सरगा), मनु का काल (मानवन्तर), देवों एवं ऋषियों की वंशावली (वंश), राजकीय वंशों की पत्री (वंशानुचरित)। कुछ पुराणों में ये पांच लक्षण होते हैं और कुछ में नहीं।

धर्मशास्त्र

'धर्म' का अर्थ है जीवन यापन करने का उचित तरीका ताकि जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। इन लक्ष्यों को 'पुरुषार्थ' कहते हैं। ये 'पुरुषार्थ' हैं– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन शास्त्रों में धन एवं काम सुख को तभी उचित माना गया है, जब वह धर्म के मार्ग पर चलकर हासिल हुआ हो।

संस्कृत में रचित ग्रंथ जो धर्म की व्याख्या करते हो, उन्हें धर्मशास्त्र कहा गया है। इन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है– प्रथम दो धर्मसूत्र हैं एवं तीसरा स्मृति है। स्मृति भाग में टीका, भाष्य आदि हैं। इन स्मृति साहित्यों को 9 से 19वीं शताब्दी तक रचा गया है।

धर्मशास्त्र समूह के ग्रंथ होने के साथ ही धर्मसूत्र, वेदांग साहित्य के भी समूह का हिस्सा है। धर्मशास्त्रों में मनुष्यों के जीवनयापन के तरीकों का वर्णन है। यह मनुष्यों के जीवन को चार आश्रमों अथवा अवस्थाओं में बांटता है।

मनुष्यों को भी इन शास्त्रों द्वारा दो समूहों में रखा गया है– (1) द्विज जो ऊंचे वर्णों से ताल्लुक रखता है अर्थात 'दो बार जन्म लेने वाला', दूसरे जन्म की अवस्था तब होती है, जब व्यक्ति आत्म–साक्षात्कार प्राप्त करता है। (2) शूद्र अर्थात वर्ण व्यवस्था में सबसे निम्नस्तर के व्यक्ति जिन्हें एक बार ही जन्मा माना जाता है।

धर्मशास्त्रों के धर्मसूत्र ग्रंथों में एक द्विज पुरुष के जीवन को चार चरणों में विभाजित किया गया है– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

हिंदू समाज में धार्मिक क्रियाकलापों को पूर्ण करने, जीवन जीने के तरीके, अपराधों के लिए सजा आदि का वर्णन धर्मशास्त्रों में पाया जाता है। धर्मसूत्रों के रचना काल का कोई एक समय नहीं है। उनकी रचना समय–समय पर होती रही है।

टिप्पणी

वेदों, वेदांग साहित्यों, धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त भारत के प्राचीन साहित्य में संस्कृत में रचित महाभारत और रामायण भारतीय समाज के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

रामायण और महाभारत

रामायण और महाभारत दोनों ही महान ग्रंथ हैं जिनका विस्तार अकल्पनीय है। इन दोनों ग्रंथों को लिखे जाने का कोई एक समय तय नहीं है और इनकी विशाल कहानियों की परतों को देखकर इतिहासकारों ने इन्हें लंबे समय तक, अलग–अलग रचनाकारों द्वारा रचित माना है। महाभारत के रचनाकाल को 400 ई.पू. और रामायण के रचनाकाल को 5वीं और चौथी शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक रचित माना जाता है।

रामायण और महाभारत की कहानियों को विस्तार से पढ़कर इतिहासकारों एवं संस्कृत विद्वानों ने समाज के अनेक पहलुओं पर रोशनी डाली है। प्राचीन समाज में राजवंशों के इतिहास, महिलाओं की दशा आदि विषयों की जानकारी हमें रामायण व महाभारत से प्राप्त होती है।

रामायण एक नहीं बल्कि अनेक भाषाओं एवं क्षेत्रों में रचित है और विभिन्न कहानियों को अपने अंदर समाये हुये है। अलग–अलग रामायणों में अलग कहानियां हैं और कुछ रामायण तो मुख्य रामायण से विरोधाभास भी रखते हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में रचित रामायण में प्रमुख हैंः तमिल में रचित कंबनरामायण, बुद्धिस्ट समाज में रचित दशरथ जातक, जैन समाज में प्रचलित पऊमाचरिय, तुलसीदास का रामचरितमानस आदि।

महाभारत और रामायण की कहानियों ने अनेक वर्षों से भारतीय समाज की कल्पना को प्रभावित किया है। सिर्फ भारत के भीतर ही नहीं बल्कि भारत के बाहर भी रामायण और महाभारत जैसे साहित्यों को शोध करने के लिये प्रयोग में लाया गया है।

बौद्ध एवं जैन साहित्य

प्राचीन बौद्ध साहित्य का भी उपयोग इतिहासकारों और विद्वानों द्वारा समाज को समझने के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथों का महत्व बौद्ध धर्मावलंबियों के लिये भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के अन्य हिस्सों में भी प्रसिद्ध हैं। चीनी यात्री बौद्ध धर्म को समझने की खोज एवं असल बौद्ध साहित्यों की तलाश में समय–समय पर भारत आते रहे हैं।

जातक साहित्य – ये बौद्ध साहित्य का अत्यंत प्राचीन अंग है। जातक कथाओं में भगवान बुद्ध के पूर्व जीवन के बारे में कहा गया है। ये कथायें काल्पनिक हैं, परंतु ये प्राचीन समाज का चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं।

पिटक साहित्य – सत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक ये तीन पिटक के नाम हैं। इन्हें एक साथ त्रिपिटक कहते हैं अर्थात तीन पिटकों का संग्रह। सत्तपिटक में महात्मा बुद्ध के उपदेशों का संकलन है। विनयपिटक में बुद्ध के नियमों का विवरण है। अभिधम्मपिटक में बुद्ध धर्म से संबंधित दार्शनिक तथ्यों को लिखा गया है।

जातकों और पिटकों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ जिनसे बुद्ध द्वारा सिखाये गये मार्गों की जानकारी प्राप्त होती है, वह है–बुद्धचरितम। बुद्धचरितम एक ऐसी पुस्तक है जिसमें बुद्ध के चरित्र के बारे में जानकारी मिलती है। यह महाकवि अश्वघोष द्वारा रचित है।

टिप्पणी

'मिलिंदपान्हो' एक ग्रंथ है, जिसमें हिंदू–यूनानी राजा मैनेन्दर और बुद्ध भिक्षु नागसेन के संवाद लिखे हैं। इसमें उत्तर–पश्चिमी तत्कालीन भारतीय समाज की झलक मिलती है।

'दिव्यावदान' में मौर्यकालीन सम्राट अशोक और उनके पुत्र कुणाल एवं अन्य कई राजाओं की कथा का वर्णन है। 'मंजूश्रीमूलकल्प' में गुप्त सम्राटों का विवरण है। इसमें कुछ राजाओं की जानकारी भी मिलती है।

उपरोक्त साहित्यों के माध्यम से हमें बौद्ध धर्म एवं भारतीय समाज की जानकारी प्राप्त होती है। वर्तमान समय में हम जिसे भारतवर्ष कहते हैं, उसके अतिरिक्त आज के श्रीलंका से भी हमें पालि भाषा में रचित महाकाव्य मिलते हैं। इससे श्रीलंका पर बौद्ध धर्म का प्रभाव एवं श्रीलंका और भारत के आपसी संबंधों का भी पता चलता है।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म एक ही ऐतिहासिक काल की उपज हैं। प्राचीन भारतीय समाज को जानने के लिये हमें जैन साहित्यों पर भी प्रकाश डालना होगा। जैन साहित्य–संसार अत्यंत विकसित एवं विस्तृत है। जैनों की किताबों को संग्रहित रूप से सिद्धांत या अगम कहा जाता है। इस संग्रह में 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, अनुयोग सूत्र और नन्दी सूत्र आते हैं।

जैन–आगम में सर्वाधिक महत्वपूर्ण– 12 अंग हैं। आचारांगसूत्र में जैन भिक्षुओं द्वारा पालन किये जाने आचार–नियमों का वर्णन है। भगवती सूत्र में जैन तीर्थंकर महावीर के जीवन एवं अन्य समकालीनों के साथ संबंधों का वर्णन मिलता है। इस सुत्त (सूत्र) में महावीर का संवाद अपने शिष्य इन्दुभूति के साथ प्रस्तुत किया गया है, जिससे जैन सिद्धांतों का पता चलता है। नायाधम्मका सुत्त में कथा, पहेलियां आदि वर्णित हैं। उवासगदसओं (उपासकदशा) सुत्त में जैन तपस्या की शक्ति पर बल दिया गया है और उन व्यापारियों के बारे में बताया गया है, जिनको तपस्या के बल पर स्वर्ग प्राप्त हुआ।

इसके अतिरिक्त बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छेदसूत्र आदि जैन ग्रंथ हैं। इनमें जैन धर्म के बारे में अनेक जानकारियां मिलती हैं। जैन साहित्य 'मूलसूत्र' की संख्या चार है। इन मूलसूत्रों में जैन धर्म के उपदेश, भिक्षुओं के नियमों आदि का वर्णन है। यह चार मूलसूत्र हैं– उत्तराध्ययन, षडावश्यक, दशवैकालिक तथा पिण्डनिर्युक्ति। इसके अतिरिक्त नन्दीसूत्र और अनुयोग–द्वार में भिक्षुओं के आचरण के बारे में लिखा है। ये स्वतंत्र ग्रंथ हैं।

उपरोक्त सारे ग्रंथ श्वेताम्बर जैन संप्रदाय के लिये हैं। दिगम्बर संप्रदाय के अनुयायी दिगंबर जैन भद्रबाहु तथा उनके अनुयायियों की शिक्षा को मानते हैं।

संगम साहित्य

दक्षिण भारत में 300 ई.पू. के आसपास के समय को 'संगम काल' के रूप में जाना जाता है। इस काल में दक्षिण भारतीय समाज की जानकारी हमें उन साहित्यों से प्राप्त होती है, जो संगम अर्थात् तमिल कवियों के समागम में रचे गये। ये संगम संभवतः

प्रमुखों एवं राजाओं के संरक्षण में संपन्न हुए। यह मान्यता है कि प्राचीन दक्षिण भारत में तीन संगम आयोजित किये गये।

टिप्पणी

इस काल की जानकारी के लिये इतिहासकार संपूर्ण रूप से 'संगम साहित्य पर निर्भर हैं। ये साहित्य तमिल भाषा में रचित हैं। इस युग की कुछ मुख्य रचना हैः तोलकाप्पियम् (लेखक तोलकाप्पियर), इसे द्वितीय संगम में रचित माना जाता है। यह ग्रंथ मुख्यतः व्याकरण से संबंधित जानकारी प्रदान करता है। उस काल की सामाजिक–आर्थिक स्थितियों की जानकारी भी हमें इस ग्रंथ से प्राप्त होती है।

एतुत्तौके (अष्ट संग्रह) को तीसरे संगम में रचित माना जाता है। ये आठ ग्रंथ निम्नलिखित हैं– नण्णिनै, कुरुन्थौके, एनकुरुनुर, पदित्तप्पत्तु, परिपादल, कलिथौके, अहनानरु, पुरुनानरु।

पत्तुप्पातु (दशगीत) दस कविताओं का संग्रह है। यह तृतीय संगम में रचित माना जाता है। पदिनेकिल्लकणक्कु 18 कविताओं का संग्रह है। इन कविताओं में से एक है, तमिल के महान कवि तिरुवल्लुवर द्वारा लिखित तिरुक्कुरल। इसे तमिल भाषा का बाईबल एवं पंचम वेद भी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त दो महाकाव्य शिलप्पादिकारम जो इलांगोआदिगल' द्वारा रचित है एवं 'मण्डिमेखलै' कि 'सीतलैसत्तानार' द्वारा रचित है– उस समय के समाज एवं राजनीति के विषय में अच्छी जानकारी देते हैं।

भारत के दक्षिणी भाग में प्रचलित भाषाएं जैसे कन्नड़, तेलुगु आदि में भी कुछ साहित्य प्राचीन काल से प्राप्त हुए हैंः कन्नड़ भाषा का सबसे प्राचीन साहित्य 'कविराजमार्ग' (कवियों का शाही मार्ग) है। ये हमें नौवीं शताब्दी से प्राप्त होता है। इस साहित्यिक रचना में हमें 9वीं शताब्दी से पहले के कन्नड़ रचयिताओं एवं उनकी रचना की जानकारी प्राप्त होती है।

कन्नड़ साहित्य में से दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्य रचनाकार पम्पा, पोन्ना और रन्ना की कृतियों में हमें जैन धर्म के सामाजिक प्रभाव का पता चलता है। पम्पा की रचनाओं में प्रमुख हैं आदि पुराण और विक्रमारजुनविजय। पोन्ना द्वारा लिखित संस्कृत एवं कन्नड़ विषय में रचनायें प्रसिद्ध हैं। उन्हें दोनों भाषाओं में निपुण होने के कारण 'उभाया कवि चक्रवर्ती' की उपाधि दी गयी है, जिसका अर्थ है, 'दोनों भाषाओं के राजकीय कवि।'

तेलुगु साहित्य में प्राचीनतम् साहित्य है नन्नाया की रचना। इस रचना में महाभारत का चित्रण है। तिक्काना ने नन्नाया के महाभारत में 15 पर्व जोड़े। उनकी दूसरी रचना का नाम 'उत्तारामायानामु' है। तेलुगु साहित्य अपने पराकाष्ठा पर चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर शासक कृष्णदेवराय के काल में पहुंचा।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत में रचित एवं प्रचलित काव्य, नाटक एवं अन्य साहित्यों के विवरण कुछ इस प्रकार हैं–

अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' नामक ग्रंथ लिखा जो उनके अनुसार एक महाकाव्य है। इसके अतिरिक्त अश्वघोष ने सरीपुत्र–प्रकरन और सौंदरानंद की रचना की। भाष ने अनेक नाट्यशास्त्रों की रचना की, जैसे– पंचरात्र, दुतावाक्या, बालचरिता और स्वपना–वासवदत्ता। अश्वघोष और भाष– दोनों ही संस्कृत भाषा के रचनाकार हैं।

टिप्पणी

संस्कृत के सबसे प्रसिद्ध लेखकों में से हैं–कालिदास। उनके रचनाकाल को चौथी या पांचवीं शताब्दी का माना जाता है। उनके प्रमुख नाट्य हैं– अभिज्ञान–शाकुंतलम, मालविका–अग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और काव्य संग्रह– रघुवंशम, कुमारसंभव और मेघदूत।

विशाखदत्त द्वारा रचित मुद्राराक्षस से हमें चंद्रगुप्त मौर्य के राजगद्दी पर बैठने से संबंधित महत्वपूर्ण राजनीतिक जानकारी प्राप्त होती है। लोक–कथाओं के संग्रह पंचतंत्र एवं कथासरितसागर से हमें समाज में प्रचलित कथाओं और कहानियों के बारे में पता चलता है।

इन साहित्यों के अतिरिक्त भारतीय प्राचीन एवं पूर्व–मध्यकालीन युग में अनेक दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विषयों पर भी रचना हुई है। इन रचनाओं का अर्थ मात्र साहित्य का सौंदर्य एवं सामाजिक पक्षों से जुड़ा न होकर औषधि, योग, अंतरिक्ष आदि से भी जुड़ा है। इनसे हमें विज्ञान एवं तकनीक के विषय में प्राचीन भारत के योगदान और संबंधित पक्ष की जानकारी मिलती है।

भारत में रचित साहित्य के अतिरिक्त विदेशी मूल के रचनाकारों की कृतियां भी तत्कालीन समाज को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। विदेशी लेखकों एवं यात्रियों के वृत्तांतों के माध्यम से हमें अनेक जानकारी प्राप्त होती है। मैगस्थनीज द्वारा रचित इंदिका हमें चंद्रगुप्त मौर्य के शासन का विवरण देती है। यूनानी एवं लैटिन रचनाकारों की कृतियां भी बहुत महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं। इनमें से मुख्य अ[illegible]

मिलकर उर्दू भाषा की प्रगति के लिए कार्य किया। अठारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में उर्दू भाषा की रचनायें मुगल दरबार में प्रचलित रूप लेने लगीं।

पूर्व मध्यकाल से लेकर दिल्ली सल्तनत और मुगल काल के दौरान भारत साहित्य के क्षेत्र में विकसित होता रहा। संस्कृत, फारसी एवं क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य रचे गये और आधुनिक युग की पृष्ठभूमि का निर्माण भी हुआ। सूफी एवं भक्ति काव्यों के माध्यम से कवितायें एवं कृतियां लोक समाज में पहुंचीं और प्रचलित हुईं।

टिप्पणी

साहित्य का विकास और आधुनिक भारत

अठारहवीं शताब्दी को प्रारंभिक आधुनिक काल भी कहा जाता है। यह समय मध्यकाल और आधुनिक काल के बीच का समय है। राजनीतिक और सामाजिक तौर पर इसे 'परिवर्तन' का मुख्य काल मानते हैं। 'परिवर्तन' के काल के रूप में इस युग का साहित्यिक विकास ऐतिहासिक रूप से रोचक भी है। इसके उपरांत अंग्रजी शासन का उदय और भारतीय सामाजिक गतिविधियां एक उपनिवेशिक राष्ट्र की पृष्ठभूमि के तहत देखी जाती है, जो 1947 में भारत की आज़ादी और विभाजन के साथ समाप्त होती हैं।

1947 से इक्कीसवीं शताब्दी में हो रहे साहित्यिक विकास को हम औपनिवेशिक और वर्तमानकालीन इतिहास के रूप में जानते हैं।

अंग्रेज़ों के भारत आने के बाद भारतीय साहित्य के अंतर्गत फारसी, संस्कृत, क्षेत्रीय भाषाओं के साथ ही अंग्रेजी भाषा के साहित्य भी रचित होने लगे। मध्यकालीन भारतीय साहित्यिक शैली में अंग्रेज़ी साहित्यिक शैली का उदय हुआ। भारत के शिक्षित वर्ग ने नॉवेल (उपन्यास), फिक्शन (काल्पनिक), लघु कहानियां (शॉर्ट स्टोरीज) आदि शैलियों को अंग्रेज़ी साहित्य से लेकर भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में लिखना शुरू किया। अन्य यूरोपीय देशों का भारतीय भूमि में आगमन और अंग्रेज़ी शासन व्यवस्था ने भारतीय समाज को पाश्चात्य विचारों, तरीकों एवं साहित्य की झलक दिखाई। इससे प्रेरित होकर भारत में नई साहित्यिक चेतना का उदय हुआ।

'बंगाल का पुनरोत्थान' नाम से जिस वैचारिक आंदोलन को उन्नीसवीं सदी से जाना जाता है, उसी वैचारिक आंदोलन के मध्य में नई साहित्यिक चेतना का उदय भी है। बंकिम चंद्र चटर्जी इस क्षेत्र में सबसे प्रख्यात रचनाकार माने जाते हैं। उनकी कुछ प्रमुख कृतियों ने बंगाल के साहित्य का दशकों तक दिशानिर्देश किया, विषवृक्ष (1873) में चटर्जी ने कुलीन वर्ग की विधवा स्त्रियों की चर्चा की, जिन्हें पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। उनकी राजसिंघा (1881), आनंदमठ आदि उस काल की मुख्य रचनाएं हैं। कांग्रेस की उत्पत्ति के साथ ही उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी चरण में राष्ट्रवादी आंदोलन की शुरुआत होती है, जिसके बाद अनेक राष्ट्रावादी पत्र, पत्रिकायें, किताबें आदि भारतीय लेखकों द्वारा लिखी जाती हैं।

इस दौर में महिलाओं के बारे में भी लेख, कहानियां और किताबें लिखी जा रही थीं। बदलते हुए विश्व में बीसवीं शताब्दी में महिलाओं का समाज में स्थान एवं उनके प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार को चटर्जी, टैगोर आदि ने अपनी कहानियों में व्यक्त किया। उन्होंने महिलाओं का चित्रण मार्मिक रूप से किया, जिसमें महिलाओं की दुविधा, घर में स्थान एवं समाज में उनकी जगह को लेकर बात की गई है।

टिप्पणी

बाबा पदमांजी की 'यमुना पर्यटन' (1857), टैगोर की 'चोखेर बाली' (1901) जिसको बाद में विनोदिनी के नाम से 1968 में प्रकाशित किया गया और मेनन की 'इंदूलेखा' (1889)– उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय साहित्य के उच्चतम उदाहरण हैं। तोरु दत्त, सरोजिनी नायडू जैसे प्रख्यात लेखकों ने अंग्रेजी में कवितायें लिखीं। कविताओं का विकास अनेक क्षेत्रीय भाषाओं में हुआ। सुब्रमण्यम भारती ने तमिल भाषा में अंग्रेजी शासन से आज़ादी की भावना से ओत–प्रोत कवितायें लिखीं। हिन्दी रचनाकार भी अपनी रचनाओं के माध्यम से अलग–अलग पक्षों पर कहानी एवं कवितायें लिखने लगे। उस दौर के प्रमुख नाम हैं– सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा आदि।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर एवं बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में महिला सर्जक कहानी एवं कविताओं से समाज की मार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते रहे। पंडिता रमाबाई ने हिन्दू समाज की उच्च स्तर की महिलाओं की दुविधाओं और सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में गांधी के राजनीतिक पटल पर उदय के बाद 1920–1930 के दौरान अनेक रचनायें की गईं जिनमें भारतीय समाज का चित्रण है।

महात्मा गांधी का उदारपूर्ण नेतृत्व और विश्वभर में किसानों, मजदूरों और आम जनता के लिये उठते स्वरों ने भारतीय साहित्य को प्रभावित किया। हिन्दी एवं उर्दू में लिखने वाले और 'शब्दों के जादूगर' माने जाने वाले प्रसिद्ध सर्जक प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में उत्तर भारत के छोटे किसानों एवं मजदूरों के संघर्ष को कागज़ पर उतारा। प्रेमचन्द की गोदान (1968) आज भी पढ़ी जाने वाली मार्मिक साहित्यिक रचनाओं में से एक है। इसी दौरान उपन्यासकार मानिक बंदोपाध्याय का उपन्यास 'पुतुल नाचेर इतिकोथा' ग्रामीण बंगाल की छवि प्रस्तुत करता है। मुल्कराज आनंद की 'कुली' (1936) और 'अनटचेबल' (1935) में हमें आधुनिक भारतीय लेखन के सामाजिक उत्थान का लक्ष्य दिखाई पड़ता है। इस दौर में आर.के. नारायण की लेखनी अपनी कहानियों के पात्रों एवं उनके रोजमर्रा के जीवन पर प्रकाश डालती है।

इस युग में महान भारतीय नेताओं एवं स्वतंत्रता सेनानियों की आत्मकथा का भी दौर चला। महात्मा गांधी की आत्मकथा 'माई एक्सपेरीमेन्ट्स विथ ट्रुथ' (1929) बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त जवाहरलाल नेहरू की लिखी आत्मकथा (एन ऑटोबायोग्राफी) 1936 में लिखी गई।

1947 के बाद भारतीय स्वतंत्रता और विभाजन ने भारतीय साहित्य में नई कहानियों और रचनाओं को जन्म दिया। यू.आर. अनंतमूर्ती का कन्नड़ उपन्यास 'सम्स्कार', हिन्दी के रचनाकार श्रीलाल शुक्ल की कृति 'राग दरबारी' आदि में भारत के विभिन्न प्रांतों की सामाजिक एवं राजनीतिक छवि साकार होती है। भारतीय साहित्य के विकास में कवियों, कहानीकारों और उपन्यासकारों के योगदान के अतिरिक्त नाट्य की रचना एवं निर्देशन करने वाले प्रतिभाशाली नाटक लेखकों का भी योगदान है। मराठी नाटक के इतिहास में विख्यात विजय तेंदुलकर ने टिप्पणी और हास्य का प्रयोग करके मराठी समाज के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। गिरीष कर्नाड के कन्नड़ नाटक हयावदाना (1971) और नागामंडल (1990) साहित्य के विकास को समझने में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

1950 से 1970 के दशक में 'प्रगतिशील लेखकों' ने साहित्य में योगदान दिया। उर्दू लेखकों के प्रसिद्ध नाम इस्मत चुगतई, कुरातुलेन हैदर आदि हैं। ये सामाजिक कड़ियों पर मार्मिक रचना के लिये जाने जाते हैं। महिला लेखकों में एक प्रसिद्ध नाम है– महाश्वेता देवी।

टिप्पणी

इसी दौर में हमें लेखनी के माध्यम से जातिवाद की प्रथा का विरोध एवं 'दलित साहित्य' का उदय भी देखने को मिलता है। वसंत मून, नामदेव धंनसाल इस क्षेत्र के प्रमुख नाम हैं। इस क्षेत्र में दलित समाज से उदित भारत के प्रथम कानून मंत्री और संविधान के गठन में मुख्य भूमिका निभाने वाले नेता, बुद्धिजीवी एवं लेखक बी. आर. अंबेडकर का भी योगदान महत्वपूर्ण है। उनकी किताबें मुख्यतः अंग्रेजी भाषा में लिखी गई हैं– 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट', 'हू वर द शूद्रास?' आदि किताबों में जाति व्यवस्था के खिलाफ कटाक्ष है एवं एक समान समाज की स्थापना की बात की गई है।

भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के साथ ही 1947 के बाद की रचनाओं में विभाजन की पीड़ा और विस्थापित जनता की पीड़ा का मार्मिक चित्रण मिलता है। खुशवंत सिंह की 'द ट्रेन टु पाकिस्तान' और सादत हसन मंटो की विभाजन से संबंधित लघु कथाओं में हमें उस समय के सामाजिक और राजनीतिक सत्यों की जानकारी प्राप्त होती है।

वर्तमान काल में भी भारत के साहित्यकार देश और दुनिया में जाने जाते हैं। इक्कीसवीं शताब्दी में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के लेखक ज्यादातर अंग्रेजी में लिख रहे हैं। क्षेत्रीय भाषाओं में भी रचनायें हो रही हैं। वर्तमान सर्जक ज्यादातर अपने पाठकों के रूप में अंग्रेजी पढ़ने वाले वर्ग को देखता है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी में लिखित कहानियां एवं उपन्यास अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी पढ़े और सराहे जाते हैं। इस दौर के कुछ प्रसिद्ध भारतीय साहित्यकार हैं– अरुंधती रॉय, विक्रम सेठ, झूम्पा लाहिरी, अनिता देसाई, चेतन भगत आदि। इसमें से कुछ की कहानी भारत और विश्व के संबंध, विस्थापन आदि मार्मिक विषयों का चित्रण करती है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. दैनिक जीवन के कार्यों से संबंधित मंत्रों का संगठित रूप कौन–सा वेद है?
   (क) ऋग्वेद (ख) सामवेद
   (ग) अथर्ववेद (घ) यजुर्वेद
2. वर्तमान साहित्यकारों में कौन–सा नाम शामिल नहीं है?
   (क) अरुंधती राय (ख) चेतन भगत
   (ग) सादत हसन मंटो (घ) ममता कालिया

4.3 भारतीय संस्कृति में कला का स्वरूप

भारतीय कला के नमूने हमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक प्राप्त होते हैं। भित्तिचित्र, वास्तुकला, गुफाओं में उत्कीर्ण चित्र, मूर्तियाँ, लेख एवं चट्टानों को तराशकर बनाए गए स्तूप, मंदिर, चैत्य आदि– भारतीय कला की विविधता को दर्शाते हैं।

टिप्पणी

प्राचीन भारतीय कला के रूप में हमें भारतीय उपमहाद्वीप के भिन्न–भिन्न स्थानों से चित्र, पाषाण कला, मूर्तियां, वास्तुकला आदि से संबंधित साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। पुरातत्व–विदों और इतिहासकारों ने विभिन्न वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग कर इन कलाकृतियों के समय काल का आकलन किया है।

भारतीय कला को सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज अधिकारियों ने कुछ भारतीयों के साथ मिलकर समझने की कोशिश की। तत्पश्चात् भारतीय कला के विषय में विस्तृत जानकारी समय–समय पर प्राप्त होती रही। अमेरिकी और यूरोपीय विश्वविद्यालयों में संस्कृति और कला एक संपूर्ण संकाय के रूप में विकसित है। भारतीय कला के एक विषय के रूप में विकसित होना अभी भी प्रगतिशील स्तर पर है। विश्व के कई विश्वविद्यालयों और भारत में भी यूनिवर्सिटी स्तर पर कला की शिक्षा दी जाती है। विदेशी विश्वविद्यालयों में विभिन्न तकनीकों और सैद्धांतिक तंत्रों के प्रयोग से कला और संस्कृति के अनेकानेक विषयों को पढ़ाया जाता है, जिसमें से पूर्वी देशों की कला में भारत का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय कला को समझने की शुरुआत हम प्रागैतिहासिक काल से करते हैं। प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य पाषाणों पर निर्भर था, पाषाणों से ही मनुष्य तरह–तरह के औजार बनाता था। औजारों के माप और आकार को पुरातत्व–वेत्ताओं ने पढ़कर अलग–अलग औजारों को श्रेणियों में विभाजित किया है। पाषाण काल को उसी तरह से तीन भागों में विभाजित किया गया है– पुरा पाषाण काल, मध्य पाषाण काल और उत्तर पाषाण काल। पुरा पाषाणकाल को आगे तीन भागों में विभाजित किया गया है– निम्नपुरापाषाण काल, मध्यपुरापाषाण काल और उत्तर या उच्चपुरापाषाण काल। हमें दुनियाभर के अलग–अलग जगहों से उच्चपुरापाषाण कालीन कला के उदाहरण मिलते हैं। भारत में भी हमें उच्चपुरापाषाण काल के कला के नमूने मिलते हैं। गुफाओं में बने शैल्यचित्रों में मनुष्यों के चित्र, मनुष्यों के क्रियाकलाप, ज्यामितीय आकृतियां एवं अन्य प्रतीकात्मक चित्र शामिल हैं। भारत में उच्च पुरापाषाण काल के अनेक चित्र मिले हैं। यह मुख्यतः गुफाओं और चट्टानों के दीवार पर बने हैं। इन चित्रों में मनुष्य, जानवर और अलग–अलग ज्यामितीय आकृतियां बनी हुई हैं। चट्टानों पर बने चित्रों के अवशेष हमें मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और बिहार से मिलते हैं। कुछ चित्र कश्मीर एवं कर्नाटक से भी प्राप्त हुए हैं।

सर्वाधिक अच्छी स्थिति में चित्र मध्य प्रदेश के भीमबेटका नामक स्थान से मिले हैं। पुरातत्व–वेत्ता वी.एस वाकणकर ने 1957–58 में भीमबेटका की खोज की। भीमबेटका की गुफायें भोपाल (मध्य प्रदेश) से लगभग 45 किमी. दूर हैं। यहां 800 गुफाओं में से लगभग 500 में चित्र पाये जाते हैं। वाकणकर की इस महत्वपूर्ण खोज के बाद पुरातत्व–वेत्ता एवं कला विशेषज्ञ कई वर्षों तक भीमबेटका के चित्रों के विषय में खोज करते रहे। भीमबेटका के चित्रों को शैलियों, तकनीक एवं अध्यारोपण के आधार पर कई श्रेणियों में विभाजित किया गया। इन चित्रों को सात ऐतिहासिक समय काल में विभाजित किया गया है– I- उत्तर–पाषाणकाल, II- मध्यपाषाण काल, III- ताम्रपाषाण काल, जिसे आगे 4 भागों में विभाजित करके देखा गया है।

चित्रों में रोजमर्रा के जीवन की अनेक जानकारियां हमें प्राप्त होती हैं। शेर, हाथी, बाइसन, जंगली सूअर आदि के चित्र हमें उस काल के प्राकृतिक इतिहास की

टिप्पणी

एवं जीव–जंतुओं की जानकारी प्रदान करते हैं। इन चित्रों से लोगों की जीवन शैली का भी पता चलता है। शिकारियों और नृत्य करते हुए मनुष्यों के चित्र, समूहों के शिकार खेलते मनुष्य, मनुष्यों को खदेड़ते जानवर और जानवरों को खदेड़ते मनुष्य– ये सारे दृश्य हमें समाज के विषय में जानकारी देते हैं। भीमबेटका की गुफाओं में मनुष्यों और जानवर के बीच के संबंधों का पता लगता है। अलग–अलग रंग की चट्टानों को पीसकर लाल, हरा आदि रंग से चित्रों को दर्शाया गया है। चूना पत्थर के प्रयोग से सफ़ेद रंग से आकृतियां बनाई गई हैं।

महिलाओं के चित्र भी हैं जो उनके रहन–सहन को दर्शाते हैं। बच्चों को दौड़ते, भागते, खेलते और कूदते दिखाया गया है। यह स्थिति सामूहिक नृत्य एवं प्राचीन सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश डालती है। सिर्फ दीवारों पर ही नहीं, बल्कि गुफाओं की छतों और निर्जन स्थानों पर भी चित्र मिले हैं। ये किसी धार्मिक कार्य के लिए उपयोगी रहे होंगे। प्राचीन काल में बदलते पाषाण युग के अलग–अलग मुख्य लक्षणों का अंकन भी हमें गुफाओं के चित्रों से मिलता है। कई स्थानों पर कलाकृतियों के ऊपर दूसरी कलाकृतियां बनी हैं, जो उस स्थान के महत्व को दर्शाती हैं। सिंधु घाटी सभ्यता से लिमे अवशेष भारत के प्राचीन काल में प्रचलित कला के अतुल्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सिर्फ भारत की ही नहीं बल्कि विश्व की दूसरी प्राचीन सभ्यताओं को समझने के लिये भी सिंधु घाटी सभ्यता से मिले अवशेषों को जानना महत्वपूर्ण है।

सिंधु घाटी सभ्यता भारतीय उपमहाद्वीप में उत्तर पश्चिमी दिशा में बहुत दूर तक फैली हुई थी। पुरातत्व–वेत्ता मानते हैं कि सिंधु घाटी सभ्यता वर्तमान के पाकिस्तान में स्थित सिंध प्रांत से लेकर वर्तमान के पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात एवं महाराष्ट्र तक विस्तृत थी। इन प्रांतों के भिन्न–भिन्न स्थानों से खुदाई और खोज में अनेक कला से संबंधित वस्तुएं प्राप्त हुई हैं।

कुछ पत्थरों से बनी मूतियां भी प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक है दाढ़ी वाला मनुष्य (द बियर्डेट मैन) जिसे किसी प्रकार का अनुष्ठान करवाने वाला पुजारी माना गया है। दूसरा है मनुष्य का शरीर जो लाल बलुआ पत्थर से बना है।

हमें सिंधु घाटी सभ्यता से तरह–तरह के मृदभांड में मिले हैं। साधारण मृदभांड की संख्या चित्रित मृदभांड से ज्यादा है। साधारण मृदभांड मुख्यतः लाल बलुआ पत्थर से बने हुए हैं। इस सभ्यता में पाये गये मृदभांड अलग–अलग कार्यों के लिये प्रयोग में आते थे। कुछ में पकड़ने का नॉब है, कुछ में सुंदर आकृतियां बनी हैं। चित्रित मृदभांड के ऊपर लाल रंग की स्लिप है, जो महीन परत से निर्मित है एवं उस पर ज्यामितिय एवं जानवरों की आकृतियां बनी हैं। छलनीदार मृदभांड भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हें संभवतः शराब छानने के लिये प्रयोग किया जाता था। मृदभांड अलग–अलग आकार के प्राप्त हुए हैं। छोटे और आकर्षक मृदभांड भी प्राप्त हुए हैं।

कांस्य प्रतिमायें भी इस सभ्यता से प्राप्त हुई हैं। कांस्य प्रतिमाओं में सबसे जरूरी 'नृत्य करती हुई लड़की' की प्रतिमा है। पकी मिट्टी से बनी तरह–तरह की वस्तुयें और मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। पक्की मिट्टी से बने खिलौने, चिड़ियाँ, जानवर, डिस्क आदि सिंधु घाटी सभ्यता के मिले हैं।

सिंधु घाटी सभ्यता से एक बहुत जरूरी पुरातत्वी खोज सामने आई है– मुहर। मुहरें अलग–अलग धातुओं, पत्थरों और पकी हुई मिट्टी से बनी हैं। मुहरों के निर्माण

और प्रयोग के अलग–अलग कारण हो सकते हैं। कुछ मुहरों को तावीज़ की तरह बाजुओं में पहना जाता था, कुछ को सजावट या खेल के लिये उपयोग में लाया जाता था और कुछ मुहरें लेन–देन में काम आती थीं।

टिप्पणी

सिंधु घाटी सभ्यता की मिली मूहरों पर अंकित जानवरों, ज्यामितीय आकृतियां एवं देवी–देवताओं से प्रतीत होने वाले चित्रों से हमें उस सभ्यता में मनुष्यों के जीवन यापन स्तर के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त होती है। एक महत्वपूर्ण आकृति की मुहर है, जिसे पुरातत्व–वेत्ता 'पशुपतिनाथ की मुहर' मानते हैं। उसके ऊपर शिव के अवतार–सा एक चित्र अंकित है, जिसके चारों ओर जानवर हैं। संभव है कि ये शिवभक्ति की शुरूआत हो और यह भी संभव है कि इसका कोई और महत्व हो।

सिंधु घाटी सभ्यता में विभिन्न प्रकार के गहने, मनका आदि प्राप्त हुए हैं। विभिन्न धातुओं एवं पत्थर के बने मनके सिंधु घाटी सभ्यता के अलग–अलग स्थानों से प्राप्त हुए हैं। आकर्षक मनकों के अलावा पत्थरों, सोने एवं अन्य धातुओं से बने हार, बाजूबंद और अंगूठियां प्राप्त हुई हैं। इन वस्तुओं से हमें सिंधु घाटी सभ्यता के लोगों की जीवन शैली का पता चलता है।

कला और संस्कृति से जुड़े प्रश्न और सामाजिक–राजनीतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण के लिये सिंधु घाटी सभ्यता से प्राप्त समस्त वस्तुयें अत्यंत उपयोगी हैं। सिंधु घाटी सभ्यता से जुड़े लिखित दस्तावेज नहीं है और मुहरों आदि पर अंकित लिपि को अब तक समझा नहीं जा सका है। फिर भी भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास को समझने के लिये ये वस्तुयें अतुल्य स्थान रखती हैं। भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थानों और धार्मिक अनुष्ठानों की उत्पत्ति पर भी ये वस्तुएं और कलाकृतियां प्रकाश डालती हैं।

सिंधु घाटी सभ्यता के युग और सांस्कृतिक इतिहास के बाद प्राचीन भारत में छठी शताब्दी के समय में बौद्ध एवं जैन धर्म का विकास हुआ। इसी समय के बाद और इन धर्मों के प्रभाव से हमें अलग–अलग समयकाल की राजवंशों द्वारा निर्मित कलाकृतियां प्राप्त होती हैं। ये कलाकृतियां भारतीय कला के इतिहास को समझने में अत्यंत आवश्यक हैं।

मौर्य काल में निर्मित स्तंभ, उन पर उत्कीर्ण लेख, यक्ष–यक्षिणी की मूर्तियां, स्तूप आदि हमें मौर्य काल के सामाजिक–राजनीतिक और आर्थिक जीवन–स्तर की जानकारी देते हैं। इसके अतिरिक्त हमें मौर्य समाज के धार्मिक पक्ष की जानकारी भी मिलती है। गुफाओं को काटकर स्तूपों आदि का निर्माण, विभिन्न जानवरों की मूर्तियां आदि हमें प्राचीन भारत के महत्वपूर्ण एवं आकर्षक कला–इतिहास को दिखाती हैं।

बौद्ध परंपराओं के प्रभाव से मौर्य शासकों ने अनेक विहार, स्तंभ एवं स्तूपों का निर्माण किया। मौर्य सम्राट अशोक ने अपने शासनकाल में बौद्ध धर्म से जुड़े अनेक धार्मिक स्थल, स्तंभ एवं गुफायें बनवाईं।

पत्थरों से तराशे गये अनेक स्तंभ, मौर्यकाल में निर्मित हुए। इन स्तंभों में अद्भुत कलाकारी की झलक मिलती है। इनमें से अशोक द्वारा बनवाए हुए स्तंभ संपूर्ण उत्तर भारत में भिन्न–भिन्न स्थानों पर फैले हुए हैं।

स्तंभों के ऊपरी शिरों पर बैल, शेर, हाथी आदि की प्रतिमायें बनी हैं। इन प्रतिमाओं के नीचे चतुर्भुज और गोलाकार अबाकस बने हुए हैं। सारे अबाकसों को

सुंदर चित्रकारी से सजाया गया है। कुछ स्तंभों के अवशेष हमें बसराह–बाख़िरा, लौरिया–नंदनगढ़ और रामपूर्वा जो सारे बिहार में स्थित हैं और कुछ के अवशेष उत्तर प्रदेश के संखीसा और सारनाथ (वाराणसी) आदि से प्राप्त हुए हैं।

टिप्पणी

सारनाथ में बने मौर्य स्तंभ (जिसके ऊपरी सिरे पर बाघ बना हुआ है), अपने कलात्मक कलाकारी के लिए प्रसिद्ध है। इसकी ऐतिहासिक महत्ता एवं सुंदर कलाकारी से प्रभावित होकर स्तंभ के ऊपर बनी शेर की प्रतिमा को भारत का राष्ट्रीय प्रतीक माना गया।

स्तंभों के अतिरिक्त, यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियां भी जैन एवं बौद्ध धर्म के पूजनीय स्थलों से प्राप्त होती हैं। इन मूर्तियों को उत्तर भारत में पटना, विदिशा और मथुरा से प्राप्त किया गया है।

यक्ष और यक्षिणियों की ज्यादातर मूर्तियों को खड़ी स्थिति में दर्शाया गया है। ये पक्की मिट्टी से निर्मित हैं। इनमें ज्यादा विस्तार प्राप्त होता है। मनुष्य के शरीर को संवेदनशील ढंग से गढ़ा गया है और गोलाकार में मनुष्य के शरीर की समस्त विशेषताओं को दर्शाया गया है। इस काल में विस्तृत कलाकारी से परिपूर्ण स्तूपों का निर्माण हुआ। स्तूपों में अलग–अलग हिस्से की कलाकारी भिन्न–भिन्न सम्राटों एवं राजवंशों द्वारा कराई गई। व्यापारियों द्वारा दान से भी इन स्तूपों के कई हिस्सों को बनाया गया।

पूर्वोत्तर मौर्य काल में शुंग, कुशाण और गुप्त वंशों के द्वारा मौर्य शासित स्थानों को नियंत्रित किया जा रहा था। जिस तरह उत्तर और मध्य भारत में उपरोक्त वंशों का शासन स्थापित होने लगा था, उसी प्रकार दक्षिण और पश्चिमी भारत में सप्तवाहन, इक्ष्वाकु, अभीरस, वकाटक आदि वंशों ने इसी काल में अपना नियंत्रण विस्तृत किया।

इस काल में भारत के अलग–अलग हिस्सों में तरह–तरह की कलाकृतियां दिखाई देती हैं। कुछ महत्वपूर्ण कलाकृतियां हमें भरहूत, सांची, अजंता एवं एलोरा गुफाओं आदि से प्राप्त होती हैं।

भरहूत (मध्य प्रदेश) से प्राप्त मूर्तियां पूर्वोत्तर मौर्यकालीन कला का अच्छा उदाहरण हैं। भरहूत में पत्थरों को तराशकर बनाई गई यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियों और जातकों से प्रभावित मूर्तियों के माध्यम से कहानियां और कथायें प्रस्तुत की गई हैं।

सांची (मध्य प्रदेश) में बने प्रसिद्ध स्तूप में भी मूर्तियों के माध्यम से बौद्ध धर्म से संबंधित कहानियां बताई गई हैं। सांची स्तूप के निर्माण में स्तूप के स्थापत्य कला से संबंधित कई बारीकियां महत्वपूर्ण हैं– जैसे सांची स्तूप का प्रदक्षिणापथ, वेदिका, हर्मिका आदि। बुद्ध के जीवन से संबंधित जानकारियों एवं बौद्ध धर्म के प्रतीकों को सांची स्तूप में भरहूत से भी ज्यादा बारीकी से उभारा गया है।

पहली शताब्दी तक गंधार (पाकिस्तान), मथुरा (उत्तर प्रदेश) और वेन्गी (आन्ध्र प्रदेश) कला–उत्पत्ति के नये केंद्र बन गये। मथुरा में बुद्ध की प्रतिमायें एवं मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिन्हें यक्ष एवं यक्षिणियों के मूर्ति से प्रेरणा लेकर बनाया गया है। मथुरा से जैन तीर्थंकरों एवं राजाओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। राजा कनिष्क की मानी जाने वाली बिना सर की मूर्ति कला के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

टिप्पणी

अलग–अलग मुद्राओं में प्रत्यक्ष बुद्ध की प्रतिमा कला के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण है। इं.पूं. की अंतिम शताब्दी में निर्मित इन मूर्तियों का महत्व आज भी इतना है कि इनसे प्रेरित होकर बनाई जाने वाली आधुनिक बुद्ध मूर्तियों को सजावट के तौर पर बहुत पसंद किया जाता है।

गंधार में निर्मित बुद्ध की प्रतिमायें भारत, गंधार एवं यूनानी शैलियों से प्रेरित होकर बनाई गई। इन मूर्तियों की शैली एवं बनावट को मथुरा या सारनाथ में मिली बुद्ध की मूर्तियों से अलग देखा और पहचाना जा सकता है। गंगा घाटी के बाहर बौद्ध कला के नमूने हमें देवनिमोर (गुजरात) से भी प्राप्त हुए हैं।

दक्षिण भारत में अमरावती, नागार्जुनकोंडा आदि स्थानों से बौद्ध कला के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन स्थानों की मूर्तियों और चट्टानों को तराशकर बनाई गई प्रतिमाओं के सहारे जातक कथाओं की कहानियों को विस्तार से दर्शाया गया। बारीकियों को ध्यान में रखकर बनाई गई इन मूर्तियों से अतिरिक्त हमें स्तूपों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। आंध्र प्रदेश के नागार्जुनकोंडा और गुंटापल्ले से चट्टानों को काटकर बनाये गये स्तूपों के अवशेष प्राप्त होते हैं। विशाखापट्टनम के समीप अनाकापल्ले से दूसरे महत्वपूर्ण स्तूप के अवशेष प्राप्त होते हैं।

पहली शताब्दी में बनी इन महत्वपूर्ण कलाकृतियों में स्तूप और बुद्ध की मूर्तियों के अलावा बोधिसत्वों एवं बुद्ध के विभिन्न रूपों को भी दर्शाया गया। इस तरह की मूर्तियों की बनावट में बढ़ोतरी वज्रयान (बौद्ध धर्म की शाखा) के फैलने से संबंधित है।

गुफाओं को तराशकर स्तूप, विहार, मूर्तियां, मंदिर, चैत्य आदि के बनावट की परंपरा दूसरी शताब्दी के आसपास पश्चिमी भारत में देखी जा सकती है। अजंता, एलोरा, कारला, अंधेरी आदि में निर्मित कलाकृतियां आज भी यात्रियों एवं पुरातत्व–वेत्ताओं के महत्वपूर्ण दर्शनीय उपादान हैं।

गुफाओं में कलाकृति के नमूने पूर्वी भारत से भी प्राप्त हुए हैं। उड़ीसा, आंध्र प्रदेश आदि के तटीय इलाके में हमें गुफाओं के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन गुफाओं में ज्यादातर बौद्ध मठ मिलते हैं। कुछ गुफाओं में स्तूप, विहार आदि मिले हैं। उड़ीसा के भूवनेश्वर के पास उदयगिरी–खंदागिरी की गुफाओं में जैन धर्म से संबंधित खारवेल राजाओं के लिखित अवशेष प्राप्त हुए हैं। लिखावट से यह प्रतीत होता है कि इन गुफाओं को जैन भिक्षुओं के रहने के लिये बनाया था।

अतः हमें बुद्ध और जैन धर्म से संबंधित राजाओं, व्यापारियों आदि द्वारा बनाये गये स्तूप, मूर्तियों, चैत्य, विहार, मठ आदि के अवशेष भारतीय महाद्वीप के अलग–अलग हिस्सों से प्राप्त हुए हैं। इन कलाकृतियों में अतुल्य कलाकारी की झलक मिलती है। गुफाओं को काटकर एवं उसकी दीवारों को तराशकर लिखावट के माध्यम से कहानी और कथाओं को प्रदर्शित करने वाली कलाकारी हमें छठी शताब्दी के आस–पास शुरू होकर मौर्य एवं मौर्योत्तर काल तक के मिलते हैं। यह अद्‌भुत कलाकारी जो हमें प्राचीन भारतीय सभ्यताओं के विषय में कुछ बताती हैं; सिर्फ ऐतिहासित तौर पर महत्वपूर्ण न होकर, आज भी अपने सौंदर्य और कलाकृति के लिये अनेक यात्रियों को अपनी ओर आकर्षित करती है।

दीवारों पर उत्कीर्ण मूर्तियों और लिखावटों के अतिरिक्त हमें भारतीय महाद्वीप के अलग–अलग हिस्सों से दीवार पर बने रंग–बिरंगी चित्रकारी के नमूने प्राप्त होते हैं, जिन्हें भित्ति चित्र कहा जाता है।

टिप्पणी

मंदिरों की दीवारों, छतों और गुफाओं की दीवारों पर प्रतिभाशाली चित्रकारों द्वारा चित्रों को रंगों से भरकर धर्म और समाज से संबंधित कथाओं को प्रदर्शित किया जाता रहा है। दक्षिण भारत के कई मंदिरों से हमें रंग–बिरंगी भित्तिचित्र के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

भित्तिचित्र के लिये प्रसिद्ध एक स्थान है– बादामी, जो कर्नाटक राज्य में स्थित है। चालुक्य वंश के राजाओं ने बादामी में गुफाओं की दीवारों पर भित्तिचित्र बनवाये, जिसका एक छोटा–सा हिस्सा आज भी संरक्षित है। इन गुफाओं के भित्तिचित्र में वैष्णव भक्ति की झलक प्राप्त होती है। पश्चिम में अजंता की गुफाओं से लेकर बादामी की गुफाओं तक से हमें भित्तिचित्र के उदाहरण मिलते हैं। दक्षिण में प्राचीन काल अथवा प्रारम्भिक मध्ययुगीन काल से हमें पल्लव, पांडव और चोल वंश के शासकों द्वारा बनाये गये चित्रकारी के प्रमाण प्राप्त होते हैं। सितान्वसाल, पानामलाई, मंगदापट्टू, कांचीपुरम आदि स्थानों में हमें भित्ति–चित्र के महत्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं। मध्यकालीन भारत में भी चित्रकारी के अनेक अवशेष हमें मंदिरों और गुफाओं से मिले हैं।

इतिहासकारों का मानना है कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत की ज्यादातर कलाकृतियां जिनके अवशेष आज तक संरक्षित हैं– धार्मिक प्रवृत्ति की हैं। धर्मनिरपेक्ष कलाकृतियां जो घरों पर या आम–जीवन में उपयोग में आती थीं, वो आसानी से नष्ट होने वाली वस्तुओं से बने होने की वजह से संरक्षित नहीं हैं। उस काल का इतिहास जानने के लिए हमें उन अवशेषों पर निर्भर होना पड़ता है, जो शेष बचे हैं।

बुद्ध स्तूपों के साथ, उसी काल में मंदिरों का भी निर्माण हुआ। मंदिरों में ज्यादातर भगवान की प्रतिमा स्थापित की जाती थी। मंदिरों के निर्माण के साथ ही देवी–देवताओं की प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ। सबसे पुराने मंदिरों के नमूने हमें कुथारा (मध्य प्रदेश) से मिले हैं। यहां एक शिव मंदिर है, जो पाँचवीं शताब्दी का बताया जाता है। कुछ महत्वपूर्ण मंदिरों के नमूने हमें देवघर (बिहार) से भी प्राप्त हुए हैं। मंदिर के मंडप तीन प्रकार के हैं– 1. संधार प्रकार (प्रदक्षिणापथ के बिना), 2. निरंधारा प्रकार (प्रदक्षिणापथ के साथ), 3. सर्वातोभद्रा (जो चारों तरफ से सुलभ हैं)

हिंदू मंदिरों में मूल रूप से निम्नलिखित हिस्से होते हैं–

1. गर्भगृह (जिस छोटे से कमरे में मुख्य देवता को बैठाया जाता है),
2. मण्डप (मंदिर की जगह, जहां श्रद्धालु खड़े होकर या बैठकर पूजा संपन्न कर सकें,)
3. शिखर (उत्तर भारत में) एवं विमान (दक्षिण भारत में) जो मंदिरों की छत के ऊपर बने पिरामिड के आकार का ढांचा होता है,
4. वाहन, अर्थात् उस मंदिर के मुख्य देवता की सवारी हेतु पशु जो मंदिर के मुख्य देवता का वाहन होता है जिसे मंदिर के मुख्य देवता के पास एक स्तंभ या ध्वज के साथ स्थापित किया जाता है।

टिप्पणी

भारतीय महाद्वीप के मंदिरों को बनावट संबंधी अंतर के कारण मुख्यतः दो प्रकारों में रखा गया है–

(क) नगर (जो मुख्य तौर पर उत्तर भारत में पाये जाते हैं)।

(ख) द्रविड़ (जो मुख्य तौर पर दक्षिण भारत में पाये जाते हैं)।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक कला का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने मंदिरों के प्रकार को अनेक उप–प्रकारों में विभाजित किया है।

मंदिरों और देवी–देवताओं से जुड़े चिन्ह् सदियों से नहीं बदले हैं, परंतु समयकाल एवं क्षेत्रीय अंतर की वजह से इनमें कुछ बदलाव नजर आते हैं।

नगर शैली में बना महत्वपूर्ण मंदिर है– पांचवीं शताब्दी ई.पू. में निर्मित देवगढ़ का दशावतार विष्णु मंदिर। नगर शैली के मंदिरों को मुख्यतः एक ऊंचे मंच के ऊपर बनाया जाता है और मंदिर तक पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी होती हैं। द्रविड़ शैली के मंदिरों की तरह इन मंदिरों के चारों ओर प्राचीर और प्राचीर से अंदर आने के लिए मुख्य द्वार नहीं होता। नगर मंदिरों में गर्भगृह हमेशा सर्वाधिक लंबे शिखर के ठीक नीचे होता है।

मध्य प्रदेश और राजस्थान के प्राचीन मंदिरों में काफी समानतायें हैं। दोनों ही ज्यादातर बलुआ पत्थर से बने हैं। देवगढ़ का विष्णु मंदिर गुप्तोत्तर काल में निर्मित हुआ। इस नगर शैली के मंदिर को 'पंचायतन' उपप्रकार में रखा गया है, क्योंकि इस मंदिर में मुख्य मंडप के चारों ओर चार और छोटे मंडप स्थापित हैं।

खजुराहो का लक्ष्मण मंदिर भगवान विष्णु को समर्पित है। इसका निर्माण 954 A.D. में चन्देल राजा, धांगा ने करवाया था। ऐसे मंदिरों में अन्यान्य देवी–देवताओं की मूर्तियां एवं द्वारपाल के रूप में यक्ष–यक्षिणी की प्रतिमायें भी पायी जाती है। गंगा–यमुना नदियों की प्रतीक–मूर्तियां भी इन मंदिरों में पायी जाती हैं।

मध्य और उत्तर भारत के अतिरिक्त गुजरात, राजस्थान, पश्चिमी मध्य प्रदेश से अनेक मंदिर प्राप्त हुए हैं जो मुख्यतः दसवीं और बारहवीं शताब्दी के हैं। ये मंदिर बलुआ, पत्थर के साथ ही धूसर और बसॉल्ट से बनाये गये थे। गुजरात के सम्बलजी इलाके से हमें गुप्तोत्तर काल के मंदिर मिले हैं। इस इलाके के मंदिरों में छठी से आठवीं शताब्दी की धूसर पत्थरों की मूर्तियां पाई गई हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के सूर्य मंदिर के सामने बना कुंड इस मंदिर की रचना को खास बनाता है। यह मंदिर सोलंकी वंश के राजा भीमदेव ने 1026 ई. में बनवाया था।

उड़ीसा, बंगाल और असम आदि राज्यों में भी प्राचीन मंदिरों के अवशेष मिले हैं। इन राज्यों में मिले प्राचीन मंदिरों की बाद में समय–समय पर मरम्मत हुई है। फलतः इनके निर्माण के सही समय का पता नहीं चलता।

उत्तर–पूर्वी राज्य असम में दसवीं शताब्दी तक गुप्त और गुप्तोत्तर काल के मंदिर शैली का प्रभाव असम के मंदिरों पर मिलता है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी में असम में एक नये क्षेत्रीय शैली का उदय देखा जा सकता है। इस शैली में पाल वंश की कला का प्रभाव दिखाई देता है। इस शैली को 'अहोमिया' कहा जाता है। असम में कामख्या देवी का मंदिर इस शैली का उदाहरण है। इस मंदिर को सत्रहवीं शताब्दी में बनाया गया।

टिप्पणी

बंगाल में नौवीं–ग्यारहवीं शताब्दी में पाल शैली का प्रभाव दिखाई देता है। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से तेरहवीं शताब्दी तक बंगाल मंदिर शैली में सेन वंश का प्रभाव दिखता है। बंगाल शैली का प्रभाव बिहार और बांग्लादेश में भी उस काल में दिखाई देता है। बंगाल में मुगल काल के बाद क्षेत्रीय शैली का भी उदय हुआ। क्षेत्रीय शैली के मंदिरों में 'बंगाल छत' प्रसिद्ध है, जो बंगाल की झोपड़ियों के ऊपर बने छत जैसा दिखाई देता है। ऐसे मंदिर विश्नुपुर, बांकुरा, बर्दवान आदि स्थानों से प्राप्त होते हैं।

उड़ीसा के मंदिर 'नगर' शैली के उपप्रकार हैं। उड़ीसा के ज्यादातर मंदिर पुरी, कोणार्क और भुवनेश्वर के इलाकों से मिले हैं। यहां के मंदिर के ऊपर बने शिखर को 'दोऊल' कहते हैं। कोणार्क का सूर्य मंदिर, पुरी का जगन्नाथ मंदिर अपनी कलाकृतियों के लिए आज भी प्रसिद्ध हैं। पहाड़ी इलाकों में बौद्ध और हिन्दू मंदिरों की शैलियों का मिश्रित रूप दिखाई देता है। कश्मीर, चंबा, कुमाऊँ, जैसे स्थानों से हमें पहाड़ी मंदिर के अवशेष प्राप्त होते हैं।

मुख्य मंदिरों की कलाकृतियों के क्षेत्र में दक्षिण भारत की 'द्रविड़ शैली' बहुत प्रसिद्ध हैं। महाबलिपुरम के तट पर बना 'तटीय मंदिर' तंजावुर का वृहदेश्वर मंदिर, महाबलिपुरम का रथ मंदिर प्राचीन भारत के अद्‌भुत कला के नमूने हैं, जो 'द्रविड़' शैली के अंतर्गत आते हैं।

हमें भारतीय उपमहाद्वीप से बौद्ध और जैन मंदिरों के अवशेष भी मिलते हैं। बंगाल व बिहार के अलग–अलग स्थानों में बुद्ध मंदिर प्राप्त हुए हैं। अजंता, एलोरा, चंदेरी, ग्वालियर, कर्नाटक जैसे स्थानों पर जैन मंदिरों के अवशेष मिले हैं।

प्राचीनकाल से भारतीय उपमहाद्वीप के कई स्थानों पर कांस्य से बनी अतुल्य कलाकृतियां प्राप्त हुई हैं। दूसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक बौद्ध, जैन एवं हिंदू कांस्य प्रतिमायें कई स्थानों से मिली हैं। सिंधु घाटी सभ्यता के मोहनजोदड़ो से प्राप्त 'नृत्य करती हुई लड़की' भारतीय उपमहाद्वीप से प्राप्त प्राचीनतम कलाकृतियों में से एक है। बिहार के चौसा से जैन कास्य मूर्तियां पाई गई हैं, जिन्हें पटना संग्रहालय में रखा गया है। गुजरात के अकोता से कांस्य सामग्रियों का ढेर प्राप्त हुआ है, जिसे छठी से नौवीं शताब्दी के बीच माना जाता है। इन ढेरों में महावीर, पार्श्वनाथ और आदिनाथ जैसे जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

बिहार और उत्तर प्रदेश के कई इलाकों से बुद्ध की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं, जो गुप्त और गुप्तोत्तर कालीन हैं। कश्मीर से प्राप्त गणेश की कांस्य प्रतिमा सातवीं शताब्दी की है। बारहवीं शताब्दी से प्राप्त नटराज की मूर्ति जो चोल वंश से प्राप्त हुई है, अपनी अतुल्य कलाकृति के लिये देश–विदेश में प्रसिद्ध है। नटराज शिव की मूर्ति आज भी आधुनिक कलाकारों द्वारा इस तरह की असल कलाकृति से प्रेरणा लेकर बनाई जाती है। 'खोये हुए मोम' तकनीक से निर्मित कांस्य कलाकृतियाँ भारतीय कलाकारों की इस अद्‌भुत तकनीक के कारण भी प्रसिद्ध हैं।

मध्यकालीन स्थापत्य कला को मोटे तौर पर निम्नांकित चार भागों में विभाजित करके समझा जा सकता है–

(क) शाही अंदाज (दिल्ली सल्तनत के अधीन बनी कलाकृतियां)

टिप्पणी

(ख) क्षेत्रीय अंदाज (मण्डू, गुजरात, बंगाल, जौनपुर आदि)

(ग) मुगल अंदाज (दिल्ली, आगरा, लाहौर)

(घ) दक्कनी अंदाज (बीजापुर, गोलकोण्डा आदि)

दिल्ली सल्तनत के पांच वंशों ने क्रमशः दिल्ली की स्थापत्य कला के क्षेत्र में कुछ नई तकनीकों और सजावट को उदित किया एवं उसे एक विशिष्ट पहचान दिलाई। वक्रों और गुम्बदों जैसे नमूनों से शुरुआत उपरांत कोशिशों और सुधार के फलस्वरूप असल वक्र और गुम्बद का निर्माण दिल्ली के 'कुतुब काम्पेलक्स' में स्थित अलाई दरवाजा से हमें दिखाई देता है।

दिल्ली में चौकोर मकबरे बनाये गये। अष्टकोण मकबरों के नमूने भी हमें दिल्ली सल्तनत से मिलते हैं। दोहरे गुम्बद की कलाकारी हमें सिकंदर लोधी के मकबरे पर देखने को मिलती है। दोहरे गुम्बद बनाने की कलाकृति ताज खान के मकबरे (159) से शुरू हुई, परंतु पहला स्पष्ट दोहरा मकबरा हुमाऊं का है।

तुगलकाबाद शहर की स्थापना तुगलक वंश ने की जो खूबसूरत पत्थरों से निर्मित प्राचीर के लिये प्रसिद्ध है। यहां निर्मित गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा लाल बलुआ पत्थर के ऊपर बने सफेद संगेमरमर के गुम्बद के लिये प्रसिद्ध है। इस वंश द्वारा निर्मित फिरोजाबाद की जामा मस्जिद और फिरोज़ शाह कोटला के अवशेष इस वंश की स्थापत्य कला के कुछ आखिरी नमूने हैं।

दिल्ली सल्तनत कालीन स्थापत्य कला के उदाहरणों में से सर्वाधिक प्रसिद्ध और वर्तमान तक अच्छी तरह से संरक्षित इमारत कुतुब मीनार है। इसका निर्माण कुतुबुद्दीन ने करवाना प्रारंभ किया। इल्तुतमिश ने इमारत को पूर्ण किया। फिरोज़ शाह तुगलक ने बाद की दो मंज़िलें बनवाई। सिकंदर लोधी ने बाद में इस इमारत की मरम्मत करवाई।

बाद में कुतुब मीनार के समीप ही अलाउद्दीन खिलजी ने कुतुब मीनार से दुगुनी ऊँची मीनार बनवाना चाहा। अलाउद्दीन की मृत्यु पहली मंज़िल के पूर्णतः समाप्त होने से पहले ही हो गई। कुतुब मीनार से दुगुनी ऊँची मीनार बन नहीं पाई।

इन्डो–इस्लामिक स्थापत्य कला से संबंधित कलाकृतियाँ पंजाब, बंगाल, गुजरात, जौनपुर, खानदेश और कश्मीर के क्षेत्रों से प्राप्त होती हैं– इन्हें 'क्षेत्रीय कला' के रूप में समझा जाता है। अदिना की मस्जिदें बंगाल की क्षेत्रीय स्थापत्य कला के प्रारंभिक उदाहरण हैं। सुराजुद्दीन का मकबरा, 'कोतवाली दरवाज़ा', दाखिल दरवाज़ा, जलालुद्दीन मुहम्मद शाह का मकबरा आदि बंगाल की क्षेत्रीय कला के साक्ष्य हैं। 'तन्तीपारा मस्जिद', 'चमकत्ती मस्जिद' आदि बंगाल की प्रसिद्ध इमारतें हैं, जो पंद्रहवीं शताब्दी में निर्मित हुई।

क्षेत्रीय कला के लिये जौनपुर भी उस काल का प्रसिद्ध केंद्र माना जाता है। शमशुद्दीन इब्राहीम द्वारा बनवाई गई 'अतला मस्जिद' (1378), सबसे प्रसिद्ध है। मुहम्मद अहमद शाह और महमूद बेगरहा के शासनकाल में मस्जिद, मकबरे और द्वार डोलका और सारखेज में निर्मित हुए। अहमदाबाद शहर से आज भी इन्डो इस्लामिक क्षेत्रीय स्थापत्य कला के नमूनों के अवशेष प्राप्त होते हैं। इन कलाकृतियों में से सर्वाधिक

प्रसिद्ध इमारत हैं– 'सैयद आलम' की मस्जिद, 'कुतुबुद्दीन की मस्जिद', 'रानी सिपरी की मस्जिद', आदि।

मालवा क्षेत्र में धर और मान्डू प्रसिद्ध हैं अपनी कलाकृतियों के कारण। यहां का निर्माण अपने आप में एक अलग अंदाज को दर्शाता है। इमारतों में बहुरंगी पत्थरों के उपयोग, रंगीन पत्थरों एवं संगमरमर के प्रयोग से कारीगरी का नमूना मिलता है। धर की 'कमाल मौली मस्जिद', मान्डू की 'दिलावर खां मस्जिद' और 'मलिक मुख़ीस मस्जिद' आदि प्रसिद्ध हैं।

टिप्पणी

मान्डू का 'जहाज महल', 'हिंदोला महल', 'तवेली महल' आदि भी उल्लेखनीय हैं।

दक्कन के इलाकों में भी दिल्ली सल्तनत के समय में ही स्थापत्य कला के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। चौदहवीं शताब्दी में निर्मित अलाउद्दीन के मकबरे की रूपरेखा दिल्ली सल्तनत के तुगलकी मकबरों जैसी ही थी। बहमनी सुल्तानों के मकबरों में पारसी एवं दिल्ली की कलाओं का अद्भुत मिश्रण देखने को मिलता है। कुतुबशाही वंशों द्वारा बनवाये गये मकबरे अलग–अलग अंदाजों का अनोखा मिश्रण है। चौदहवीं शताब्दी में निर्मित 'अलाउद्दीन का मदरसा' और 'अली बारिद का मकबरा' शुरुआती दक्कनी स्थापत्य कला के उदाहरण हैं।

कुतुबशाही और निज़ाम शाही वंशों के समय दक्कनी सल्तनत के स्थापत्य कला में काफी विस्तार हुआ। दक्कनी स्थापत्य कला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नमूना हैदराबाद के 'चार–मीनार' के रूप में प्राप्त होता है। इसका निर्माण 1591 ई. में मोहम्मद कुतुब शाह ने करवाया था। ये अपनी चार खूबसूरत मीनारों की खूबसूरती के कारण प्रसिद्ध है। चार मीनार के पास ही 'मक्का मस्जिद' निर्मित है। 'गोलकोन्डा किला' अपने सामरिक महत्व के लिए प्रसिद्ध है। 1870 ई. में निर्मित 'फलकनुमा महल' जिसका निर्माण नवाब विकर उल उमरा ने करवाया था। यह अपने इटली और ट्यूडोर कला के अद्भुत मिश्रण के लिए प्रसिद्ध है।

बीजापुर के गोलगुम्बद का निर्माण मोहम्मद आदिल शाह ने करवाया। इस इमारत का गुम्बद किसी प्रकार के सहारे के बिना ही खड़ा है और ये विश्व का सबसे बड़ा 'मेसनरी गुम्बद' है।

कश्मीरी स्थापत्य कला में हमें लकड़ी के ऊपर बनाई गई कारीगरी का उदाहरण मिलता है। श्रीनगर में शाह हमदान की मस्जिद एवं सिकन्दर बुटशिकान निर्मित जामी मस्जिद लकड़ी पर की गई कारीगरी को दर्शाती है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में मुगलों ने कश्मीर में पत्थर की बनी इमारतों पर जोर दिया। 'हरी पर्वत का किला', 'पत्थर मस्जिद' आदि इसके उदाहरण हैं।

बिहार के सासाराम और दिल्ली स्थित 'पुराना किला' के आस–पास अनेक इमारतें शेरशाह सूरी द्वारा निर्मित करवाई गई थीं। 'किला–ए–कुन्हा' मस्जिद इस दौर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण इमारत है।

मुगलकालीन इतिहास में हमें कला के विभिन्न क्षेत्रों में विकास नजर आता है। इनमें से एक महत्वपूर्ण और संरक्षित कला है– स्थापत्य कला। बाबर को इमारतें बनवाने का बहुत शौक था। बाबर द्वारा निर्मित इमारतें ज्यादातर नष्ट हो चुकी हैं और केवल कुछ ही इमारत संरक्षित हैं। उनमें से काबुली बाघ की मस्जिद (पानीपत) और दिल्ली में जामा मस्जिद, बाबर की उन इमारतों में से हैं जो आज भी संरक्षित हैं।

टिप्पणी

हुमायूं का मकबरा मुगल स्थापत्य कला के क्षेत्र में एक शुरुआती उदाहरण है। अकबर के शासनकाल में मुगल शासन का प्रभुत्व बहुत बढ़ गया था। ये हमें भवन, महल एवं अन्य इमारतों के निर्माण में हुई बढ़ोतरी से भी पता लगता है। इमारत निर्माण के उदाहरण हमें फतेहपुर सिकरी (जिसे 1569 में बसाया गया) और आगरा से मिलते हैं। आगरा का किला और जनपद के पास सिकंदरा में निर्मित अकबर का मकबरा– इस काल की महत्वपूर्ण कलाकृतियों के उदाहरण हैं। फतेहपुर सिकरी में निर्मित जामी मस्जिद, बुलन्द दरवाजा, आज भी मुगलकालीन इमारतों के रूप में महत्वपूर्ण हैं। लाल बलुआ पत्थर और सफेद संगेमरमर से बनी ये इमारतें स्थापत्य कला के प्रमुख उदाहरणों में शामिल हैं।

शाहजहां के समय आगरा में बना ताज महल मुगल स्थापत्य कला की पराकाष्ठा को दर्शाता है। इमारतों के समस्त भागों के बीच संतुलन और बारीकी से किया गया काम, सफेद संगमरमर का प्रयोग– इस ताज महल को दुनिया भर में भारत का भव्य प्रसिद्ध प्रतीक बनाता है।

जहांनाबाद की स्थापना शाहजहां ने की और इस शहर में बनी अनेक इमारतें खास हैं– जिनमें से 'दीवान–ए–आम' और 'दीवान–ए–खास' महत्वपूर्ण भूमिका रखती हैं। 1650–56 के बीच बनी जामी मस्जिद एक ऊँचे चबूतरे पर स्थित है, आलीशान सीढ़ियों से उस तक पहुंचा जा सकता है।

शाहजहां के उत्तराधिकारी औरंगजेब द्वारा बनाई गई स्थापत्य कला के उदाहरण ज्यादा नहीं हैं। औरंगजेब द्वारा बनाई गई बादशाही मस्जिद बहुत मशहूर है। इसका निर्माण लाहोर में अठारहवीं शताब्दी से पहले हो गया था।

अठारहवीं शताब्दी के क्षेत्रीय स्थापत्य कला के कुछ उदाहरण अवध, पंजाब आदि से प्राप्त होते हैं। मिर्ज़ा मनसूर खान द्वारा निर्मित सफदर जंग का मकबरा इस तरह की एक महत्वपूर्ण कलाकृति है।

लखनऊ में नवाब आसिफ उद–दौला द्वारा निर्मित 'बड़ा इमामबाड़ा' अपनी स्थापत्य कला की तकनीकों और साधारण अंदाज के लिए प्रसिद्ध है। 'रुमी दरवाजा' में बनी कलाकृतियां और 'छोटा इमामबाड़ा' आदि उस काल की कलाकृतियों में सबसे प्रसिद्ध हैं।

पंजाब में 1764 में निर्मित अमृतसर का स्वर्ण मंदिर क्षेत्रीय कलाकृतियों में स्थापत्य कला के अंदाज व तकनीक की पराकाष्ठा को दर्शाता है। यह चौथे सिख गुरु रामदास द्वारा निर्मित किया गया।

आधुनिक भारत में कला के विस्तार से संबंधित विषयों की नींव प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय कला एवं कारीगरी में ही है। आधुनिक भारत में कला का विस्तार अत्यंत तेज़ी से हुआ– स्थापत्य कला, संगीत, चित्रकारी, आदि कला के प्रकारों ने आधुनिक समय में देश–विदेश में भारतीय कला का नाम रौशन किया।

आधुनिक भारत में कला की उत्पत्ति और विस्तार भारत के लोगों एवं अंग्रेजों के मिश्रित तकनीकों व अंदाज का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है। बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में निर्मित 'नई दिल्ली' की सरकारी इमारतें, आधुनिक भारतीय युग की स्थापत्य कला को दर्शाती हैं।

टिप्पणी

नई दिल्ली के 'केपिटल कॉम्पलेक्स' का निर्माण अंग्रेजी वास्तुकला के प्रसिद्ध जानकार एडविन लुटयन्स और हेबर्ट बेकर के मार्गदर्शन में हुआ। उस काल के वाइसराय लॉर्ड चर्ल्स हार्डिंग ने यह तय किया था कि नई दिल्ली में बन रही इमारतों में पूर्वी और पाश्चात्य दोनों ही शैलियों का मिश्रण होना चाहिए।

बेकर का मानना था कि अंग्रेजी स्थापत्य कला के ऊपर भारतीय कलाकारी, प्राचीन कारीगरी आदि का प्रयोग करके भारतीय जनता को इस इमारत की 'भारतीयता' का एहसास दिलाना जरूरी था। लुटयन्स का विचार पाश्चात्य कलाकृतियों से इस शहर को बसाने का था, जो भारतीय कला पर ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहते थे। 'वाइसराय का महल' जो आजाद भारत में 'राष्ट्रपति भवन' के रूप में जाना जाता है, इसकी कारीगरी करते समय लुटयन्स ने वाइसराय के निर्देशों का ध्यान रखा। राष्ट्रपति भवन में हम 'हिन्दू' और 'मुगल' स्थापत्य कला की कुछ वस्तुओं को देख सकते हैं। छज्जों एवं खूबसूरत छत्रियों का प्रयोग भारतीय कला से प्रेरित होकर किया गया था। मध्य में स्थित गुम्बद 'बुद्ध स्तूप' जैसा दिखता है। राष्ट्रपति भवन के चारों ओर बने मुगल बगीचे, मुगलकालीन इमारतों के चारों ओर बने बगीचों से प्रेरित है।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी से कलकत्ता में एक चित्रकारी आंदोलन का उदय हुआ। शुरुआत में अंग्रेजी चित्रकला विद्यालयों का उदय हुआ और जल्द ही भारतीय चित्रकारों ने भारतीय शैली से इन अंग्रेजी चित्रकला को जवाब दिया। राजा रवि वर्मा उस काल के प्रसिद्ध चित्रकार थे। रवींद्रनाथ टैगोर के शांतिनिकेतन में भारतीय चित्रकारी की नई झलक दिखाई देती है।

आज़ादी के बाद 'प्रगतिशील चित्रकारों' के समूह ने 1956 तक चित्रकारी के क्षेत्र में अद्‌भुत तरक्की की। 1956 में इस समूह पर रोक लगा दी गई थी। "प्रगतिशील चित्रकारों का समूह" की स्थापना फ्रान्सिस न्यूटन सूजा ने की और रज़ा, एम.एफ. हुसैन और मानिषी डे– इस समूह के सर्वप्रथम सदस्य बने। बाद में प्रत्येक महत्वपूर्ण चित्रकार इस समूह का सदस्य रहा।

भारतीय चित्रकार दिव्यज्योति राय की 'छद्‌म यथार्थवाद दर्शन', भारतीय चित्रकारी की खोज है। यह संकल्पना विश्वभर में सराही गई है।

भारतीय नृत्य और संगीत कला प्राचीन एवं मध्यकालीन समय से है। यह संकल्पना आधुनिक काल में हुए बदलाव को हम भारतीय कला के सबसे प्रसिद्ध पहलू 'भारतीय फिल्म उद्योग' में देख सकते हैं।

क्षेत्रीय फिल्म उद्योग भी भारत के कई क्षेत्रों में क्षेत्रीय भाषाओं में फिल्में बनाते आये हैं, परंतु भारतीय फिल्म उद्योग का आलीशान रूप, और इसके एक बहुत बड़े उद्योग के रूप में स्थापित होने से भारत के अभिनय, लेखन, नृत्य और संगीत की कलाओं को एक नई पहचान मिली है। अंग्रेजों के द्वारा दिखाई गई फिल्मों से प्रेरित होकर बीसवीं शताब्दी के शुरुआत में भारत में छोटे स्तर पर बनाई जाने वाली फिल्मों ने भारत की आज़ादी के बाद सफलता के नित्य नए आयाम छुये हैं। भारतीय फिल्मों के पिता माने जाने वाले 'दादा साहब फालके' ने हिन्दी फिल्म जगत के स्थापित होने में बड़ी भूमिका निभाई।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. किस काल का मनुष्य पाषाणों पर निर्भर था

(क) प्रागैतिहासिक काल (ख) वैदिक काल

(ग) बौद्ध काल (घ) इनमें से कोई नहीं

4. दिल्ली की कुतुबमीनार का निर्माण किसने आरंभ करवाया था?

(क) इल्तुतमिश (ख) फिरोजशाह तुगलक

(ग) कुतुबुद्दीन (घ) अलाउद्दीन खिलजी

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ग)
3. (क)
4. (ग)

4.5 सारांश

मान्यता यह है कि पहली बार स्मृति पर आधारित वैदिक साहित्य को लिखित रूप 1200 ई.पू. और वेदों का मुद्रित रूप 16 शताब्दी में सामने आया। अतः हम देखते हैं कि किस प्रकार वेदों की रचना से लेकर प्रथम बार लिखे जाने व प्रथम बार मुद्रित होने के बीच सदियों का फासला है। समय–समय पर ग्रंथों के तथ्यों में बदलाव किये गये हैं और सामाजिक एवं राजनीतिक माहौल को देखते हुए वेदों में बदलाव की संभावनायें स्वाभाविक भी हैं। इसलिए इन ग्रंथों के ऐतिहासिक उपयोग में अत्यंत सावधानी का पालन करना महत्वपूर्ण है।

पुराणों को वेदव्यास द्वारा लिखित माना जाता है, परंतु पुराणों की विषयवस्तु को देखकर यह कहा जा सकता है कि ये किसी एक काल एवं लेखक द्वारा रचित नहीं है। यहां वर्णित 18 पुराणों को 'महापुराण' कहा जाता है एवं इसके अतिरिक्त अनेक 'उपपुराण' भी हैं। पुराणों का उदय वैदिक युग में माना जाता है परंतु उनकी रचना 4 ई.–5 ई. तक होती रही, कुछ की उसके उपरांत भी।

विदेशी मूल के रचनाकारों की कृतियां भी तत्कालीन समाज को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। विदेशी लेखकों एवं यात्रियों के वृत्तांतों के माध्यम से हमें अनेक जानकारी प्राप्त होती है। मैगस्थनीज द्वारा रचित इंदिका हमें चंद्रगुप्त मौर्य के शासन का विवरण देती है। यूनानी एवं लैटिन रचनाकारों की कृतियां भी बहुत महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं। इनमें से मुख्य अरियान, स्ट्राबो, पलिणी द एल्डर आदि हैं।

भारतीय कला को समझने की शुरुआत हम प्रागैतिहासिक काल से करते हैं। प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य पाषाणों पर निर्भर था, पाषाणों से ही मनुष्य तरह–तरह के औजार बनाता था। औजारों के माप और आकार को पुरातत्व–वेत्ताओं ने पढ़कर

अलग–अलग औजारों को श्रेणियों में विभाजित किया है। पाषाण काल को उसी तरह से तीन भागों में विभाजित किया गया है– पुरा पाषाण काल, मध्य पाषाण काल और उत्तर पाषाण काल।

टिप्पणी

मुगलकालीन इतिहास में हमें कला के विभिन्न क्षेत्रों में विकास नजर आता है। इनमें से एक महत्वपूर्ण और संरक्षित कला है– स्थापत्य कला। बाबर को इमारतें बनवाने का बहुत शौक था। बाबर द्वारा निर्मित इमारत ज्यादातर नष्ट हो चुकी हैं और केवल कुछ ही इमारत संरक्षित हैं। उनमें से काबुली बाघ की मस्जिद (पानीपत) और दिल्ली में जामी मस्जिद, बाबर की उन इमारतों में से हैं जो आज भी संरक्षित हैं।

4.6 मुख्य शब्दावली

- **वेद** : हिन्दू धर्म के प्राचीनतम ग्रंथ, जिनकी संख्या चार हैं।
- **पुराण** : प्राचीन काल से मध्यकाल तक समय–समय पर लिखित धार्मिक ग्रंथ।
- **जातक** : बुद्ध की पूर्व जन्मों की कहानियां
- **स्तूप** : बुद्ध सहित प्रमुख बोधिस्तवों के अवशेषों पर निर्मित इमारत।
- **चैत्य** : बोधिस्तवों की वन्दना करने का स्थान
- **विहार** : बोधिस्तवों के ठहरने का स्थान

4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. श्रुति से क्या आशय है?
2. रामायण का रचनाकाल क्या है?
3. भारत में प्रगतिशील लेखकों का दौर कब था?
4. भित्ति चित्र किसे कहते हैं?
5. खजुराहो के मंदिर किस कला के नमूने हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. वैदिक साहित्य से क्या आशय है? विवेचनात्मक परिचय दीजिए।
2. संगम साहित्य की कालावधि क्या थी? आधुनिक भारत के साहित्यिक विकास को स्पष्ट कीजिए।
3. जैन एवं बौद्ध कालीन भारतीय संस्कृति की रूपरेखा रेखांकित कीजिए।
4. मुगल कालीन स्थापत्यकाल का परिचय दीजिए।
5. आधुनिक भारत में कला के विस्तार पर सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

टिप्पणी

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
2. भारतीय दर्शन– डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि.।
3. भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इतिहास (प्राचीन काल से 18वीं शताब्दी तक), Indu Books Services Pvt. Ltd.
4. भारतीय विज्ञान का इतिहास, लाल मणि ओझा, नोशन प्रेस, 1st Edition April 2021.
5. चौधरी, राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, 2003.
6. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद, 2005.
7. मुखर्जी, राधाकमल, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन : एनशिएंट एंड क्लासिकल ट्रेडिशंस, 2006.
8. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2002.
9. झा, डी.एन., प्राचीन भारत की रूपरेखा, पीपुल्स पब्लिशर्स हाउस, नई दिल्ली, 2005.
10. शर्मा, रीता, प्राचीन भारत का इतिहास, वोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1991.
11. त्रिपाठी रामशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1998.
12. पांडेय, विमल चंद, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, (वॉल्यूम–II), सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

इकाई 5 दर्शनशास्त्र और विज्ञान

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारतीय संस्कृति में दर्शन
  5.2.1 भारतीय दर्शन की शाखायें
  5.2.2 नास्तिक दर्शन
5.3 भारतीय संस्कृति में विज्ञान
  5.3.1 प्राचीन परिदृश्य
  5.3.2 आधुनिक परिदृश्य
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

दर्शन एवं विज्ञान के मूल हमें प्राचीन भारतीय इतिहास के आरंभ से दिखाई पड़ते हैं। भारतीय दर्शन का मूल वेद में है। प्राचीन समय से ही भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न स्थानों के इतिहास से हमें दार्शनिकता और वैज्ञानिकता के बारे में पता चलता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अवलोकन से हमें विभिन्न ग्रंथों से आयुर्वेद, धातुओं पर कार्य करने, शहर का सुनियोजित ढंग, जल–मल आदि की निकास प्रणाली के अवशेषों का पता चलता है।

भारतीय ऐतिहासिक शास्त्रों में हमें दर्शन और विज्ञान की जानकारी प्राचीन काल से लेकर, मध्यकालीन एवं आधुनिक काल तक प्राप्त होती है। इस इकाई में हम भारतीय दर्शनशास्त्र और विज्ञान के बारे में पढ़ेंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय दर्शन की शाखाओं से अवगत हो पाएंगे;
- भारतीय संस्कृति में विज्ञान का अवलोकन कर पाएंगे;

5.2 भारतीय संस्कृति में दर्शन

भारतीय दर्शनशास्त्र, वेदों से शुरू होकर, ब्रह्मग्रंथों एवं आरण्यकों से होकर, उपनिषदों में परिपक्वता से व्यक्त होता है। इन ग्रंथों में आत्मा, परमात्मा, जीवन, मृत्यु, के बाद की दुनिया जैसे अनेक विषयों के बारे में भी बात की गई है।

विभिन्न विद्वानों ने 'दर्शन' शब्द को लेकर अलग–अलग विचार प्रस्तुत किये हैं। दर्शन शब्द का प्रयोग दर्शन के विचारकों ने अपने–अपने ढंग से किया है। दर्शन

शब्द का तात्पर्य है– देखने का तरीका या दृष्टिकोण। नये दृष्टिकोण से देखना, सोचना और जीवन के बारे में कोई राय प्रस्तुत कर पाने की योग्यता दर्शनशास्त्र की पहली सीढ़ी है।

टिप्पणी

दर्शनशास्त्रों एवं दार्शनिक विचारों में मनुष्य के जीवन, मरण, जीवन जीने का सटीक तरीका, पृथ्वी की उत्पत्ति आदि सवालों पर टिप्पणी की जाती है। पृथ्वी की उत्पत्ति क्यों और कब हुई और किसलिये हुई, इस पर मनुष्य को क्यों बनाया गया आदि सवालों के जवाब हमें अलग–अलग दर्शन के विचारकों से प्राप्त होते हैं।

दर्शनशास्त्र को अंग्रेजी में 'Philosophy' कहते हैं। यह शब्द 'फिलॉस' और 'साफिया', दो शब्दों से मिलकर बना है। फिलॉस का अर्थ है प्रेम या अनुराग एवं साफिया का अर्थ है 'विद्या'। इस शब्द का अर्थ है विद्या से प्रेम करने वाला। वह व्यक्ति जो जीवन की गहन सच्चाई के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है, उसे विद्यानुरागी व 'Philosopher' (दर्शनशास्त्री) कहते हैं। इस विषय का प्रचलन सबसे पहले ग्रीस देश में हुआ था। प्राचीन ग्रीस के विद्वान जीवन, मृत्यु, इन सब का अर्थ आदि में पारंगत थे। अतः दर्शनशास्त्र को एक विधा के रूप में पढ़ने की शुरुआत ग्रीस में हुई और आज भी प्राचीन विद्वानों के नामों में सबसे पहले ग्रीक विद्वानों के नाम लिये जाते हैं।

5.2.1 भारतीय दर्शन की शाखायें

भारतीय दर्शन को दो भागों में विभाजित किया गया है– आस्तिक व नास्तिक। 'आस्तिक' शब्द का अर्थ है– वेदों एवं वेदोक्त ईश्वर पर विश्वास करने वाले। दूसरी श्रेणी के लोग वेदों और वेदोक्त ईश्वर को नहीं मानते। भारतीय दर्शन की शाखाओं के अंतर्गत निम्नांकित छः दर्शनों के नाम निम्नलिखित हैं–

1. सांख्यदर्शन
2. योगदर्शन
3. न्यायदर्शन
4. वैशेषिकदर्शन
5. मीमांसादर्शन
6. वेदान्तदर्शन

उपरोक्त दर्शनों में से कुछ दर्शन वेद पर आधारित हैं और कुछ दर्शन स्वतंत्र आधार वाले हैं।

मीमांसादर्शन और वेदान्तदर्शन वेदों पर आधारित हैं। अतिरिक्त चारों दर्शन स्वतंत्र स्रोतों पर आधारित हैं।

नास्तिक दर्शन के अंतर्गत निम्नलिखित तीन दर्शन मुख्य माने जाते हैं–

1. चार्वाकदर्शन
2. जैनदर्शन
3. बौद्धदर्शन

उपरोक्त सभी दर्शन प्राचीन काल में उत्पन्न होते हैं और भारतीय उपमहाद्वीप के साथ ही विश्व की दूसरे जगहों पर फैलते हैं। भारतीय दर्शन शैली विश्वभर में प्रसिद्ध है। प्राचीन दार्शनिक दृष्टिकोण भारत से अन्य कई देशों में मध्यकाल व आधुनिक काल में फैला। आज भी इसकी महत्ता भारतीय समाज में देखी जा सकती है।

भारतीय दर्शन की परंपराओं पर आगे जाकर मध्यकाल में एवं आधुनिक काल में विश्व के विविध दर्शनों का भी प्रभाव पड़ता है।

आस्तिक दर्शन की व्याख्या इस प्रकार है–

टिप्पणी

1. सांख्यदर्शन – सांख्य भारतीय दर्शन में अत्यंत प्राचीन दर्शन है। इसके प्रणेता महर्षि कपिल हैं। सांख्यदर्शन मूलतः ज्ञानमार्गी है। इसमें सृष्टि के प्रारंभ में माता देवभूमि द्वारा पूछे गये मन की वृत्तियों की निवृत्ति, मोक्ष, भक्ति का स्वरूप, संसार की उत्पत्ति, जीव की उत्पत्ति, माया की उत्पत्ति, काल का स्वरूप आदि से संबंधित प्रश्नों के उत्तरों पर प्रकाश डाला गया है।

सांख्य दर्शन को सम्यक ज्ञान भी कहते हैं। यह दर्शन सृष्टि के निर्माण में और मानव शरीर में लगे तत्वों की मीमांसा करता है। प्रकृति, सृष्टि और शरीर के तत्वों का अध्ययन कर यह दर्शन हमें सांसारिक मोह–बंधन से ऊपर उठाता है। सांख्य दर्शन कर्मकांड से संबंधित न होकर ज्ञान से संबंधित है।

2. योगदर्शन – योगदर्शन में आसन, यौगिक क्रियाकलाप, प्राणायाम, व्यायाम, ध्यान आदि को महत्व दिया गया है। यह दर्शन देह के प्रयोगात्मक पक्ष को अधिक महत्व देता है। योगदर्शन प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है एवं वक्त–वक्त में अलग–अलग नाम से प्रचलित भी हुआ है। मध्यकाल में साधुओं ने कर्मयोग आदि की अलग–अलग योग शैलियों पर जोर दिया है। आधुनिक काल में तन और मन दोनों को स्वस्थ रखने के लिए भारत ही नहीं बल्कि विदेशों में भी 'योगदर्शन' प्रचलित है। शारीरिक लचीलेपन के लिये भी आज के समझशील लोग 'योग' करते हैं एवं उसके महत्व को समाज के सामने रखते हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं। पतंजलि ने उसी योग का अनुसंधान किया है। पतंजलि ने योग विधा को व्यवस्थित रूप से समाज को दिया। सांख्य और योग दोनों दर्शन मानते हैं कि ज्ञान (आत्मज्ञान) से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को लोभ, मोह, आसक्ति, अहंकार आदि को त्यागना पड़ता है। इसके बाद ही मनुष्य शुद्ध आत्मा से परिचित हो पाता है। योगदर्शन में वर्णित यम–नियम के द्वारा दैहिक एवं नैतिक प्रसाधन पर बल दिया जाता है। अपनी संपूर्णता में योग मानव के व्यक्तिगत कल्याण के साथ–साथ समष्टिगत कल्याण को भी सिद्ध करता है।

3. न्यायदर्शन – 'न्यायसूत्र' को न्यायदर्शन का मूल ग्रंथ माना जाता है। इसके प्रणेता ऋषि गौतम है। 600 ईसा पूर्व न्यायदर्शन की शुरूआत मानी जाती है। गौतम ऋषि के पहले भी तर्कशास्त्र का अस्तित्व था। वेदों में भी वाद–विवाद के रूप में न्यायशास्त्र की झलक दिखाई पड़ती है। वाद–विवाद को सुव्यवस्थित और नियमित रूप से दर्ज करने का श्रेय गौतम ऋषि को जाता है।

आमतौर पर नियम के अनुसार व्यवहार करना न्याय को दर्शाता है। न्यायदर्शन में 'न्याय' का अभिप्राय व्यवहारिकता से है। यहां मुख्यतः शुद्ध विचारों के नियमों को प्राप्त करना अभीष्ट माना जाता है। न्यायदर्शन का अभ्यास करने पर सही तरीके से विचार करने एवं आलोचना करने की शक्ति बढ़ती है।

4. वैशेषिकदर्शन – इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। कणाद को उलूक भी कहा जाता है। इस दर्शन को उनके नाम पर 'कणाददर्शन' व 'औलुक्यदर्शन' भी कहा

टिप्पणी

जाता है। न्याय और वैशेषिक का उद्देश्य 'दुःख की निवृत्ति' है। इस दर्शन का मानना है कि सारे दुःखों का कारण अज्ञानता है। परमाणुवाद भी वैशेषिकदर्शन से जुड़ा हुआ है। न्यायदर्शन और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों में काफी समानतायें हैं और कुछ मतभेद भी हैं। न्याय द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्दाचारों के प्रमाण को माना जाता है, जबकि वैशेषिक में प्रत्यक्ष और परिमाण मात्र की स्वतंत्र मान्यता है। उपमान और शब्द अनुमान के आधार पर स्वीकार कर लिये जाते हैं।

5. मीमांसादर्शन – मीमांसा शब्द का अर्थ है–बातचीत से किसी विषय का हल निकालना। मीमांसादर्शन में विभिन्न विचारणीय विषयों पर समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इस दर्शन में सोचने की क्रिया को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। मीमांसा के समीक्षा का प्रमुख विषय 'श्रुति या वेद' है। मीमांसादर्शन को 'पूर्व मीमांसा' या 'कर्म मीमांसा' भी कहा जाता है। वैदिक कर्मकांडों और उनकी विधि को व्यर्थ दिखाये जाने पर इस दार्शनिक शाखा की उत्पत्ति हुई। असल में वेदों को दो तरह से बाटा गया है– पहला कर्मकांड के आधार पर, दूसरा ज्ञानकांड के आधार पर। पहली श्रेणी में यज्ञ–भाग व अनुष्ठान आते हैं और दूसरी श्रेणी में आत्मा–परमात्मा का ज्ञान।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, मीमांसादर्शन को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया गया है–

1. पूर्वमीमांसा (मीमांसा) – जैमिनी सूत्र।
2. उत्तरमीमांसा (वेदांत) – बादरायण सूत्र।

पूर्वमीमांसा केवल मीमांसा के नाम से प्रसिद्ध है एवं उत्तरमीमांसा को वेदांत के नाम से जाना जाता है। मीमांसादर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनी हैं। मीमांसा कर्ममीमांसा पर प्रकाश डालता है। इसके अनुसार पृथक–पृथक जीवों में अलग–अलग आत्मायें हैं। अतः जितने जीव, उतनी ही आत्मायें भी हैं। यह दर्शन मानता है कि आत्मा अविनाशी है। मृत्यु के बाद, शरीर मर जाता है, परंतु आत्मा नहीं मरती। वह अपने कर्मों का फल भोगने के लिये विद्यमान रहती है और पुनः शरीर धारण करती है।

6. वेदांतदर्शन – इस दर्शन का मूल आधार बादरायण के ब्रह्मसूत्र हैं। यह उन सिद्धांतों की बात करता है जो वेदों के अंतिम अध्यायों में प्रतिपादित हुए हैं। वेदांतदर्शन आज भी पूरे विश्व में विख्यात है। वेदांतदर्शन तीन स्तंभों पर खड़ा है– उपनिषद, ब्रह्मसूत्र व गीता।

वेदांत को प्रसारित करने वाले कुछ संप्रदाय निम्नांकित हैं–

1. अद्वैतवाद – शंकराचार्य
2. भेदाभेद्वाद – भास्कराचार्य
3. विशिष्टाद्वैतवाद – रामानुजाचार्य
4. द्वैतवाद – माधवाचार्य
5. द्वैताद्वैतवाद – निम्बार्काचार्य
6. शैव–विशिष्टाद्वैतवाद – श्रीकंठ
7. वीर–शैव–विशिष्टाद्वैतवाद – श्रीपति
8. शुद्धाद्वैतवाद – बल्लभ

9. अविभागाद्वैतवाद – विज्ञानभिक्षु
10. अनित्य भेदाभेदवाद – बलदेव

5.2.2 नास्तिक दर्शन

टिप्पणी

नास्तिक दर्शन के तीन मुख्य स्वरूप निम्नांकित हैं–

(अ) चार्वाक दर्शन – इस दर्शन के प्रवर्तक ऋषि चार्वाक नामक माने जाते हैं। इसीलिये इसे चार्वाक दर्शन कहा जाता है। इस दर्शन के अनुयायी वेद द्वारा सिखाये गये कर्मकांडों को नहीं मानते। इस दर्शन में भूतात्मावाद एवं भौतिकवाद का प्रचार हुआ। यह दर्शन मानता है कि विश्व ही आत्मा की कर्मभूमि है। यह परलोक को नहीं मानता। यह दर्शन मानता है कि शरीर की मृत्यु के साथ ही आत्मा की भी मृत्यु हो जाती है। यह दर्शन मानव जीवन के लिये सुख की कामना को सर्वाधिक महत्व देता है। मानव जीवन के लिये काम को महत्व दिया गया है। चार्वाक दर्शन ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, जीव, जगत, मोक्ष आदि को भी नहीं मानता। इसका सीधा–सा संदेश है– जब तक जीओ, सुख से जीओ। इसके लिए जो भी करना पड़े, करो। धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य जैसा कुछ भी नहीं है।

"यावत जीवेत् सुखम जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत। भस्मिभूतस्य देहस्थ पुनरामनं कुतः।" अर्थात जब तक जीयो, सुख से जीयो चाहे ऋण (कर्ज) लेकर ही घी पीना पड़े। यह शरीर नष्ट हो जायेगा, फिर क्या मिलेगा।

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही वैदिक दर्शन के पक्ष–विपक्ष दोनों ही पहलू पर संवाद होता रहा है। छठी शताब्दी में भारतीय समाज में वेदों के खिलाफ एक अलग स्वरूप उभरकर सामने आया जिसमें से सबसे विख्यात दर्शन हैं– जैन एवं बौद्ध दर्शन। इनको मानने वाले लोगों की संख्या आज भी देश–विदेश में बहुत है।

(ब) जैनदर्शन – जिस व्यक्ति ने मनोवेगों को सफलतापूर्वक नियंत्रित कर लिया है, उसे 'जिन' कहते हैं। जैन मत के अनुसार उनके 24 तीर्थंकर हैं। 24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी थे। तीर्थंकर को ही 'जिन' नाम से पुकारा जाता था। तीर्थंकरों की उपासना करने वालों को 'जैन' कहा जाता है।

जैन धर्म के प्रमुख दो संप्रदाय हैं– श्वेताम्बर और दिगंबर। ये दोनों ही संप्रदाय महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद बने। इनके विचारों में काफी सैद्धांतिक मतभेद हैं। दिगम्बर पक्ष के अनुयायी वस्त्र धारण नहीं करते। श्वेताम्बर पक्ष के अनुयायी सफेद वस्त्र पहनते हैं। जैन धर्म जातियों के आधार पर भेदभाव नहीं करता। सभी जातियों के लोगों को 'जैन' बनने की अनुमति देता है।

(स) बौद्ध दर्शन – जैन धर्म के ही समय–काल में बौद्ध धर्म की उत्पत्ति भी हुई। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का अहिंसा, विनय, दया और करुणा पर आधारित सिद्धांत लोगों को बहुत आकर्षक प्रतीत हुआ। देश के अतिरिक्त विदेशों में भी बौद्ध धर्म के अनेक अनुयायी हैं।

गौतम बुद्ध ने मध्यममार्गी धारा को प्रवाहित किया। बुद्ध की मृत्यु के बाद, विवादों के कारण बौद्ध धर्म दो अलग–अलग भागों में विभाजित हो गया– हीनयान व महायान। हीनयान थोड़ा संकुचित है परंतु महायान व्यापक है। आगे चलकर हीनयान की भी शाखायें बनीं। यह वैभाषिक व सौत्रान्तिक में विभाजित हुआ। महायान आगे चलकर वैभाषिक और शून्यवाद में विभाजित हुआ।

टिप्पणी

निर्वाण प्राप्ति के लिये बुद्ध का बताया मार्ग 'अष्टांगमार्ग' कहलाता है। अष्टांगमार्ग में आठ प्रकार के मार्ग हैं– 1. सम्यक दृष्टि, 2. सम्यक संकल्प, 3. सम्यक वाक, 4. सम्यक कर्मात, 5. सम्यक आजीविका, 6. सम्यक यत्न, 7. सम्यक स्मृति, 8. सम्यक समाधि।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'Philosophy' का प्रचलन सर्वप्रथम किस देश में हुआ?
   (क) भारत (ख) ग्रीस
   (ग) अमेरिका (घ) पाकिस्तान
2. दैहिक कौशल एवं स्वास्थ्य को अधिक महत्व देने वाला भारतीय दर्शन है–
   (क) सांख्य दर्शन (ख) वेदान्तदर्शन
   (ग) योगदर्शन (घ) जैनदर्शन

5.3 भारतीय संस्कृति में विज्ञान

भारतीय वैज्ञानिकता अत्यंत प्राचीन है। विश्व की सर्वप्रथम सभ्यताओं में से एक हड़प्पा सभ्यता या सिंधु घाटी सभ्यता में सुनियोजित नगर प्रणाली, ईंट बनाने की विधि आदि से भारतीय विज्ञान के प्राचीनतम होने का संकेत मिलता है। प्राचीन काल में चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में चरक एवं सुश्रुत का योगदान महत्वपूर्ण है। खगोल विज्ञान व गणित के क्षेत्र में आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त का प्रमुख योगदान है। आज के युग में विज्ञान के विकास ने नई ऊँचाइयों को छुआ है। आज विज्ञान की प्रगति के कारण अकल्पनीय स्तर पर कार्य हो रहा है।

आधुनिक विज्ञान के विकास में भी अनेक भारतीय वैज्ञानिकों ने मुख्य भूमिका निभाई है। इनमें से कुछ प्रमुख नाम हैं– जगदीश चंद्र बसु, प्रफुल्ल चंद्र राय, सी. वी. रमन, सत्येंद्र नाथ बोस, श्रीनिवास रामानुजम, मेघनाथ साहा आदि। सिंधु घाटी सभ्यता में लोग सुनियोजिक तरीके से शहर बसा रहे थे। सिंधु घाटी सभ्यता से मिले अवशेषों से यह पता लगता है कि उसी काल में भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों ने भवन निर्माण, धातु–विज्ञान, वस्त्र निर्माण आदि के क्षेत्र में विकास किया।

भारत में विज्ञान की परंपरा लगभग 200 ई.पू. से प्रारंभ होकर 11वीं सदी तक काफी विकसित हो चुकी थी। इस काल में वराहमिहिर, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, बोधायन, चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, कणाद आदि के रूप में अनेक वैज्ञानिक अपने कार्य दिखा चुके थे।

5.3.1 प्राचीन परिदृश्य

मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, काली बंगा, लोथल, चंहुदड़ों, बनावली, सुरकोटड़ा आदि स्थानों पर मिले नगरीय प्रमाणों से उस काल के लोगों की वैज्ञानिक सोच का पता चलता है। इस सभ्यता के लोगों को नाप–तौल का ज्ञान था। सड़कें, भवन निर्माण, नालियों की व्यवस्था आदि का ज्ञान था। विदेश से व्यापार किये जाने के भी अवशेष प्राप्त हुए हैं। बैलगाड़ी एवं मृदभाड़ों में चक्के के प्रयोग को एक महत्वपूर्ण विज्ञानिक खोज के

रूप में देखा जा सकता है। धातुओं का उपयोग, मुख्यतः कांसे का प्रयोग– एक तरह से वैज्ञानिक विकास का द्योतक है। सोने, चांदी और बहुमूल्य रत्नों से आभूषणों का बनाया जाना भी विज्ञान की प्रगति की ओर इशारा करता है। यह लोग खनन का कार्य भी करते थे। आभूषण बनाने के लिये कठोर रत्नों को काटने, छेद करने और पिघलाने आदि की कला उस काल में मौजूद थी।

टिप्पणी

आचार्य 'लगध' मुनि द्वारा रचित 'ज्योतिष वेदांग' तत्कालीन खगोलीय ज्ञान पर प्रकाश डालता है। वैदिक युग के स्रोतों से गणना करने की योग्यता होने का पता चलता है। प्राचीनकाल में मौर्यकाल से हमें युद्ध के लिये बनाये जाने वाले अस्त्रों–शस्त्रों का पता चलता है। इस काल में भू–सर्वेक्षण की तकनीक काफी विकसित थी। इस युग से हमें विशाल स्तंभों की नक्काशी, निर्माण आदि में अनेक वैज्ञानिक गुणों के मौजूद होने का पता चलता है।

भारत में प्राचीन काल के आर्यभट्ट नामक वैज्ञानिक को खगोल विज्ञान का प्रवर्तक माना जाता है। पृथ्वी के क्षेत्र में कार्य करने वाले दूसरे वैज्ञानिक का नाम ब्रह्मगुप्त है। वेदों में लिखे गये यज्ञों को पूरा करने के लिये वैदिक काल के लोग नक्षत्रों की स्थिति देखा करते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि भारतीयों को खगोल की जानकारी थी। महाभारत में भी खगोल विज्ञान से संबंधित जानकारी प्राप्त होती है। महाभारत में सूर्यग्रहण एवं चंद्रग्रहण की भी चर्चा है।

आर्यभट्ट ने पृथ्वी के आकार, परिधि आदि पर शोध करके कई महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित किया। आर्यभट्ट ने ही सूर्य या चंद्र ग्रहण के सही कारणों का पता लगाया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'आर्यभटीय' तथा 'आर्य सिद्धांत' में स्व–अन्वेषित तथ्यों को अंकित किया है।

आर्यभट्ट के बाद वराहमिहिर नामक वैज्ञानिक ने गुरुत्वाकर्षण के विषय में कुछ तथ्य लिखे। 'पंचसिद्धांतिका' और 'सूर्य सिद्धांत' उनकी खगोल विज्ञान से संबंधित पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त वराहमिहिर ने 'वृहत्संहिता' और 'वृहज्जातक' नाम के ग्रंथ लिखे।

भारतीय खगोलशास्त्री ब्रह्मगुप्त का योगदान भी काफी महत्वपूर्ण है। इनका कार्यकाल सातवीं शताब्दी माना जाता है। ब्रह्मगुप्त जैसे वैज्ञानिक ने पृथ्वी के आकर्षण शक्ति के सिद्धांत की खोज की। ब्रह्मगुप्त के अतिरिक्त भास्कराचार्य ने भी खगोल विज्ञान के विषय में विशिष्ट योगदान दिया।

भारत में गणित भी काफी विकसित था। मध्ययुग के भारतीय गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त (सातवीं शताब्दी), महावीर (नवीं शताब्दी) और भास्कराचार्य (बारहवीं शताब्दी) ने ऐसी खोजें की, जिससे बाद में पाश्चात्य संस्कृति में भी गणित का विकास हुआ।

प्राचीन हड़प्पा संस्कृति के शहरों में गलियों के सुनियोजन को देखकर यह प्रतीत होता है कि निश्चित तौर पर इस संस्कृति के लोग भवन निर्माण, सड़क निर्माण आदि के विषय में प्रयोग की जाने लायक अंकगणित जानते होंगे। हड़प्पन लिपि को न समझ पाने के कारण हम सही तरीके से इसके बारे में कुछ स्थापित नहीं कर पाते। निश्चित तौर पर जब किसी दिन हड़प्पन सभ्यता की लीपि समझ ली जायेगी, हमें विज्ञान एवं गणित के विषय और जानकारी प्राप्त होगी।

टिप्पणी

भारत में चिकित्सा विज्ञान बहुत लंबे समय से विकसित रहा है। चिकित्सा पद्धति पर सर्वप्रथम 'अथर्ववेद' में जानकारी मिलती है। अथर्ववेद में विविध रोगों के उपचार हेतु सूत्र उपलब्ध हैं। इन सूत्रों में बहुत सारे अलग–अलग रोगों के नाम दिये गये हैं एवं उनके उपचार भी।

अथर्ववेद के बाद 600 ई.पू. में चिकित्सा विज्ञान पर 'चरकसंहिता' और 'सुश्रुतसंहिता' जैसे ग्रंथ लिखे गये। भारत में उपजे चिकित्सा शास्त्र को आयुर्वेद के नाम से जाना जाता है। आयुर्वेद पद्धति आज भी भारत एवं विश्व के कई हिस्सों में प्रयोग में लाई जाती है। आयुर्वेद में मुख्य तौर पर जड़ी–बूटियों और प्राकृतिक तौर पर उपलब्ध वस्तुओं से विभिन्न रोगों का इलाज किया जाता है।

'चरकसंहिता' नामक ग्रंथ महर्षि चरक ने लिखा। आयुर्वेद पद्धति का आधार चरकसंहिता को माना जाता है। 'आयुर्वेद' का अर्थ है 'आयु का विज्ञान' अर्थात जीवन शास्त्र। 'चरक संहिता' में उस समय के चिकित्सकों का विवरण भी प्राप्त होता है। दूसरा ऐसा ग्रंथ जो प्राचीन समय में भारतीय समाज में चिकित्सा पर लिखा गया, वह है सुश्रुतसंहिता। इस संहिता में सुश्रुत ने अपने से पहले के चिकित्सकों की जानकारी दी है। सुश्रुत संहिता में इस बात की भी जानकारी दी गई है कि मृत व्यक्ति के शरीर का विच्छेदन (पोस्टमार्टम) करके विद्यार्थी अपने काम में निपुण होते थे। सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा में प्रयोग में आने वाले 101 उपकरणों की सूची प्रदान की है। उन्होंने यह भी कहा है कि आवश्यकता अनुसार भी उपकरण तैयार कर लिये जाते थे। उनके उपकरणों की सूची में ऐसे कई उपकरण थे, जिनका प्रयोग आज भी शल्य चिकित्सा के लिये होता है। इन उपकरणों को गर्म करके किटाणु रहित करने की बात भी कही गई है। सुश्रुत शरीर के कई हिस्सों में पाये जाने वाले पत्थर स्वयं निकालते थे। टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने का जिक्र इस संहिता में होता है। सुश्रुत और चरक की परंपराओं को अनेक सुप्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्रियों ने आगे बढ़ाया।

भारत में पशुओं के इलाज से संबंधित अनेक ग्रंथ हैं। शालिहोत्र नामक पशु चिकित्सक के 'हय आयुर्वेद', 'अश्वलक्षण शास्त्र', 'अश्व प्रशंसा' नामक तीन ग्रंथ पाये जाते हैं। इनमें पशुओं की बिमारियों के बारे में लिखा गया है एवं उनके इलाज की बात की गई है। पालकप्य रचित किताब 'हस्ते आयुर्वेद' में हाथियों के शरीर की रचना, उनके रोगों का विवरण और औषधियों के बारे में लिखा गया है।

भारतीय वैज्ञानिकों ने भौतिक शास्त्र में उपयुक्त कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांतों की चर्चा की है। परमाणुओं से मिलकर पदार्थों के निर्माण को लेकर भी महत्वपूर्ण जानकारी दी गई है।

भारत में प्राचीन काल से मध्य काल के बीच अनेक रसायन विज्ञान की किताबें प्राप्त होती हैं। नागार्जुन ने दसवीं शताब्दी में 'रस रत्नाकर' नामक ग्रंथ लिखा। चांदी, सोना, टिन, तांबा आदि धातुओं पर कार्य करने की क्षमता विज्ञान के विकास की ओर इशारा करती है। धातुओं के अयस्कों को भूगर्भ से निकाल कर उनकी सफाई करने का विवरण उन ग्रंथों से प्राप्त होता है। नागार्जुन पारे से संजीवनी बनाने के लिये पशुओं और वनस्पति का प्रयोग करते थे। वनस्पति से निर्मित तेजाब से धातुओं को गला लेते थे। वृंद एक रसायन शास्त्री हैं जिन्होंने 'सिद्ध योग' नामक किताब लिखी। पारद (पारा), अकार्बनिक लवण और मिश्र धातुओं से कई प्रकार के मसाले आदि बनाये जाते थे।

टिप्पणी

भारतीय समाज में प्राचीन समय से ही रत्न और धातु विज्ञान की जानकारी रही है। दिल्ली के महरौली इलाके में कुतुबमीनार के समीप स्थित लौह स्तम्भ लगभग 1700 वर्षों के बाद भी जंगरहित बना हुआ है। यह भारत के उत्कृष्ट लौहकर्म को दर्शाता है। एक ऐसा ही लौह स्तम्भ कर्नाटक की पर्वत श्रृंखलाओं से पाया जाता है। उड़ीसा के कोणार्क सूर्य मंदिर से (तेरहवीं शताब्दी) से लगभग 10.5 मीटर लंबा तथा 90 टन भार वाला लोहे का स्तंभ प्राप्त होता है। अनेक धातुओं के अयस्क और उन्हें प्रयोग के लायक बनाने की प्रक्रिया से भारतीय वैज्ञानिक एवं कारीगर वाक़ीफ थे।

भारत में प्राचीन समय से ही रत्नों की जानकारी काफी उत्कृष्ट कोटि की थी। भारतीयों को वज्र (हीरा), स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतिरस, राज पट्ट, राजमय, सौगंधिक, जंज, शंख, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक धूली, तथक, सीस, पीलू, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजंगमणि, वज्रमणि, पिंड आदि रत्नों की जानकारी होने के साक्ष्य उपलब्ध हैं।

5.3.2 आधुनिक परिदृश्य

आधुनिक वैज्ञानिकी के क्षेत्र में भारत में अनेक विकास कार्य हुए हैं। आधुनिक युग में ऐसे अनेक वैज्ञानिक हुए जो विश्व प्रसिद्ध हैं। आधुनिक भारत के वैज्ञानिकों ने तरह–तरह की खोज किया। प्रमुख भारतीय वैज्ञानिकों में जगदीशचंद्र वसु, सी.वी. रमण, होमी जहांगीर भाभा, शांतिस्वरूप भटनागर, एम.एन. साहा, पी.सी. राय, हरगोबिंद खुराना आदि का नाम उल्लेखनीय है। जगदीशचंद्र बसु ने उचित साधनों और उपकरणों के अभाव में भी अपना कार्य किया। उन्होंने लघु रेडियो तरंगों का निर्माण किया। विद्युत चुंबकीय तरंगों का प्रयोग उन्होंने मारकोनी से पहले कर लिया था। पौधों में जीवन के लक्षणों की खोज उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सी.वी. रमण एक प्रतिभावान वैज्ञानिक थे। उन्होंने प्रकाश–किरणों की गुणधर्मिता तथा आकाश व समुद्र के रंगों की व्याख्या की। एस. रमानुजम असाधारण प्रतिभावान गणितज्ञ थे। गणितीय सिद्धांतों के क्षेत्र में उनके अनुसंधान के कारण उन्हें विश्व भर में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इस श्रृंखला में प्रसिद्ध वनस्पति एवं भूगर्भ शास्त्री बीरबल साहनी भी शामिल थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में अनेक विकास कार्य हुए। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काफी कार्य करवाये। बहते हुये पानी को रोककर बांध बनवाये गये ताकि बिजली का उद्पादन हो सके। बांधों का बहुकार्यों के लिये प्रयोग होने के कारण इनको 'बहुद्देशीय परियोजना' का नाम दिया गया।

भारत में अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भी बीसवीं एवं इक्कीसवीं सदी में बहुत कार्य हुआ। भारत ने स्वनिर्मित उपग्रह अंतरिक्ष में भेजने से लेकर चांद पर एवं मंगल पर यान भी भेजा है। भारत ने अनेक उपग्रह अंतरिक्ष में भेजे जिससे अनेक कार्य आसान हो गये।

भारत के विज्ञान और प्रौद्योगिकी से संबंधित विश्वविद्यालयों एवं आई.आई.टी. शिक्षा संस्थानों में से कई विश्व में होनहार वैज्ञानिक एवं कार्यकर्ता प्रदान करने के लिये प्रसिद्ध हैं। भारतीय संपूर्ण विश्व के अलग–अलग हिस्सों में कम्प्यूटर विज्ञान एवं प्रद्योगिकी के क्षेत्र में कार्य करते हैं।

टिप्पणी

भारत में खाद्य संकट से लड़ने हेतु समकालीन प्रधानमंत्री द्वारा शुरू की गई 'हरित क्रांति', खाद्य उत्पाद में वृद्धि के अपने उदाहरण के लिये विश्वभर में जानी जाती है। एम.एस. स्वामीनाथन ने भारत में हरित क्रांति को सफल बनाया। इसके अतिरिक्त परमाणु विज्ञान के क्षेत्र में भी भारत ने बहुत सारे प्रयोग किये हैं।

भारत अंतरिक्ष विज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान और अनुसंधान की दिशा में तेज़ी से आगे बढ़ रहा है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. किस प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक को खगोलविज्ञान का प्रवर्तक माना जाता है?

(क) आर्यभट्ट (ख) लगध मुनि

(ग) ब्रह्मागुप्त (घ) वराहमिहिर

4. भारतीय वैज्ञानिक का नाम नहीं है–

(क) सी.वी. रमण (ख) पी.सी. राय

(ग) मारकोनी (घ) एम.एन. साहा

5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (ग)

5.5 सारांश

भारत में प्राचीन समय से ही जीवन के महत्व व मूल्य पर ऋषियों ने टिप्पणियां की हैं। 'वेदों' एवं 'वेदांतों' से हमें इन प्राचीन दार्शनिक विषयों की जानकारी मिलती है। प्राचीन भारत में विकसित दर्शन भारत एवं विश्वभर में आज भी प्रसिद्ध है।

भारतीय प्राचीन दर्शन को वेदोक्त ईश्वरीय सत्ता मानने व न मानने के आधार पर दो मुख्य धाराओं में विभाजित किया गया है– आस्तिक व नास्तिक।

भारतीय समाज में इतिहास के प्रारंभ से ही विज्ञान की प्रगति के अनेक सबूत मिलते हैं। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में भारतीय प्राचीन समय से ही कार्य करते आये हैं।

भारत में धातु–विज्ञान व रत्न विज्ञान के क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है। धातुकला एवं रत्न के आभूषणों के आधार पर ऐसे तथ्य देखे जा सकते हैं। प्राचीन भारतीय समाज से लेकर मध्यकालीन भारतीय समाज में खगोल, भूगोल, चिकित्सा, पशु–चिकित्सा आदि क्षेत्रों में प्रगति देखी जा सकती है।

आधुनिक काल में विज्ञान के विकास में बहुत लंबी छलांग लगाई है। प्राचीन एवं मध्यकालीन विज्ञान एवं कला के अतिरिक्त अब समाज के विकास में विज्ञान एवं प्रद्योगिकी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी है।

5.6 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **दर्शन** : जीवन के प्रति दृष्टिकोण
- **आस्तिक** : ईश्वर पर विश्वास करने वाले
- **नास्तिक** : ईश्वर पर विश्वास न करने वाले
- **बहुद्देशीय परियोजना** : ऐसी परियोजना जिससे एक नहीं बल्कि बहुत सारे लाभ उठाये जा सकें
- **हरित क्रांति** : अनाजों के उत्पादन का बढ़ना एवं इस क्षेत्र में सभी की जरूरतें पूरी होना

5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय दर्शन का मूलस्रोत क्या है?
2. भारतीय दर्शन की शाखाओं का नामोल्लेख कीजिए।
3. चार्वाक कौन थे?
4. जैन दर्शन का समय–काल क्या है?
5. चरक संहिता क्या है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत के आस्तिक दर्शन का विश्लेषण कीजिए।
2. नास्तिक दर्शन से क्या तात्पर्य है? परिचयात्मक विवरण दीजिए।
3. प्राचीन भारत में विज्ञान का स्वरूप क्या था? स्पष्ट कीजिए।
4. आधुनिक भारत के वैज्ञानिक विकास का रेखांकन कीजिए।

5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
2. भारतीय दर्शन– डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि.।
3. भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इतिहास (प्राचीन काल से 18वीं शताब्दी तक), Indu Books Services Pvt. Ltd.
4. भारतीय विज्ञान का इतिहास, लाल मणि ओझा, नोशन प्रेस, 1st Edition April 2021.
5. चौधरी, राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, 2003.
6. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद, 2005.

टिप्पणी

7. मुखर्जी, राधाकमल, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन : एनशिएंट एंड क्लासिकल ट्रेडिशंस, 2006.
8. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2002.
9. झा, डी.एन., प्राचीन भारत की रूपरेखा, पीपुल्स पब्लिशर्स हाउस, नई दिल्ली, 2005.
10. शर्मा, रीता, प्राचीन भारत का इतिहास, वोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1991.
11. त्रिपाठी रामशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1998.
12. पांडेय, विमल चंद, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, (वॉल्यूम–II), सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।